

ग्रन्थकार

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम०ए०

जीवात्मा

लेखक

श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०

मंगलाप्रसाद-पारितोषिक प्राप्तकर्ता

[प्रणेता—आस्तिकवाद, अद्वैतवाद, विधवा-विवाह-मीमांसा, धम्मपद, हिन्दी शेक्सपियर (छः भाग), शंकर रामानुज और दयानंद, अंग्रेज़ जाति का इतिहास और सम्पादक वेदोदय तथा चमचम]

प्रकाशक

कला प्रेस, प्रयाग

प्रथमवार] १९३३ [मूल्य ३)

प्रकाशक—कला प्रेस,
प्रयाग।

मुद्रक—जीवनलाल,
कला प्रेस, प्रयाग।

विषय-सूची

छब्बीसवाँ अध्याय—

विषय			पृष्ठ

जीवात्मा

पहला अध्याय

मैं

"मैं" एक विश्वव्यापी शब्द है। बच्चे से लेकर बुड्ढे तक और मूर्ख से लेकर बुद्धिमान् तक सभी इसका प्रयोग करते हैं। "मैं खाता हूँ," "मैं सोता हूँ," "मैं दुःखी हूँ," "मैं जीवित हूँ।" यह शब्द इतनी अधिकता से प्रयुक्त होता है कि साधारण पुरुषों को तो यह भी विचार नहीं होता कि इसमें किसी प्रकार की विशेषता है। परन्तु सृष्टि की आदि से लेकर आज तक किसी देश और जाति के दार्शनिक इस उलझन को नहीं सुलझा सके कि "मैं" है क्या वस्तु? इस "मैं" शब्द का वाच्य कौन पदार्थ है? हम किसको "मैं" कहते हैं?

पाठक वर्ग! क्या आपके मन में कभी यह प्रश्न उठा है कि "मैं" किसका नाम है। आप "मैं" का प्रयोग तो एक दिन में शायद सैकड़ों बार करते हैं। जब आप कहते हैं कि "मैं आया" तो क्या आप बता सकते हैं कि यह "मैं" क्या वस्तु है जो आई। आप कहेंगे कि यह कौन कठिन बात है। हम अपने आपके लिये "मैं" लाते हैं। परन्तु इतने मात्र से पीछा नहीं

छूटेगा। ज़रा सा विचार कीजिये। सोचिये कि जिसको आप "अपने आप" कहते हैं वह क्या चीज़ है?

छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है। कहते हैं कि प्राचीन काल में दो पुरुष थे, एक का नाम था विरोचन और दूसरे का इन्द्र। इन दोनों के हृदय में यही प्रश्न उठा और वे शिष्यभाव से प्रेरित होकर बड़े आदर-पूर्वक हाथ में समिधायें लिये हुये आचार्य प्रजापति के पास पहुँचे और प्रश्न किया कि मैं क्या हूँ?

प्रजापति उत्तर देने से पहले उनकी योग्यता की परीक्षा लेना चाहते थे। इसलिये उन्होंने कहा, "थाली में पानी भर लो और अपना मुख उसमें देखो। अपने आपको देख सकोगे। उसमें तुम्हारे मुख तथा अन्यान्य अङ्गों की प्रतिच्छाया दीख पड़ेगी। यही तुम हो।"

यदि किसी बच्चे से यह प्रश्न किया जाय कि तुम कौन हो तो वह अपने शरीर पर हाथ रखकर कह देगा कि मैं यह हूँ। यदि उससे पूछा जाय कि क्या तुम अपने को देखते हो तो वह झट दर्पण लाकर अपने को देखने लगेगा और कहेगा कि मैं ऐसा हूँ। यही हाल विरोचन और इन्द्र का हुआ। उन्होंने अपने अपने चित्र को जल में देखा और समझा कि जो कुछ रूप हमको जल में दिखाई दे रहा है वह ही हम हैं। उन्होंने

उत्तम उत्तम वस्त्र धारण करके अपनी आकृति को जल में देखा और अपने सौन्दर्य को देखकर कहने लगे, "ओ हो! हम कैसे सुन्दर हैं।" जब प्रजापति ने इनकी प्रसन्नता देखी तो वह मन ही मन कुढ़ने लगे। वह कहते होंगे कि यह दोनों कैसे मूर्ख हैं जो वस्त्र और आभूषणों की प्रतिच्छाया को ही अपना स्वरूप समझे बैठे हैं।

विरोचन बड़ी प्रसन्नता से अपने साथियों में गया और कहने लगा, मैं तो "मैं" का पता लगा लाया। तुम सब दर्पण आदि में देखकर अपने स्वरूप की पहचान कर सकते हो। जब उसने समझ लिया कि मेरा स्वरूप वही है जो दर्पण में दृष्टिगोचर होता है तो वह उसी शरीर रूपी स्वरूप को परिष्कृत करने में तल्लीन होगया। क्योंकि उसने समझा कि शरीर का सुन्दर या सुदृढ़ करना ही अपने स्वरूप को "सुदृढ़" करना है।

परन्तु इन्द्र कुछ समझदार था। उसके मन में एक विचार तरङ्ग उठी। वह कहने लगा, "अरे! यदि वस्त्र आभूषण आदि ही मेरा स्वरूप है तो 'मैं' कुछ भी नहीं, क्योंकि कपड़े मैले पड़ते ही, मैं भी मैला पड़ जाऊँगा। आभूषणों के टूटते ही मैं भी टूट जाऊँगा। अतः प्रतीत होता है कि दर्पण में जो दिखाई पड़ता है वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता।" वह कहने लगा।

"नाहमत्र भोग्यं पश्यामि ।"

"मैं तो इसमें कुछ भलाई नहीं देखता"। और इन्द्र की आशंका उचित ही थी क्योंकि जिन वस्त्रों को पहन कर हम अपने को सुन्दर बनाते हैं या जिनको उतार कर हम अपने को कुरूप कहते हैं वे वस्त्र हमारा स्वरूप कैसे हो सकते हैं? इन वस्त्रों का पहनना या उतार डालना तो हमारे ही हाथ में है। प्रश्न तो फिर भी ज्यों का त्यों रह जाता है। अर्थात् वह "मैं" क्या हूँ जो वस्त्र पहन कर अपने को सुन्दर और वस्त्र उतार कर कुरूप कहता हूँ? यह तो स्पष्ट है कि मैं वस्त्र नहीं हूँ। वस्त्रों से इतर कुछ वस्तु हूँ। कुछ भी क्यों न हूँ, वस्त्र नहीं हूँ, वस्त्रों के फटने से मैं कभी कभी दुखी अवश्य होता हूँ। और कहता हूँ कि "हाय मेरा कुरता फट गया" परन्तु मुझे ऐसा भान नहीं होता कि मैं फट गया। कभी कभी मैं प्रसन्नता पूर्वक अपने कुरते को उतार कर फेंक देता हूँ, या दूसरे को दे देता हूँ। उस समय भी मेरे हृदय में यह भाव नहीं उठता कि मैंने अपने को उतार कर फेंक दिया या अपने किसी अंश को दूसरे को दे दिया। मेरा यही भाव होता है कि मैं पहले का जैसा अब भी हूँ। केवल मैंने अपनी एक चीज़ अर्थात् वह चीज़ जिसके साथ किसी प्रकार मेरा सामयिक सम्बन्ध हो गया; दूसरे को दे दी।

क्या यही हाल शरीर का भी नहीं है? हमारे शरीर का कुछ न कुछ अंश नित्य प्रति हमसे अलग हुआ करता है। जब हम स्नान करते हैं तो हमारे शरीर की खाल का ऊपरी भाग सड़ सड़कर अलग हो जाता है। मैल क्या है? त्वचा के ऊपरी सड़े हुये अंश को ही तो मैल कहते हैं। आँख, कान, नाक इत्यादि से नित्य प्रति मल निकला करता है। यह मल उस शरीर का ही तो अंश है जो नित्य प्रति शरीर से अलग हुआ करता है। जब तक वह शरीर से सम्बन्धित है उस समय तक उसका नाम त्वचा, मांस, रुधिर, मज्जा आदि है। ज्योंही उसका सम्बन्ध छूटा उसको मल या मैल कहने लगते हैं। क्या जब हम अपने मैल को अपने शरीर से पृथक् करते हैं तो हमको कभी यह भान होता है कि हम अपने आपको अलग कर रहे हैं? मूर्ख से मूर्ख पुरुष भी यह मानने के लिये उद्यत न होगा कि स्नान करते समय जिस वस्तु को उसने मल मल कर शरीर से अलग कर दिया वह उसी का स्वरूप या उसी का आन्तरिक अंश है। रहे ज्ञानवान् पुरुष, वह तो भलीभांति समझ सकते हैं कि तत्त्वत: यह क्या वस्तु है? जब मैं स्नान करके प्रसन्न चित्त उठता हूँ तो मेरे हृदय में यह भाव कभी नहीं उठता कि "मैं कम हो गया, पहले अधिक था।"

कल्पना कीजिये कि मेरे हाथ की उंगली कट गई। मुझे पीड़ा अवश्य होगी। मैं समझूंगा कि मेरे शरीर में कुछ क्षति हो गई। परन्तु क्या मेरा यह भाव भी होगा कि मैं कट गया? कल्पना कीजिये कि उंगली के कटने पर चिकित्सक ने उपचार करके मेरे घाव को चंगा कर दिया। अब कुछ पीड़ा नहीं है। न मैं कोई ऐसा कार्य्य कर रहा हूँ जिसमें उस उंगली की आवश्यकता पड़े। तो मेरे क्या भाव होंगे? क्या मैं समझूंगा कि "अब अधूरा रह गया, पहले संपूर्ण था"? कदापि नहीं। वस्तुतः यदि मैं अपनी आँखें बन्द करलूँ और थोड़ी देर के लिये ऐसा ध्यानावस्थित हो जाऊँ कि शरीर का कुछ भी ध्यान न रहे तो मुझे यह भी स्मरण नहीं रहेगा कि मेरे हाथ में चार उँगलियाँ हैं अथवा पाँच। इन सब बातों से यह भी स्पष्ट है कि मैं शरीर नहीं हूँ किन्तु शरीर से इतर कोई वस्तु हूँ। शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। इसीलिये इन्द्र ने प्रजापति से कहा था:—

"यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिच्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेव यमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति"

(छान्दोग्य ८।९।२)

हे भगवन्, जिस प्रकार शरीर के अलंकृत होने पर यह आपका बताया हुआ दर्पण की प्रतिच्छाया-रूपी स्वरूप अलंकृत हो जाता है उसी प्रकार शरीर के अन्धा, काना, लंगड़ा, लूला होने पर अन्धा, काना या लंगड़ा लूला भी हो जाता है और शरीर के नाश होने पर इसका भी नाश हो जाता है, इसलिये मैं इसको अपना स्वरूप कैसे मान लूँ? मुझे तो इससे शान्ति नहीं होती।

वस्तुतः यदि शरीर का नाम ही "मैं" हो तो फिर कोई झंझट ही नहीं रहता। हम मरने से क्यों डरें? और जीवन की क्यों इच्छा करें? न हमको जीने से लाभ और न मरने से हानि। और न अपने स्वरूप के खोजने से ही कुछ प्रयोजन है। स्वरूप जान लिया तो क्या और न जान लिया तो क्या? अन्त तो एक ही है अर्थात् सर्वनाश। जो मूर्ख की गति है वही वैज्ञानिक या दार्शनिक की। जो सत्यवादी की गति है वही झूठे की। जो परोपकारी की गति है वही दुष्ट और अत्याचारी की। दोनों को एक न एक दिन "नास्तित्त्व" के गढ़े में विलीन हो जाना है, न पहले कुछ था न आगे कुछ होना है। न हम भूत में थे न भविष्यत् में रहेंगे। रहा वर्त्तमान। यह दो बड़े महागहरे और अन्धकारमय गढ़ों के बीच में एक पतली सी दीवार मात्र है; जिस पर हम बहुत देर तक स्थित नहीं रह सकते।

क्या वस्तुतः हम ऐसे ही हैं ? क्या "मैं" का यही स्वरूप है ?

कुछ लोगों का विचार है कि इतना झगड़ा भी क्यों करना। संसार में जानने के लिये इतनी वस्तुयें पड़ी हैं कि उन्हीं से अवकाश नहीं मिलता। व्यर्थ "मैं" की मीमांसा करने में माथा-पच्ची क्यों करें।

ऐसे लोगों के दो दल हैं। एक तो वह हैं जिनको खाने पीने और खुश रहने से फ़ुर्सत ही नहीं। उनको न तो "मैं" जानने की आवश्यकता है, न अन्य किसी चीज़ के जानने की। यह आनन्दी जीव हैं।

सुबह होती है शाम होती है।
उम्र योंही तमाम होती है॥

इनमें और पशुओं में कोई भेद नहीं। संभव है कि पशुओं के मनमें कोई भाव भविष्य के संबन्ध में उठते भी हों, परन्तु इनके मनमें कोई ऐसी तरंग उत्पन्न नहीं होती जो उनको किसी प्रकार से चिंतित कर सके। उनको न कुछ जानना है और न कुछ करना। ऐसों के विषय में कहा ही क्या जा सकता है ?

परन्तु एक और दल है। वह उन लोगों का है जो बुद्धिमान तथा वैज्ञानिक कहलाते हैं। हम पशुओं से उनकी

तुलना नहीं कर सकते। वह विचारशील और उद्यमशील हैं। वह नित्यप्रति ज्ञानोन्नति के साधन खोजते रहते हैं। दूसरों का उपकार करना भी उनका ध्येय है। परन्तु वह "मैं क्या हूँ ?" की मीमांसा करना व्यर्थ समझते हैं। उनके प्रतिनिधि रूप में हम इङ्गलैंड के प्रसिद्ध लेखक कार्लायल * का कथन उद्धृत कर सकते हैं। उनका आशय है कि सृष्टि के आरम्भ से आज तक मनुष्य व्यर्थ ही "मैं क्या हूँ" की जटिल समस्या के सुलझाने में लगे रहे। उन्होंने अपना जीवन और परिश्रम वृथा ही खो दिया। अब उनको ऐसे निरर्थक और अनुपयोगी श्रम से बच कर यह सोचना चाहिये कि "मुझे क्या करना चाहिये ?" वह कहते हैं कि जब हमें अपना स्वरूप समझ ही नहीं पड़ता तो हम मृग-तृष्णा के जल के पीछे दौड़ें ही क्यों ? अब तो हमको यह विचारना चाहिये कि हमारा कर्त्तव्य क्या है ?

---

*The latest Gospel in this world is, know thy work and do it. Know thyself; long enough has that poor self of thineltormented thee, thou wilt never get to 'know' it. J believe ! Think it not thy business, this of knowing thyself ; thou art an unknowable individual. Know what thou canst work at and work at it like a Hercules. That will be thy better plan. (Thomas Carlyle's Past and Present BK JJJ chapter XJ)

इसमें सन्देह नहीं कि अपना स्वरूप जानने का यत्न करना बड़ा कठिन है ? परन्तु क्या "हमारा कर्त्तव्य क्या है ?" यह कुछ कम कठिन है ? यदि "मैं" के तत्त्व के विषय में दार्शनिकों और वैज्ञानिकों में बहुत मतभेद रहा तो "मेरा कर्त्तव्य क्या है ?" इस विषय में भी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों में कुछ कम मतभेद नहीं रहा। जहाँ 'आत्म-शास्त्र' बड़ा जटिल है वहाँ "कर्त्तव्य-शास्त्र" भी बहुत सी उलझनों से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु के स्वरूप का पता नहीं उसके कर्त्तव्य का क्या पता हो सकता है ? कर्त्तव्य का निश्चय तभी होगा जब स्वरूप का निश्चय हो जायगा। जिन्होंने अपने स्वरूप को बिना पहचाने ही अपने कर्त्तव्य को निर्धारित करना चाहा वे सदा भूलभुलइओं में पड़े रहे। इसलिये "मैं क्या हूँ" प्रश्न बड़ा आवश्यक है। बिना इसकी मीमांसा किये हम कर्त्तव्य-शास्त्र में एक पग भी चल नहीं सकते। उदाहरण के लिये, यदि शरीर ही का नाम मैं है और शरीर के अन्त के साथ ही इस 'मैं' का भी अन्त होना है तो इस 'मैं' का कर्त्तव्य भी उतना ही क्षणिक होगा जितना क्षणिक यह शरीर है, और हम प्रत्येक कार्य के औचित्य अनौचित्य का विचार करने के लिये उन्हीं बातों को अपनी दृष्टि में रक्खेंगे जो हमारे इस जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। इससे आगे जाने की

कोई उपयोगिता नहीं। कल्पना कीजिये कि मुझे किसी स्थान विशेष में दो दिन रहना है। अब ऐसी अवस्था में मुझे उन्हीं कामों के करने की आवश्यकता है जो दो दिन से सम्बन्ध रखते हैं। क्या जरूरत है कि ऐसा मकान बनाया जाय जो बरसों तक रह सके? क्या आवश्यकता है कि उन व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ा जाय जो दो दिन से अधिक भी रहेंगे? उन शक्तियों या प्रगतियों के विचार करने की क्या आवश्यकता है जो दो दिन के बाद प्रभाव डालेंगी। परन्तु यदि "मैं" शरीर से इतर कोई अधिक स्थायी और अधिक विशद् पदार्थ है तो इसका कर्त्तव्य भी उसी प्रकार का मानना पड़ेगा।

जो "मैं" का अर्थ समझने का यत्न नहीं करते उनका उदाहरण उस मनुष्य के समान है जो किसी जंगल में बड़े वेग से दौड़ रहा है। लोग पूँछते हैं, "तुम कौन हो?" वह कहता है, "मैं नहीं जानता।" लोग पूछते हैं "तुम कहाँ से आये हो?" वह कहता है "मैं नहीं जानता।" लोग पूछते हैं "तुम कहाँ को जाओगे?" वह कहता है, "मैं नहीं जानता।" ऐसे पुरुष के विषय में आप क्या कहेंगे? यही न कि वह पागल है? इसलिये जो लोग इस "मैं" तत्त्व के खोजने वालों को बुद्धि-शून्य समझते हैं उनकी बुद्धिमत्ता में यदि सन्देह किया जाय तो किसी प्रकार अनुचित न होगा।

कार्लायल का यह कहना कि संसार के आरम्भ से अब तक लोगों ने "मैं" की खोज में व्यर्थ ही समय खोया ठीक नहीं है। वस्तुत:

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढन गई, रही किनारे बैठ॥

जो गहरा पैठा उसने पता पा लिया। जो किनारे पर बैठ रहा वह कुछ न जान सका। यह बात केवल 'मैं' पर ही लागू नहीं है। जो गहरे नहीं पैठ सकते वह पत्ते तक को नहीं जान सकते। यह भी ठीक नहीं कि "तुम अज्ञेय पदार्थ हो। क्यों अपने को जानने में व्यर्थ श्रम करते हो।" तत्त्व तो सभी चीज़ों का अन्त में किसी न किसी अर्थ में अज्ञेय ही है, परन्तु इस अज्ञेय की मीमांसा भी व्यर्थ और अनुपयोगी नहीं है, कर्त्तव्य की मीमांसा करने के लिये बड़ी आवश्यक है। जिन्होंने इसकी मीमांसा का कष्ट उठाया उनको बड़ा लाभ हुआ। उनकी आन्तरिक शान्ति को वही जानते हैं। दूसरा उस आनन्द को समझ नहीं सकता। मूर्ख लोग यही कहा करते हैं कि "दांत कटाकटं किं कर्त्तव्यम्"। वह उस सूक्ष्म आनन्द को क्या समझें जो किसी गूढ़ समस्या के हल करने वाले को मिलता है। सोचो और समझो कि यह "मैं" क्या वस्तु है

और यदि तुम अन्त में इस जटिल समस्या को हल न कर सके तो भी तुम्हारा यह समय व्यर्थ न जायगा। मीमांसा करने का कष्ट उठाने के पश्चात् तुम वही न रहोगे जो उससे पहले थे। यदि मैं किसी बाग़ की सैर करके उसी जगह लौट आऊँ जहाँ से चला था तो मैं वही नहीं हूँ जो सैर को जाने से पहले था। अब मैं अधिक उन्नतशील हो गया। अब मेरा मस्तिष्क अधिक विकसित हो गया। अब मुझमें ज्ञान की मात्रा अधिक है। यह कुछ कम सन्तोष की बात नहीं है।

दूसरा अध्याय

मेरा शरीर

'मैं' का सबसे पहला और सब से अधिक प्रयोग शरीर के सम्बन्ध में होता है। जिस प्रकार हमको अपने होने में कोई सन्देह नहीं होता उसी प्रकार अपने शरीर के होने में भी कोई सन्देह नहीं होता। 'अहं' और 'मम' अर्थात् 'मैं' और "मेरे" का घनिष्ट सम्बन्ध है। बच्चे को भी यह अनुभव होता है कि "मैं चल रहा हूँ", या "मैं बैठा हूँ", "यह हाथ मेरा है" "यह कान मेरा है", इत्यादि। जब से हम बातचीत करने के योग्य होते हैं तभी से अपनी तोतली भाषा में 'मैं' और "मेरे" का उच्चारण करने लगते हैं और भाषा जानने से पूर्व भी शायद हमारे मन के भीतर 'मैं' और 'मेरे' के अविकसित भाव उठते हों।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'मेरा' और 'शरीर' का क्या सम्बन्ध है? सम्बन्ध है तो अवश्य। यदि सम्बन्ध न होता तो 'मेरा' शब्द ही निरर्थक हो जाता। जिस शब्द का समस्त मनुष्य जाति अनादि काल से अब तक प्रयोग करती

रही है उसके सार्थक होने में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। यह शब्द अवश्य ही किसी नियत और उपस्थित भाव का वाचक होगा। भूल और भ्रम एक व्यक्ति कर सकता है। समस्त मनुष्य जाति को यदि भ्रमात्मक मान लें तो 'भ्रम' और यथार्थ ज्ञान की भेदक भित्ति ही गिर जायगी। हम किसको ज्ञान कहेंगे और किसको अज्ञान ? इसलिये यह निश्चित है कि मेरा और मेरे शरीर का कोई सम्बन्ध है।

जब हम इस सम्बन्ध पर विचार करते हैं तो दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि 'शरीर' मैं नहीं हूँ। मेरी सत्ता और शरीर की सत्ता में भेद है। दूसरा यह कि शरीर में मुझे अपना अनुभव होता है। शरीर कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिससे और मुझसे कोई सम्बन्ध न हो। अपना स्वरूप पहचानने के लिये इन दोनों बातों को अवश्य ही निरन्तर ध्यान में रखना चाहिये। बहुधा लोग इनमें से एक को छोड़ जाते हैं और इसके कारण अनेक एकान्तिक सिद्धान्त प्रचलित हो गये हैं जो अनेक भ्रमों का कारण हुये हैं। अधिक स्पष्ट करने के लिये यों समझिये कि कुछ लोगों का तो ऐसा विचार है कि "मैं" और "शरीर" में कोई भेद है ही नहीं, क्योंकि जब मेरे मन में कुछ विचार उठता है तो वह सदा शरीर के सम्बन्ध में ही होता है। जब मैं सोचता हूँ कि मैं खाता हूँ

तो यह एक शारीरिक क्रिया है। जब मैं सोचता हूँ कि "मैं सोता हूँ" तो यह भी एक शारीरिक क्रिया हुई। इस प्रकार जितने भाव मेरे अन्तःकरण में उठते हैं उनका किसी न किसी अर्थ में शरीर से ही सम्बन्ध होता है। मैं कोई ऐसी बात सोच ही नहीं सकता जो शरीर से अलग हो। इसलिये शरीर से इतर मेरी अपनी सत्ता मानना व्यर्थ ही है।

इससे भिन्न कुछ लोगों का विचार है कि हमने व्यर्थ ही मान लिया है कि हमसे इतर कोई ऐसी सत्ता है जिसको शरीर कहते हैं। जिसको शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि आदि नामों से पुकारा जाता है वह आत्मा के ही अपने भाव हैं। हमने अपने में ही शरीर आदि का अध्यास किया हुआ है। वस्तुतः शरीर तो कोई पदार्थ है ही नहीं। जिस प्रकार मृग-तृष्णिका अर्थात् दूर से रेत को जल समझ लेते हैं वस्तुतः उसमें जल का कोई अंश भी नहीं होता इसी प्रकार चलने फिरने, खाने, पीने आदि के शारीरिक व्यापार कोई अपनी सत्ता नहीं रखते। यह स्वप्न के समान असत्‌रूप हैं।

परन्तु यदि विचार किया जाय तो यह दोनों सिद्धान्त ऐकान्तिक हैं अर्थात् इनमें पूर्ण सचाई नहीं। बात यह है कि हमारी भी सत्ता है और हमारे शरीर की भी और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध होने से यह घटनायें होती हैं।

आप किसी एक साधारण घटना का मानसिक विश्लेषण कीजिये। "मैं खाता हूँ"। कौन खाता है? क्या शरीर खा सकता है? नहीं। यदि शरीर ही खाने वाला होता तो मृत शरीर भी खा सकता। परन्तु ऐसा नहीं होता। फिर क्या शरीर से इतर जो आत्मा है वह खाता है? कदापि नहीं। क्योंकि खाना तो शारीरिक क्रिया है। यदि शरीर से अलग आत्मा कोई अ-जड़ पदार्थ है तो वह जड़ भोजन को कैसे खा सकता है? भूख किसको लगती है? 'भूख' का जो भाव है उस पर विचार कीजिये। बहुत से लोग समझते हैं कि शरीर में भोजन के न रहने का नाम भूख है। परन्तु यह भारी भूल है। शरीर में भोजन के कम हो जाने या न होने का नाम भूख नहीं है। किन्तु इसी भोजन के कम हो जाने या न रहने के "अनुभव" का नाम भूख है। बहुत से लोग हैं जिनको भूख लगती ही नहीं। ऐसों को रोगी कहा जाता है। यदि भोजन का अंश रहे और भूख न लगे तो उसे रोगी नहीं कहते। रोगी वह है जिसके शरीर में भोजन का अंश तो रहा नहीं जिससे उसको शक्ति मिलती किन्तु वह उस अभाव को अनुभव नहीं करता। इस प्रकार "भूख" की अनुभूत में दो भाग हैं। एक तो भोजन का शरीर में न रहना जो शारीरिक क्रिया है दूसरा इसका

अनुभव जो आत्मिक क्रिया है। भूख कल्पना या अध्यास मात्र नहीं है।

इसी प्रकार यदि किसी के पेट में पीड़ा हो रही है तो यह केवल शारीरिक घटना नहीं है। यदि किसी डाक्टर से पूछा जाय कि इसके पेट में क्यों पीड़ा होती है तो वह साधारणतया शारीरिक कारण ही बतायेगा अर्थात् अमुक रस कम हो गया अथवा अमुक पदार्थ आँत के अमुक भाग में अड़ गया। यह ठीक है, परन्तु आधा ठीक है। यह अधूरा उत्तर है। माना कि अमुक वस्तु अँतड़ी में अड़ गई, फिर भी प्रश्न यह है कि पीड़ा क्यों हुई। केवल किसी वस्तु के अड़ जाने का नाम तो पीड़ा है नहीं। पीड़ा तो इससे अधिक एक घटना है। यह सम्भव है कि वही पदार्थ उसी प्रकार से अँतड़ी में अड़ जाय और पीड़ा न हो। इससे क्या सिद्ध हुआ कि पीड़ा शारीरिक घटना के अतिरिक्त आत्मिक घटना भी है। यदि शरीर न होता तो पीड़ा न होती और यदि केवल शरीर होता तो भी पीड़ा न होती और यदि शरीर भी होता और आत्मा भी होता और इन दोनों में कोई सम्बन्ध न होता तो भी पीड़ा न होती।

इससे प्रतीत होता है कि (१) "शरीर" कोई वस्तु है। (२) "हम" कोई वस्तु है। (३) "हमारे" और "शरीर" के

स्वरूप में कोई ऐसी बात अवश्य है जिससे हम दोनों में कुछ सम्बन्ध स्थापित हो सके।

'हम' या 'मैं' के लिये इस पुस्तक में आगे को 'जीव' या 'जीवात्मा' शब्द का प्रयोग किया जायगा क्योंकि यह एक बहु-प्रचलित शब्द है।

तीसरा अध्याय

मतभेद

विचारशील पुरुषों में परोक्ष विषयों में मत-भेद होना एक स्वाभाविक सी बात है। जो चीज़ आँख से देखी और हाथ से छुई जा सकती है उसको सभी मान लेते हैं। मेरे एक नाक है और दो कान हैं। इस विषय में कोई मत-भेद नहीं। कोई नहीं कहेगा कि मेरे दो या अधिक नाकें हैं या दो से कम या अधिक कान हैं। क्योंकि यह प्रत्यक्ष विषय है। प्रत्यक्ष में भी स्थूल और सूक्ष्म में मत-भेद हो सकता है। आँख आँख का भेद है। एक आँख जो देख सकती है दूसरी आँख नहीं देख सकती। जो नंगी आँख नहीं देख सकती वह उपनेत्र या यंत्रों द्वारा दिखाई दे जाती है। जो बच्चे की आँख नहीं देख सकती उसको आपकी आँख देख लेती है। इसलिये तत्त्व के खोजी लोगों में प्रत्यक्ष विषयों में भी मत-भेद हो जाता है। और इसका निश्चित करना कठिन होता है कि कौन चीज़ प्रत्यक्ष का विषय है और कौन चीज़ नहीं। दो डाक्टर एक ही रोगी के रुधिर की परीक्षा करते हैं और भिन्न भिन्न

परिणामों को घोषित करते हैं। एक कहता है कि इसके रुधिर में क्षयी रोग के कीटाणु हैं। दूसरा कहता है, नहीं हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि कीटाणु प्रत्यक्ष का विषय है या नहीं। यंत्र द्वारा दिखाई पड़ने के कारण प्रत्यक्ष का विषय अवश्य है परन्तु यदि प्रत्यक्ष का विषय है तो मतभेद कैसा? "प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्"।

यह तो प्रत्यक्ष विषयों की उलझनें हैं। परन्तु जो वस्तुयें इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं, उनके विषय में क्या कहा जाय? उनमें तो मत-भेद और भी अधिक होगा।

"मैं" प्रत्यक्ष विषय है या परोक्ष? यह एक जटिल प्रश्न है। कैसे तमाशे की बात है कि मैं संसार की अनेकानेक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करूँ और अपना प्रत्यक्ष न कर सकूँ। आँख जगत् को देखती है परन्तु स्वयं अपने को नहीं देख सकती। जब मैं आँख को देखता ही नहीं तो उसके अस्तित्त्व पर विश्वास ही क्यों करूँ? क्यों मानूँ कि मेरे आँख है? इसी प्रकार यदि "मैं" का प्रत्यक्ष होता ही नहीं तो "मैं" का अस्तित्त्व ही क्यों माना जाय? परन्तु क्या कोई ऐसा है जो मैं के अस्तित्त्व से इन्कार करे। प्रत्यक्ष न होते हुये भी अपने को तो सभी मानते हैं। उन्मत्तों की बात जाने दीजिये। वह तो उन्मत्त ही ठहरे। उनके मानने न मानने पर अपने

विश्वासों को क्यों आधारित करें? परन्तु जिनका मस्तिष्क ठीक है वे चाहे मूर्ख हों चाहे दार्शनिक, अपने "मैं" को अवश्य ही मानते हैं। यही नहीं, संसार की प्रत्येक वस्तु अपने भाव को पुकार पुकार कर घोषित कर रही है। इस सम्बन्ध में न्याय दर्शन के दो सूत्र अनुपयुक्त न होंगे।

शून्यवाद का पक्ष लेते हुये न्यायदर्शन में प्रश्न उठाया है कि—

"सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥"

(न्याय दर्शन ४।१।३७)

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तुओं का अभाव है। इसलिये सब अभाव ही है। घोड़े में गाय-पन का अभाव है और गाय में घोड़े-पन का। इसलिये हर जगह अभाव ही अभाव दिखाई देता है। सब अभाव ही है।

इसका उत्तर गोतम जी देते हैं :—

"न, स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥"

(न्याय दर्शन ४।१।३८)

अर्थात् भाव तो स्वभाव अर्थात् अपने भाव से ही सिद्ध है। उससे "सब का अभाव" सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक

वस्तु अपने निज के भाव से स्थित है। घोड़े का घोड़ापन गाय के गाय-पन के ऊपर स्थित नहीं किन्तु स्वयं घोड़े-पन पर स्थित है। इसी प्रकार यदि मेरी क़लम या मेरी मेज़ या मेरी चारपाई बोल सकती तो वह यही कहती कि चाहे अन्य कोई वस्तु हो या न हो परन्तु मैं अवश्य हूँ। अन्य वस्तुओं के भाव में सन्देह हो सकता है परन्तु अपने भाव में नहीं। जो बोल या विचार सकते हैं वे तो अपने अस्तित्त्व से इन्कार कर ही नहीं सकते। कौन कह सकता है कि "मैं नहीं हूँ" ? और यदि कोई कहे भी तो लोग उसको उन्मत्त के सिवाय क्या कहेंगे ? कल्पना कीजिये कि एक पुरुष मेरे द्वार पर आकर पुकारता है। मेरा नौकर कहता है कि वह घर पर नहीं हैं। तो शायद वह उसका विश्वास करके चला जायगा। परन्तु यदि मैं घर के भीतर से कहने लगूँ कि "मैं नहीं हूँ" तो मेरा कौन विश्वास करेगा ? वह कहेगा न कि जब तुम हो ही नहीं तो बोलते कैसे हो ? यह एक साधारण सी हँसी की बात प्रतीत होती है। परन्तु इसके भीतर एक गहरी सच्चाई है जिसकी ओर गोतम मुनि ने संकेत किया है। प्रत्येक भाव स्वभाव से सिद्ध हैं। मैं स्वभाव से सिद्ध हूँ। मैं इन्कार नहीं कर सकता कि मैं हूँ। मैं कैसे कह सकता हूँ कि मैं नहीं हूँ ? यदि कहूँ भी तो इस बात का न मुझको स्वयं

विश्वास होता है न अन्य किसी को। सब की ऐसी प्रवृत्ति क्यों है? इसलिये कि सच बात यही है कि "मैं हूँ"।

अच्छा फिर "मैं" क्या हूँ? हाँ इस बात में मत-भेद है। परोक्ष विषय होते हुये भी "मैं" अपने अस्तित्त्व को उसी प्रकार मानता हूँ जैसे "आँख" अपने को न देखती हुई भी अपने अस्तित्त्व को रखती है। परन्तु जब मैं अपने स्वरूप को जानना चाहता हूँ और उसका विश्लेषण करता हूँ तो यह बात उतनी ही स्पष्ट नहीं होती जितनी अपने अस्तित्त्व की।

आँख स्वयं अपने को नहीं देख सकती। उसके लिये दर्पण चाहिये। यह दर्पण एक बाहरी चीज़ है। इसलिये जैसा दर्पण होगा वैसा ही आँख का स्वरूप दिखाई देगा। किसी दर्पण में आँख छोटी दिखाई देगी किसी में बड़ी। किसी में धुंधला दिखाई देगा, किसी में साफ़। किसी में बारीक नसें छिप जायेंगी और किसी में स्पष्ट दिखाई पड़ेंगी। इसलिये जब आँख अपने स्वरूप के देखने के लिये दर्पण को साधन बनायेगी तो उसको स्वरूप भी भिन्न भिन्न ही दिखाई पड़ेंगे और संभव है कि दो देखने वाले किसी विशेष बात पर एक मत न हो सकें। फिर भी एक बात याद रखनी चाहिये, हम दर्पण में जिस आंख को देखेंगे वह बाहरी आँख होगी। असली आँख जो इस दिखाई देने वाले गोलक के भीतर है किसी दर्पण में दिखाई नहीं

दे सकती। उसका तो केवल अनुभव होता है। वह आँख का विषय नहीं इसलिये परोक्ष है।

इसी प्रकार यद्यपि "मैं" की सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं, तथापि "मैं" के स्वरूप में अनेक मतभेद हैं। दार्शनिक मंडल के शिरोमणि श्रीशंकराचार्य्य जी ने अपने शारीरिक सूत्रों के भाष्य के आरम्भ में इन मतभेदों का इस प्रकार वर्णन किया है। (देखो १ले सूत्र के भाष्य का अन्तिम भाग)।

(१) देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः।

(२) इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे।

(३) मन इत्यन्ये।

(४) विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके।

(५) शून्यमित्यपरे।

(६) अस्ति देहादि व्यतिरिक्तः संसारी कर्त्ताभोक्तेत्यपरे।

(७) भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके।

(८) अस्ति तद् व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्॥

(९) आत्मा स भोक्तुरित्यपरे॥

अर्थात्

(१) प्राकृत जन (जो केवल जगत् को देखकर ही अपने सिद्धान्त बनाते हैं और जो किसी शास्त्र पर श्रद्धा नहीं रखते) तथा लोकायतिक लोग जो केवल चार तत्त्वों को ही मानते हैं, आत्मा को अलग पदार्थ नहीं मानते। उनका विचार है कि इस शरीर में अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु के संयोग से ही चेतनता उत्पन्न हो जाती है और इसी चेतनतायुक्त शरीर में "मैं" का भाव उत्पन्न हो जाता है।

(२) कुछ लोग मानते हैं कि चेतन इन्द्रियों का ही नाम आत्मा है। इन्द्रियों से अलग आत्मा कोई नहीं है।

(३) कुछ लोग मन अर्थात् सोचने की इन्द्रिय को ही आत्मा मानते हैं।

(४) कुछ लोग क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। आत्मा कोई स्थायी वस्तु नहीं है। यह बौद्धों का योगाचार नामी सम्प्रदाय है।

(५) कुछ लोगों का मत है कि आत्मा शून्य है क्योंकि सुषुप्ति में किसी बात का भान नहीं होता। जागने पर "मैं" का भाव फिर उठ आता है। यह बौद्धों का माध्यमिक नामी सम्प्रदाय है।

(६) कुछ का मत है कि आत्मा शरीर से भिन्न एक पदार्थ है जो संसारी तथा कर्त्ता और भोक्ता है।

(७) कुछ लोग ऊपर के मत से कुछ भिन्न हैं। वे इसको भोक्ता तो मानते हैं परन्तु कर्त्ता नहीं मानते।

(८) कुछ लोगों का मत है कि एक "मैं" हूँ और मुझसे अलग एक और शक्ति है जिसको ईश्वर कहते हैं। यह सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् है।

(९) कुछ कहते हैं कि वह भोक्ता का भी आत्मा है।

(१०) इनमें रत्नप्रभा व्याख्या के कर्त्ता श्रीगोविन्द के शब्दों में दसवाँ शंकराचार्य का मत भी मिला देना चाहिये :—

जीवो ब्रह्मैव, आत्मत्वात्, ब्रह्मवत् इत्यादि युक्तेः ॥

अर्थात् जीव ब्रह्म ही है क्योंकि व्यापक है ब्रह्म के समान।

श्री शंकराचार्य्य जी ने जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों का इतनी उत्तमता से वर्गीकरण किया है कि छोटी छोटी बातों को छोड़ कर मौलिक सिद्धान्तों के, किसी देश या युग में, इतने ही वर्ग हो सकते हैं। आजकल के पश्चिमी दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न रूपों अथवा भिन्न भिन्न शब्दों में इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। शंकर का वर्गीकरण न केवल उनके ही समय से सम्बन्ध रखता है किन्तु किसी युग में जीव के विषय में यदि

कोई सिद्धान्त हो सकते हैं तो उनकी इतनी ही कोटियाँ बन सकती हैं ? स्थूल दृष्टि से इतने प्रश्न उठते हैं :—

(१) जिसको हम शरीर कहते हैं अर्थात् यह हड्डी, रुधिर और मांस का पिंड जिसमें आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ और मन आदि शामिल हैं, क्या इसी का नाम जीव है या इससे भिन्न स्वत: सिद्ध कोई और पदार्थ है जिसको जीव कहते हैं और जो इस शरीर को चलाता है ?

(२) यदि जीव शरीर से भिन्न एक अलग सत्ता है तो क्या उसका आरम्भ भी शरीर के आरम्भ के ही साथ होता है ? या शरीर के आरम्भ से पहले भी यह कोई अलग सत्ता थी जो शरीर के बनने पर शरीर में आ गई ?

(३) यदि शरीर के पहले भी यह सत्ता विद्यमान थी तो इसका क्या स्वरूप था ? क्या यह शरीर से अलग रह सकती है ? यदि नहीं रह सकती तो शरीर से अलग और उसके आरम्भ से पहले भी उसकी विद्यमानता क्यों मानी जाय ?

(४) यदि रह सकती है तो इसको शरीर में आने की क्यों आवश्यकता पड़ी ? यदि शरीर बनने से पहले वह बिना शरीर के रह सकती थी और उससे अलग थी तो अब भी क्यों नहीं रहती। अब शरीर में आने से क्या लाभ ?

(५) यदि जीव स्वतन्त्र सत्ता है और शरीर अलग, तो जीव और शरीर का क्या सम्बन्ध है ? क्या शरीर जीव से अलग रह सकता है ? क्या शरीर का आधार जीव है या जीव का आधार शरीर ?

(६) यदि जीव शरीर से अलग एक सत्ता है तो क्या शरीर के नष्ट होने पर जीव नष्ट हो जायगा या विद्यमान रहेगा ? यदि रहेगा तो उसकी क्या दशा होगी ? किस किस परिस्थिति में रहेगा और शरीरस्थ अवस्था से उसकी उस अवस्था में क्या भेद होगा ?

इन प्रश्नों के अन्तर्गत सैकड़ों छोटे मोटे प्रश्न हो सकते हैं जो प्रसंग के अनुसार यथासमय वर्णित किये जायंगे।

चौथा अध्याय

आरम्भ विन्दु

जीव के विषय में अनुसन्धान की इच्छा उत्पन्न होने पर एक बड़ा भारी प्रश्न उठ खड़ा होता है जिसका संतोष-जनक उत्तर न मिलने के कारण ही लोग इस महत्त्व-पूर्ण प्रश्न को छोड़ देते हैं। यह प्रश्न तो प्राय: सभी के मन में उठता है कि "मैं क्या हूँ ?" परन्तु जब एक बार जानने की इच्छा उत्पन्न हो गई तो जिस प्रकार भोजन न मिलने पर भूख मारी जाती है इसी प्रकार ज्ञान का साधन उपलब्ध न होने पर जिज्ञासा भी मारी जाती है। जिज्ञासा का भी वनस्पति के समान बीज होता है। जिस प्रकार किसी वृत्त का बीज पहले अंकुर देता है और खाद पाने पर बढ़ता चला जाता है इसी प्रकार जिज्ञासा भी अनुकूल परिस्थिति में बढ़ती और प्रतिकूल परिस्थिति में नष्ट हो जाती है। जिज्ञासा (जानने की इच्छा) बड़ी चीज़ है। इसके रहने से अच्छे अच्छे परिणाम निकल सकते हैं और इसके नष्ट हो जाने से मनुष्य पत्थर के समान हो जाता है। यह जो संसार में करोड़ों मनुष्य जिज्ञासा से

शून्य पाये जाते हैं उसका कारण ही यह है कि उनमें जिज्ञासा का बीज तो था परन्तु वह विना खाद के मुरझा गया और अब उनको किसी बात की खोज करने की कोई भी इच्छा नहीं होती।

अच्छा! जिस प्रश्न का हमने ऊपर उल्लेख किया है वह क्या है? प्रश्न यह है कि आरम्भ कहाँ से किया जाय? आरम्भ ऐसे स्थान से करना चाहिये जो सर्व-तंत्र हो, और जिसके मानने में किसी को इन्कार न हो।

प्राय: प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से आरम्भ किया करते हैं। परन्तु दार्शनिकों में प्रत्यक्ष के विषय में भी मतभेद है। जिसको हम प्रत्यक्ष कहते हैं उसको बहुत से दार्शनिक प्रत्यक्ष ही नहीं कहते। कुछ को तो प्रत्यक्ष आदि के प्रमाण होने से भी इन्कार है। जिन बातों में साधारण लोग एक मत हो जाते हैं दार्शनिकों को उनके मानने में भी आपत्ति होती है। उदाहरण के लिये मेरे सामने मेज़ रक्खी है। मैं उसको देख रहा हूँ, या उस पर बैठ कर लिख रहा हूँ। दार्शनिकों को छोड़ कर संसार के सभी मनुष्य कहेंगे "ठीक है, मेज़ दिखाई देती तो है। मेज़ अवश्य है।" यदि कोई कहे कि मेज़ कहाँ है? या मेज़ नहीं है। तो सब कह उठेंगे, "कैसे कहते हो कि मेज़ नहीं है? है तो! क्या दीखती नहीं?

जिसको आँख से देख रहे हो उससे कैसे इन्कार कर सकते हो ? बड़े हठी हो। क्या आँख में धूल डालना चाहते हो ?"

परन्तु दार्शनिकों की बात निराली है। कुछ लोगों का विचार तो ऐसा है कि दार्शनिक वह है जो साधारण पुरुषों से भिन्न देखता, भिन्न सुनता और भिन्न सोचता हो। वह केवल इसलिये मेज़ को मानने के लिये तैय्यार नहीं कि आंख से दिखाई देती है। जिस चीज़ को आँख देखे उसे मैं कैसे मान लूँ ? मैं आँख तो हूँ नहीं। क्या देवदत्त द्वारा देखी हुई चीज़ को यज्ञदत्त को मान लेना चाहिये ? यह भी मज़े की बात है कि देखे कोई और, और माने कोई और। देखा आँख ने, और मानूँ मैं। जो मानने वाला है वह देखता नहीं और जो देखता है वह मानने वाला नहीं। यदि आँख देखती है तो आँख ही माना भी करे। मैं तो तभी मानूँगा जब मैं स्वयं देख लूँगा। इसलिये केवल आँख की साक्षी के भरोसे पर मैं मेज़ को मानने के लिये तैय्यार नहीं।

इस प्रकार दार्शनिकों के दो भारी दल हैं और उनमें मौलिक मतभेद हैं। एक वह है जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से आरम्भ करते हैं। दूसरे वे हैं जिनका कहना है कि हम स्वयं अपने आत्मा से आरम्भ करते हैं। अनुभव हमारा आरम्भ विन्दु (Starting point) है। हम किसी इन्द्रिय

आदि पर विश्वास नहीं रखते। कम से कम, हम उनके पीछे नहीं दौड़ते।

पहली कोटि के वह लोग हैं जो आज संसार के सभ्य देशों की प्रयोग-शालाओं में बैठे हुये प्राकृतिक नियमों का अन्वेषण और प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक घटनाओं का विश्लेषण करने में दत्तचित्त हैं। यह वह हैं जिन्होंने प्रकृति देवी के चरणों को चूम कर और उसकी निरन्तर आराधना करके अपनी वैज्ञानिक दक्षता से संसार में एक नई मानवी सृष्टि रच दी। पौराणिक गाथा है कि विश्वामित्र ने देवताओं के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर एक नई सृष्टि का निर्माण कर दिया था। इस गाथा में कितनी सच्चाई है यह कहना तो कठिन है, परन्तु यदि आजकल के वैज्ञानिकों के समान विश्वामित्र भी कोई बड़ा वैज्ञानिक रहा होगा तो उसने अवश्य ही प्राकृतिक नियमों के अध्ययन की सहायता से नई सृष्टि रच दी होगी। विज्ञान की आधार शिला प्रत्यक्ष आदि प्रमाण ही तो हैं। यदि आंख, कान, नाक आदि पर विश्वास न किया जाय तो हम ज्ञान-मार्ग में एक पग भी नहीं बढ़ा सकते। यदि शास्त्र पढ़ेंगे तो आँख से, यदि गुरु का उपदेश सुनेंगे तो कान से। यदि उस पर विचार करेंगे तो मन से। किस दार्शनिक दल का कौन बड़ा विद्वान् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को

धता बता कर कुछ भी आगे बढ़ सका यह कहना दुस्तर है। कल्पना कीजिये कि एक पुरुष उपनिषद् में पढ़ता है "नेह नानास्ति किंचन"। (अर्थात् इस संसार में बहुत्व है ही नहीं)। अब हम पूछते हैं कि यदि उसे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं है तो उसने कैसे जाना कि उसके सामने जो पुस्तक रक्खी हुई है वह पुस्तक ही है, भैंस नहीं, या उसमें 'नेह नानास्ति' इत्यादि अत्तर ही लिखे हुये हैं अन्य कुछ नहीं ?

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक डी कार्टे (Descarte) का इस सम्बन्ध का लेख पढ़ने योग्य है :—

"All that I have hitherto received as most true and assured I have learned from the senses, or by means of the senses. But I have sometimes found that these senses were deceivers, and it is the part of prudence never to trust entirely those who have once decevied us. But although the senses may deceive us sometimes in regard to things which are scarcely perceptible and very distant, yet there are many other things of which we cannot entertain a reasonable doubt, although we know them by means of the senses ; for example, that I am here,

seated by the fire, in my dressing gown, holding this paper in my hands, and other things of such a nature. And how can I deny that these hands and this body are mine ? Only by imitating those crazy people, whose brains are so disturbed and confused by the black vapours of the biles that they constantly affirm that they are kings, while in fact they are very poor, that they are clothed in gold and purple, while they are quite naked; or who imagine themselves to be pitchers, or to have glass bodies. But what! These are fools, and I should be no less extravagant if I should follow their example. Nevertheless, I have to consider that I am a man, and that I fall asleep, and in my dreams imagine the same things, or even sometimes things less probable than these crazy people do while they are awake."

"अब तक मैं जिन चीजों को सत्य और विश्वसनीय मानता हूँ उनकी उपलब्धि मुझे इन्द्रियों से या उनके द्वारा हुई है। कभी कभी इन्द्रियों ने मुझे धोखा भी दिया है और जो

हमको एक बार धोखा दे उसका पूर्ण विश्वास करना बुद्धिमत्ता नहीं है। परन्तु यद्यपि उन बातों के विषय में जो इन्द्रिय-गोचर नहीं या दूर हैं इन्द्रियां कभी कभी धोखा दे बैठती हैं तथापि बहुत सी ऐसी बातें हैं जिन पर हमको अविश्वास नहीं करना चाहिये चाहे उनका ज्ञान हमको इन्द्रियों के द्वारा ही हुआ हो। उदाहरण के लिये, मैं यहाँ हूँ, आग के पास बैठा हूँ, अङ्गरखा पहने हूँ, मेरे हाथ में एक कागज़ है इत्यादि इत्यादि। मैं कैसे इन्कार कर सकता हूँ कि यह मेरे हाथ नहीं हैं या यह मेरा शरीर नहीं है? यदि ऐसा करूँ तो उन पागलों के समान होऊँगा जिनके मस्तिष्क बिगड़ गये हैं और जो दरिद्र होते हुये भी अपने को बादशाह बताते और बिल्कुल नंगे होते हुये भी अपने को कलाबत्तू के काम के वस्त्रों से आच्छादित समझते हैं। या जो अपने को घड़ा समझते या अपने शरीर को काँच का बना मानते हैं, यह पागल हैं और यदि मैं भी ऐसा ही विश्वास करूँ तो मैं भी पागल कहलाऊँगा। तथापि मुझको इस बात का विचार करना है कि मैं मनुष्य हूँ और जब मैं सो जाता हूँ और स्वप्न देखता हूँ तो वैसी ही या उनसे भी कम विश्वसनीय चीजें देखता हूँ जो यह उन्मत्त लोग जागृत अवस्था में देखते हैं"।

दूसरा दल जिसका ऊपर वर्णन किया गया स्व-अनुभव-वादी है। वह इन्द्रियों के बताये हुये ज्ञान को ज्ञानही नहीं मानता।

उसका कहना है कि हम उसी बात को मानेंगे जिसका हमको स्वयं अनुभव हो चुका हो। इन्द्रियाँ धोखा दे सकती हैं और यदि एक बार भी धोखा दे दिया तो क्या ठीक है कि नियत समय पर धोखा न देंगी। क्या हम नहीं देखते कि कभी कभी इन धोखे-बाज़ आँखों की बदौलत हम रेत को जल समझकर मृग तृष्णा के पीछे भटकते रहते हैं। क्या कभी कभी हमको रस्सी साँप बन कर डराती नहीं? डिकार्टे भी तो मानता है कि कभी कभी हमको स्वप्न में वह बातें दिखाई देती हैं जो पागलपन के अतिरिक्त कुछ नहीं।

"Nevertheless, we must at least admit that the things which we imagine in sleep are like pictures and paintings, which can only be formed after the likeness of something real and veritable. Accordingly, these things in general - namely, eyes, head, hands, body—are not imaginary, but real and existent."

"परन्तु हमको यह तो मानना ही पड़ता है कि जिन चीज़ों को हम स्वप्न में देखते हैं वह उन चित्रों के समान हैं जो सच्ची चीज़ों के ही बनाये जा सकते हैं। इसलिये आखें, सिर, हाथ, शरीर यह सब कल्पित नहीं किन्तु वास्तविक सत्ता वाले हैं।"

परन्तु एक स्व-अनुभव-वादी कह सकता है कि इसी बात का क्या प्रमाण है कि स्वप्न में देखी हुई चीज़ें असली चीज़ों के चित्रों के समान हैं ? यह भी तो कल्पित बात ही है कि स्वप्न में देखी चीजें असली चीजों के चित्र के समान हैं। इससे उलटा यही क्यों न माना जाय कि जागृत अवस्था में देखी हुई चीजें स्वप्न में देखी हुई चीजों के समान कल्पित और मिथ्या हैं ? कुछ लोग जागृत अवस्था को स्वप्न की तराज़ू में तौलते हैं और कुछ स्वप्न अवस्था को जागृत की तराज़ू से। तराज़ू कौन सी ठीक है ? यही तो जटिल समस्या है जिसे हल करना चाहिये। दो आदमियों की घड़ियाँ भिन्न भिन्न समय बताती हैं। एक कहता है "मेरी घड़ी ठीक है, तुम्हारी ग़लत"। दूसरा कहता है "नहीं नहीं, मेरी ठीक है तुम्हारी ग़लत" दोनों तो ठीक हो नहीं सकतीं। दोनों ग़लत हो सकती हैं। इसलिये एक तीसरा आकर कह सकता है कि "न तुम्हारी घड़ी ठीक, न तुम्हारी, दोनों ग़लत हैं"।

जब प्रत्यक्षादि-प्रमाण-वादी और स्व-अनुभव-वादियों में झगड़ा होता है और जब जागृत-वादी और स्वप्नवादी अपने अपने मत का पोषण और दूसरे का खण्डन करते हैं तो शून्य-वादी या अज्ञेय-वादी धड़ाम से आ कूदते हैं और कहते हैं, "चलो, हटो, क्यों व्यर्थ का आलाप कर रहे हो ? न स्वप्न में

देखी हुई चीजें ही ठीक हैं न जागृत में देखी हुई। न इनका ठीक, न उनका। इसलिये व्यर्थ का टंटा ही क्यों करना। यहाँ कुछ भी नित्य नहीं। रहा अनित्य। सो अनित्य के लिये तो 'होना' शब्द का प्रयोग करना ही भाषा का दुरुपयोग है। इसलिये सब शून्य ही शून्य तो है, और यदि शून्य के अतिरिक्त कुछ है भी तो हम उसको जान नहीं सकते। असम्भव के पीछे दौड़ना बुद्धिमत्ता का काम नहीं।"

अच्छा, यदि हम इन्हीं की बात मानें और इस बात का विचार ही छोड़ दें तो क्या काम चल सकता है? हमारे मन में यह प्रश्न उठते ही क्यों हैं? क्या हम इनको स्वयं उठाते हैं? क्या हमारे बस की बात है कि इन प्रश्नों को उठने न दें? यों तो संसार में लाखों मनुष्य हैं जो खाते, पीते और मौज उड़ाते हैं। उनको यह बातें कष्ट ही नहीं पहुँचातीं। परन्तु उनमें भी इसी प्रकार के कुछ न कुछ प्रश्न तो पाये ही जाते हैं। जंगली से जंगली जातियाँ भी सोचती हैं कि हम क्या हैं? जीवन क्या है? मौत क्या है? मौत के बाद क्या होगा? हम अमुक कर्म करेंगे तो क्या फल होगा इत्यादि?

इसलिये इन प्रश्नों को हल करने का यत्न करना ही चाहिये। बिना प्रयत्न किये काम न चलेगा, और प्रयत्न

करने पर कुछ न कुछ फल निकलेगा ही। यदि कुछ फल न भी निकला तो भी संतोष तो होगा ही।

अच्छा तो बताओ! आँख कान आदि इन्द्रियों का विश्वास करके उन्हीं से आरम्भ करोगे? या स्व-अनुभव से? या शून्य से? या इन तीनों दलों में कुछ समन्वय भी सम्भव है?

हमारा विचार तो यह है कि कहीं से आरम्भ कर दो! पहुँचोगे उसी स्थान पर! वस्तुतः यह दल इतने भिन्न नहीं हैं जितने समझे जाते हैं, प्रत्येक दल में सच्चाई है परन्तु आधी सच्चाई। पूरी सच्चाई तब होगी जब इन सब का समन्वय हो जाय। जो लोग एक पक्ष को लेकर ही चल पड़ते हैं वह किसी संतोष-जनक परिणाम पर नहीं पहुँच सकते।

अच्छा! हम एक प्रश्न करते हैं। जो पुरुष आँख के देखे हुये का विश्वास नहीं करता उससे हम पूछते हैं कि आँख से कौन देखता है? आँख स्वयं तो देखती नहीं। क्या कभी आप और ध्यान में होते हैं तो आँख के सामने रक्खी हुई चीज़ भी बे देखी हुई के समान नहीं हो जाती? आँख से भी तो आप स्वयं ही देखते हैं। इसलिये यह कहना कि आँख कान हमको धोखा देते हैं स्वयं अपने को ही धोखेबाज़ बताना है। आँखें हमारे देखने का साधन

अवश्य हैं परन्तु वह स्वयं देखतीं नहीं। देखते तो हमीं हैं। इसी प्रकार जागृत तथा स्वप्न अवस्थायें भी तो स्वयं हमारे ही अनुभव हैं। जागते भी हमीं हैं और स्वप्न भी हमीं देखते हैं। यह तो हो ही नहीं सकता कि हम स्वप्न देखें और जागे कोई और, या हम जागें और स्वप्न कोई और देखे। जो लोग प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों पर विश्वास रखते हैं वह इनको इसीलिये ठीक मानते हैं कि यह हमारे स्वयं अनुभव हैं। इन्द्रियाँ हमारी हैं। किसी ग़ैर की नहीं। इसलिये इनका विश्वास करना ही पड़ता है। जो पुरुष शून्यवादी या स्वयं-अनुभव-वादी हैं वे इन इन्द्रियों को पूर्णरूप से अलग नहीं कर सकते और न उनको नेत्रहीन, कर्णहीन, नासिका हीन बनना ही पसन्द है। बड़े से बड़ा स्वयं-अनुभव-वादी यदि अंधा हो जाता है तो अपने को सौभाग्य-शील नहीं समझता, और चंगा होने के लिये डाक्टरों का द्वार खटखटाता है। वस्तुतः जब तक हम किसी सत्ता पर विश्वास न करें उस समय तक हम किसी प्रकार का व्यापार कर ही नहीं सकते। और ऐसा कोई पुरुष है ही नहीं जिसको किसी सत्ता पर विश्वास न हो। जो यह कहता है कि कुछ भी नहीं है वह भी "है" शब्द का प्रयोग करता है। यदि कुछ न होता तो "होना" क्रिया का भी अस्तित्व न होता।

अच्छा बताइये कहाँ से आरंभ किया जाय। इस अध्याय के आरंभ में यही प्रश्न उठाया गया था। और इतने वाद-विवाद के पश्चात् प्रश्न ज्यों का त्यों बना हुआ है। क्या कोल्हू के बैल के समान इतनी तेज़ चाल पर भी वहीं के वहीं रहेंगे ?

नहीं। यह बात नहीं। आरंभ-विन्दु तो मिल गया। चाहे उसको प्रत्यक्ष-आदि प्रमाण कहो, चाहो स्वयं-अनुभव ! चाहे आँख, कान, नाक, खाल और जीभ नामी पाँचों इन्द्रियों से आरंभ करो, चाहे अन्तरात्मा के अनुभव से। अनुभव चाहे भीतरी हो चाहे बाहरी, है तो यह हमारा ही अनुभव और अनुसन्धान करने में हम इन में से किसी को भी ध्यान से बहिष्कृत नहीं कर सकते। हमारा मुख्य प्रश्न तो यही है कि वह कौन सी सत्ता है जो बाहरी करणों से अमुक प्रकार का अनुभव करती है और भीतरी करणों से अमुक प्रकार का।

डीकार्टे ने इस अनुसन्धान के लिये कुछ नियम निर्धारित किये थे। वह इतने अच्छे हैं कि उनका यहाँ देना अवश्य लाभ-प्रद होगा। यह हमको अधिकार है कि अपनी बारी में हम उनका अपने ढंग से प्रयोग करें। लकीर का फ़कीर बन-कर डिकार्टे के पग पर पग धरने की आवश्यकता नहीं।

"The first rule was, never to receive anything as a truth which I did not clearly know to be such ; that is, to avoid haste and prejudice, and not to comprehend anything more in my judgments than that which should present itself as clearly and so distinctly to my mind that I should have no occasion to entertain a doubt of it. The second rule was, to divide every difficulty which I should examine into as many parts as possible, or as might be required for solving it. The third rule was, to conduct my thoughts in an orderly manner, beginning with objects the most simple and the easiest to understand, in order to ascend as it were by steps to the knowledge of the most composite, assuming some order to exist even in things which did not appear to be naturally connected. The last rule was, to make enumerations so complete, and reviews so comprehensive, that I should be certain of omitting nothing."

Desarte's 'Discourse upon Method, Pt. II. (Torrey's translation, page 46).

(१) पहला नियम—किसी ऐसी बात को सच न मानूँगा जिसका मुझे स्पष्ट ज्ञान न हो, और जिसके मानने में कुछ भी संदेह हो उसको जल्दी या पक्षपात के कारण कभी अपने मंतव्यों में सम्मिलित न करूँगा।

(२) दूसरा नियम—जिस जटिल प्रश्न की मीमाँसा करनी है उसका यथाशक्ति विश्लेषण करके उसको कई वर्गों में विभाजित करूँगा।

(३) तीसरा नियम—सरलतम बातों से आरंभ करूँगा जिससे जटिल समस्या के हल करने में उत्तरोत्तर उन्नति हो सके।

(४) जिन बातों पर विचार करना है उनकी प्रासंगिक घटनाओं में से किसी को छोड़ूँगा नहीं। ऐसा यत्न करूँगा कि सभी बातों का समावेश हो सके।

मैं समझता हूँ कि डिकार्ट के यह नियम प्रत्येक अनुसन्धान के लिये उपयुक्त हैं। यद्यपि इनमें से किसी का भी ठीक ठीक उपयोग करना सुगम नहीं है तथापि इनकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। संभव है कि आप उसी परिणाम पर न पहुँचें जिन पर डिकार्ट पहुँचा। परन्तु इनसे अच्छे नियम बनाना भी कठिन है।

इसलिये हम भी कुछ कुछ इसी रीति का अनुसरण करना अच्छा समझते हैं।

पांचवां अध्याय

अनुभव

डीकार्टे का आरम्भ विन्दु यह था कि

Cogito (मैं सोचता हूँ)

ergo (इसलिये)

sum (मैं हूँ)

"मैं सोचता हूँ" अर्थात् मेरे मन में विचार उठा करते हैं। यह मेरा पहला अनुभव है। मैं अपनी किसी ऐसी अवस्था का चिन्तन नहीं कर सकता जब मैं कुछ भी सोचता न हूँ। यदि मैं खाना खा रहा हूँ, तो उसका स्वाद ले रहा हूँ। यदि मैं लिख रहा हूँ, तो उस विषय की बात सोच रहा हूँ। यदि दौड़ रहा हूँ, तो उस क्रिया के विषय में सोच रहा हूँ। ऐसा कौन जीव है जो कुछ न कुछ सोचता न हो? यह विचारावलि तो कभी टूटती नहीं। इसका प्रवाह नदी के प्रवाह के समान सदा जारी रहता है। इसलिये सर्व-तंत्र सिद्धान्त यह है कि "मैं सोचता हूँ"।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि सोचना मेरा काम नहीं किन्तु मेरे मन का काम है। इसलिये 'मैं सोचता हूँ' के स्थान में "मेरा मन सोचता है" ऐसा कहना चाहिये। परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है। जो कहता है कि 'मैं नहीं दौड़ा' किन्तु "मेरी टाँगें दौड़ीं" वह वास्तविक अर्थ को समझता नहीं। टाँगें दौड़ने का उपकरण-मात्र हैं। दौड़ने वाला तो कोई और ही है। इसी प्रकार मेरा मन भी सोचने का उपकरण-मात्र है। सोचने वाला तो मैं ही हूँ। टाँगें मेरे बिना दौड़ नहीं सकतीं और मन मेरे बिना सोच नहीं सकता।

डिकार्टे इस आरम्भिक अनुभव से निश्चय करता है कि "मैं हूँ"। यह एक ऐसी युक्ति है जिसको स्वीकार कर लेना ही चाहिये। हक्सले (Huxley) ने अपनी पुस्तक (Lay Sermons) (साधारण व्याख्यान) में इस पर भी आपत्ति की है। वह कहता है कि "मैं सोचता हूँ" इससे केवल एक ही नतीजा निकालना चाहिये अर्थात् "मैं सोचता हूँ"। यह कैसे सिद्ध हो गया कि "मैं हूँ"। परन्तु यह आपत्ति तो व्यर्थ ही है। यदि मैं न होता तो मैं सोच कैसे सकता ? क्या हम कह सकते हैं कि हक्सले की पुस्तकें केवल इतना सिद्ध करती हैं कि वह लेखक मात्र है न कि उसके अस्तित्व को। मेरा सोचने का व्यापार अवश्य ही मेरे अस्तित्व के लिये बहुत अच्छा

हेतु है। इसके अतिरिक्त एक बात और सिद्ध हो गई अर्थात् "मैं एक सोचने वाला व्यक्ति हूँ"।

सोचने का क्या अर्थ है ? इसका विश्लेषण करना चाहिये।

हम आँख, नाक, कान आदि पाँच ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा देखते, सूँघते या सुनते हैं और हाथ-पैर आदि कर्म-इन्द्रियों द्वारा काम करते हैं। यह "जानने" और "करने" का व्यापार मन के द्वारा ही होता है। न तो ज्ञान-इन्द्रियाँ ही मन के विना कुछ जान सकती हैं न कर्म-इन्द्रियाँ ही कुछ कर सकती हैं। इसलिये जानने और करने दोनों व्यापारों को सोचने के अन्तर्गत ही मानना चाहिये। परन्तु बहुत से व्यापार हैं जिनमें इन्द्रियाँ शिथिल रहती हैं और विचारावलि शिथिल नहीं रहती। जैसे आँखें मींच कर बैठ जाइये और कुछ सोचने लगिये। उस समय बाहर की आँखें बन्द रहने पर भी मन के भीतर बहुत से रूप सम्बन्धी विचार उठते रहेंगे। एक चित्रकार पहले आँख से वस्तुओं को देखता है फिर बाहर देखी हुई वस्तुओं के संस्कारों की सहायता से मन में अनेक प्रकार की कल्पनायें करता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी काग़ज़ पर हाथ से कुछ लिख रहा है। जिस समय आँखें और हाथ दोनों बन्द हैं उस समय मन में देखने

और लिखने दोनों के व्यापार हो रहे हैं। स्वप्न में तो यह व्यापार और भी अधिक विस्पष्ट होते हैं। कल्पना की अवस्था में तो यह व्यापार धुँधले से प्रतीत होते हैं परन्तु स्वप्नावस्था में यह धुँधलापन भी नहीं होता। मेरे हाथ निश्चल हैं परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि मैं दोनों हाथों से किसी को मार रहा हूँ। मेरी टांगें चारपाई पर पड़ी हैं परन्तु मैं देखता हूँ कि किसी बन में तेज़ी से दौड़ रहा हूँ। मेरी आँखें बन्द हैं परन्तु रूप दिखाई पड़ता है। कान बन्द हैं परन्तु शब्द सुनाई देते हैं।

यह कल्पना तथा स्वप्न की अवस्थायें सिद्ध करती हैं कि मैं आँख कान आदि इन्द्रियों से अलग एक वस्तु हूँ और सोचना उसी वस्तु का काम है।

यहाँ 'सोचने' के अन्तर्गत दो बातें आ गईं एक जानना और दूसरी करना।

वेदान्त दर्शन में व्यास जी ने दो सूत्र दिये हैं :—

(१) ज्ञोऽत एव (वेदान्त २।३।१८)

(२) कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् (वेदान्त २।३।३३)

पहले सूत्र का अर्थ है कि जीव में ज्ञान है। दूसरे का अर्थ है कि जीव में क्रिया-शीलता या कर्तृत्व है।

प्रश्नोपनिषत् में कहा है :—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्न०—४।९)

अर्थात् यह जीव देखने वाला, छूने वाला, सुनने वाला, विचार करने वाला, जानने वाला, करने वाला, विज्ञान युक्त है।

अब देखना चाहिये कि जीवात्मा जानने और करने वाला ही है कि इसके सिवा कुछ और भी। यहाँ भी अपने अनुभव का ही आश्रय लेंगे।

मैं किसी फूल को देखता हूँ। इसके सौन्दर्य से मेरे मन को बड़ा आनन्द होता है। मैं चाहता हूँ कि मैं इसे बार बार देखा करूँ। फूल के देखने का जो व्यापार है उसका विश्लेषण कीजिये। इसके दो भाग हैं, एक तो मुझको फूल के रूप तथा रङ्ग का ज्ञान हो गया। दूसरे मुझे इस ज्ञान के साथ साथ आनन्द भी हुआ। मैंने किसी भीषण दृश्य को देखा। इस व्यापार में भी दो भाग हैं। प्रथम तो उस दृश्य का ज्ञान होना, दूसरे उसके देखने से दुःख होना। ज्ञान और सुख दुःख दोनों मेरे ही अनुभव हैं। परन्तु यह अलग अलग अनुभव हैं। एक नहीं। जिस वस्तु के जितने ज्ञान को प्राप्त करके मैं एक समय सुखी होता हूँ उसी वस्तु के उतने ही ज्ञान को प्राप्त

करके मैं दूसरे समय में दुःखी होता हूँ। यदि ज्ञान और सुख दुःख एक ही अभेद्य अनुभव होते तो ऐसा न होता। ज्ञानेन्द्रियाँ जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करती हैं उसी ज्ञान के साथ साथ सुख दुःख या उदासीनता का भाव भी सम्मिलित है।

अब किसी क्रिया को देखिये। मैं आज प्रातः काल खुले मैदान में दौड़ने लगा। इससे मुझको विशेष प्रसन्नता हुई। यदि कोई पूछे कि तुम क्यों प्रसन्न हो तो मैं उत्तर दूँगा कि अभी वायु सेवन किया है इससे हृदय प्रफुल्लित हो उठा है। यहाँ दो व्यापार है एक कार्य्य विशेष को करना और दूसरे साथ ही साथ सुख या दुःख का भोगना।

इस प्रकार यद्यपि हमारे पास केवल दो प्रकार की इन्द्रियाँ हैं अर्थात् कर्म-इन्द्रियाँ और ज्ञान-इन्द्रियाँ परन्तु इन दोनों के व्यापारों के साथ सुख दुःख का भाव सम्मिलित है जिसको भोग का नाम दे सकते हैं।

अब हमारा अपने विषय में क्या अनुभव हुआ है? यही कि हम न केवल ज्ञाता और कर्त्ता ही हैं, किन्तु इसके साथ ही साथ भोक्ता भी। ज्ञान, कर्म और भोग यह तीन गुण जीव के हुये।

न्याय दर्शन में गोतम मुनि ने जीवात्मा के छः लिङ्ग बताये हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख ज्ञानान्यात्मनोलिङ्गमिति ।

(न्याय दर्शन १।१।१०)

यह सुख दुःख दोनों भोग के अन्तर्गत आ जाते हैं, प्रयत्न, कर्म के और ज्ञान तो अलग दिया ही हुआ है। रहे इच्छा-द्वेष, इनका सम्बन्ध भी सुख और दुःख से है। क्योंकि जिस वस्तु से सुख होता है उसकी हमको इच्छा होती है और जिससे दुःख होता है उससे द्वेष। इच्छा और द्वेष में ज्ञान, कर्म और भोग तीनों का कुछ कुछ समावेश है। यदि हम अपनी मनोवृत्तियों की परीक्षा करें तो पता चलेगा कि प्रायः कई वृत्तियों में कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व मिले जुले रहते हैं। मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें अलग अलग तीन कोठरियाँ हों, एक ज्ञातृत्व की, एक कर्तृत्व की और एक भोक्तृत्व की। जब हम किसी कार्य्य को करते हैं तो जानना और सुख दुःख अनुभव करना दोनों ही समाविष्ट रहते हैं। यही हाल अन्य वृत्तियों का है।

कणाद मुनि ने आत्मा के लिंगों में कुछ शारीरिक क्रियाओं का और समावेश कर दिया है।

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥

(वैशेषिक दर्शन ३।२।४)

इस सूत्र में आत्मा के इतने चिह्न बताये हैं :—

(१) प्राण अर्थात् सांस को भीतर खींचना।

(२) अपान अर्थात् सांस का बाहर निकालना।

(३) निमेष अर्थात् पलक खोलना।

(४) उन्मेष अर्थात् पलक मींचना।

(५) जीवन अर्थात् शरीर का बढ़ना आदि।

(६) मनोगति अर्थात् मन के व्यापार।

(७) इन्द्रियान्तर विकार अर्थात् एक इन्द्रिय के कारण दूसरी इन्द्रिय में विकार हो जाना जैसे आँख ने नीबू देखा और मुँह में पानी भर आया।

(८) सुख।

(९) दुःख।

(१०) इच्छा।

(११) द्वेष।

(१२) प्रयत्न।

न्याय दर्शन की भाँति वैशेषिक में भी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न पाँच लिंग दिये हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त प्राण, अपान आदि सात और दे दिये हैं।

यहाँ याद रखना चाहिये कि न्याय और वैशेषिक दोनों में आत्मा के लिंग दिये हैं न कि लक्षण। लिंग का अर्थ है

चिह्न। अर्थात् जहाँ आत्मा होगा वहाँ यह चिह्न प्रायः मिलेंगे। जीवित पुरुष की पहचान यह है कि वह सांस लेता हो। प्राण और अपान दोनों सांस लेने के ही व्यापार हैं। आँखों के पलक मारने से भी आत्मा की पहचान होती है। जीवित पुरुष की देह में बढ़ने घटने का विशेष प्रकार का व्यापार होता है जो जड़ पदार्थों तथा मृतक शरीर में पाया नहीं जाता। मनोगति और इन्द्रियान्तर विकार में कुछ कुछ ज्ञान का अंश अवश्य रहता है। यदि हम अपने अनुभव का आश्रय लें तो हमको इन सब बातों का पता लगता है जिनका गोतम ने न्याय में और कणाद ने वैशेषिक में उल्लेख किया है। बात वही है केवल शब्दों का भेद है।

अनुभव का विशेष सम्बन्ध मनोविज्ञान अर्थात् साइकोलोजी (Psychology) से है। इसलिये देखना चाहिये कि आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता इस विषय में क्या कहते हैं।

छठा अध्याय

मनोवैज्ञानिक उपपत्तियां

हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि ज्ञान, क्रिया और भोग यह तीन बातें हम अपने में पाते हैं। इसी बात को आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है। इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध वर्तमान मनोविज्ञानवेत्ता स्टाऊट (G. F. Stout, Professor of Logic and Metaphysics in the University of St. Andrews) लिखते हैं :—

So far as the man is nearly engaged in watching, his relations to the world might appear to be simply *cognitive ;* but closer analysis shows that there are three distinctive ways in which he is related to his objects. In perceiving, believing, or otherwise apprehending that such and such things exist and have certain characteristics, or that such and such things are possible, his attitude is cognitive in the strict

sense of the term. But the cognitive attitude is not present alone. He is pleased or displeased or otherwise affected by what he apprehends. This is the *affective* attitude. He is also active about his objects ; he tries to know more about them, to answer the questions they raise. He wishes them to be altered in some way. This is the active or *conative* attitude.

(Stout's A Manual of Psychology. p. 98) revised edition. 1929.

"जब मनुष्य केवल निरीक्षण में ही संलग्न रहता है तो उसका संसार से केवल ज्ञान का ही सम्बन्ध रहता है। परन्तु अधिक गंभीर विश्लेषण से ज्ञात होता है कि स्पष्टतया भिन्न भिन्न रूप हैं जिनमें वह अपने विषयों से सम्बन्धित है। यह जानने, मानने या अन्यथा समझने में कि अमुक वस्तुयें हैं और उनमें यह यह विशेषतायें हैं, या अमुक अमुक वस्तुयें संभव हैं, उसकी जो वृत्ति काम कर रही है उसको ज्ञान-वृत्ति ही कहना चाहिये। परन्तु उस समय भी केवल ज्ञान-वृत्ति ही काम नहीं करती। जो कुछ वह जानता है उससे प्रसन्न अप्रसन्न या अन्यथा भी होता है। यह भोग वृत्ति है। वह अपने विषयों के साथ

क्रिया-शील भी है। वह इनके विषय में अधिक जानना चाहता है जो प्रश्न उनमें से उठते हैं उनका उत्तर देना चाहता है। वह उनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन करना चाहता है। यह क्रिया-वृत्ति है"

"Cognition, feeling and conation are abstractly and analytically distinct phases in any psychosis; but they are not separable. They do not occur in isolation from each other." (*ibid*, p. 117).

"प्रत्येक मानसिक व्यापार के विश्लेषण में ज्ञान-वृत्ति, भोग-वृत्ति, और क्रिया-वृत्ति तीन स्पष्ट वृत्तियाँ मिलती हैं। परन्तु यह अभिन्न चीजें हैं। वे एक दूसरे से अलग नहीं मिलतीं"।

"Conation and cognition are different aspects of one and the same process." (*ibid*, p. 158).

"क्रिया और ज्ञान एक ही व्यापार के दो भिन्न भिन्न पक्ष हैं।"

यह तो हुआ मन के व्यापार का विश्लेषण। अब देखना चाहिये कि जिसको हम "मैं" कहते हैं वह क्या वस्तु है।

इस विषय में मनोविज्ञान के आधुनिक पंडित अमेरिका के हर्वर्ड विश्व विद्यालय (Harvard University) के प्रोफ़ेसर विलियम जेम्स (William James) का कथन विचारणीय है :—

Whatever I may be thinking of, I am always at the same time more or less aware of *my self*, of my *personal existence*, At the same time it is *I* who am aware ; so that the total self of me, being as it were duplex, party known and partly knower, partly object and partly subject, must have two aspects discriminated in it, of which for shortness we may call one the *Me* and the other, the *I*. I call these discriminated aspects, and not separate things, because the identity of *I with me*, even in the very act of their discrimination, is perhaps the most in-eradicable dictum of common sense. (Psychology p. 176).

"मैं जिस किसी विषय का विचार करूं, साथ ही कुछ न कुछ अपना अर्थात् अपनी व्यक्तिगत सत्ता का भी भान रहता है। साथ ही यह भी भान रहता है कि यह विचार

करने वाला मैं हूँ। इस प्रकार इस 'मैं' के मानो दो भाग हैं एक ज्ञेय और दूसरा ज्ञाता, एक विषय और दूसरा विषयी। इसमें दो पक्ष स्पष्टतया पहचान में आते हैं। एक को हम समासार्थ 'माम्' अर्थात् विषय कह सकते हैं और दूसरे को 'अहं' अर्थात् विषयी। मैंने इनको जान बूझ कर दो पक्ष कहा है। दो अलग अलग चीज़ें नहीं। क्योंकि इस पहचानने का व्यापार करते हुये भी 'अहं' और 'माम्' (ज्ञाता और ज्ञेय) का अनन्यत्व ऐसा स्वयंसिद्ध है कि सामान्य बुद्धिमत्ता इससे इनकार नहीं कर सकती"।

जेम्स का तात्पर्य यह है कि :—

(१) जब हम किसी विषय का विचार करते हैं तो हमें अपनी सत्ता का अवश्य भान रहता है।

यह वही बात है जिसको डिकार्ट ने कहा था अर्थात् "मैं सोचता हूँ" इसलिये सिद्ध है कि "मैं हूं"। जेम्स कुछ और आगे बढ़ गया है। वह कहता है कि अन्य विषय को सोचने के साथ साथ मुझे अपनी सत्ता का भी अनुभव रहा ही करता है। डिकार्ट ने तो 'सोचने' को अपनी 'सत्ता' के सिद्ध करने के लिये हेतु बताया था। जेम्स कहता है कि 'सोचने' के अन्ततर्ग अपनी 'सत्ता' का विचार भी समाविष्ट है।

(२) चूंकि मेरे हर विचार के साथ 'मेरी सत्ता' का भान लगा हुआ है इसलिये मेरी दो स्थितियाँ हो जाती हैं एक तो मैं 'ज्ञेय' हूँ दूसरा 'ज्ञाता'। क्योंकि जिस प्रकार 'मेज़' का विचार करते समय 'मैं' ज्ञाता हूँ और 'मेज़' ज्ञेय है इसी प्रकार स्वयं अपना विचार करते समय मैं दो कोटियों में विभक्त हो जाता हूँ अर्थात् 'मैं' ही ज्ञाता हूँ और 'मैं' ही ज्ञेय। 'ज्ञेय' का नाम है 'विषय' और 'ज्ञाता' का नाम 'विषयी'। ज्ञाता या विषयी को जेम्स 'अहं' (प्रथमा कारक) कहता है। और ज्ञेय या विषय को 'माम्' (द्वितीय कारक)।

(३) जेम्स कहता है कि यह 'अहं' और 'माम्' अर्थात् 'मैं' और 'मुझको' एक ही हैं दो नहीं। मैं जब अपने विषय में विचार करता हूँ तो जानने वाला भी मैं ही हूँ और जो चीज़ जानी जाती है वह भी मैं ही। यह अलग अलग दो नहीं हो जाते।

अब जेम्स ने 'माम्' 'मुझको' (me) का विश्लेषण करके तीन भाग किये :—

(१) आधिभौतिक माम् (The material me) जिसमें शरीर, वस्त्र आदि हैं।

(२) सामाजिक माम् (The social me) जिसमें पुत्र, कलत्र, मित्र आदि हैं।

(३) आध्यात्मिक माम् (The spiritual me) जिसमें मेरी ज्ञान सन्तति का सामूहिक रूप (the entire collection of my states of consciousness), मेरी मन की शक्तियाँ और वृत्तियाँ (my psychic faculties and dispositions.) सम्मिलित हैं ।

आध्यात्मिक माम् (The spiritual me) के विषय में जेम्स लिखता है ।

When we *think of ourselves as thinkers*, all the other ingredients of our me seem relatively external possessions. Even within the spiritual *me* some ingredients seem more external than others. Our capacities for sensation, for example, are less intimate possessions, so to speak, than our emotions and desires, our intellectual processes are less intimate than our volitional decisions. (Psychology p. 181).

"जब हम अपनी सत्ता का "ज्ञाता" के रूप में विचार करते हैं तो अपने 'माम्' के अन्य रूप सापेक्षत: बाह्य प्रतीत होते हैं । (अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि देह, वस्त्र, मित्र, पुत्र आदि सब हम से अलग वस्तुयें हैं) । आध्यात्मिक 'माम्'

में भी कुछ अंश अन्य अंशों की अपेक्षा बाह्य प्रतीत होता है। जैसे बाह्य विषयों को ग्रहण करने की शक्तियाँ अपनी इच्छाओं की अपेक्षा कम निकट प्रतीत होती हैं। और अपनी ज्ञानात्मक शक्तियाँ अपने क्रियात्मक निश्चयों से कम निकट प्रतीत होती हैं"।

The more *active-feeling* states of consciousness are thus the more central portions of the spiritual me. The very core and nucleus of our self, as we know it the very sanctuary of our life, is the sense of activity which certain inner states possess. This sense of activity is often held to be a direct revelation of the living substance of our soul. (Psychology p. 181.)

"इस प्रकार हमारे मन की जो वृत्तियाँ जितनी अधिक क्रियात्मक हैं वह उतनी ही आध्यात्मक "माम्" का अधिक तात्विक अंश है या यों कहना चाहिये कि हमारे जीवन का सार्वभूत वह क्रियात्मक वृत्ति है जो हमारी आन्तरिक अवस्थाओं में पाई जाती है। यही क्रियात्मक वृत्ति हमारे आत्मा के जीवन तत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है"।

The I or 'pure ego' is a very much more difficult subject of enquiry than the me. It is that which at any given moment *is* conscious, whereas the Me is only one of the things which, it is conscious of. In other words, it is the Thinker. (Psychology p. 196.)

" 'अह' या शुद्ध 'मैं' की मीमांसा 'माम्' की मीमांसा से कहीं अधिक कठिन है। यह 'मैं' वह वस्तु है जो ज्ञाता या विषयी है। 'माम्' ('मुझको') केवल भिन्न भिन्न विषयों या ज्ञेयों में से एक है। यों कहना चाहिये कि सोचने वाला यही 'मैं' है "।

तात्पर्य यह है कि जब हम अपने आपको 'ज्ञेय' की कोटि में रखते हैं तब तो उसके विषय में सुगमता से मीमांसा कर सकते हैं परन्तु जब 'ज्ञाता' की कोटि में रखते हैं तो मीमांसा करने में कठिनता होती है क्योंकि ज्योंही मीमांसा करने लगते हैं त्यों ही ज्ञाता के बजाय ज्ञेय की कोटि में आ जाते हैं। ज्ञाता नहीं रहते, ज्ञेय हो जाते हैं। मीमांसा करनी है ज्ञाता की, ज्ञेय की नहीं। और ज्यों ही मीमांसा का विषय हुये त्यों ही ज्ञेय हो गये, ज्ञाता नहीं रहे। यही आपत्ति है और बहुत बड़ी आपत्ति है जिसका हल समझ में

नहीं आता। जब तक हम ज्ञाता हैं हम अपनी मीमांसा नहीं कर सकते। जब मीमांसा करते हैं तो ज्ञेय हो जाते हैं फिर ज्ञाता के विषय में कैसे जानें ?

"And the question immediately comes up, what is the thinker ? Is it the passing state of consciousness itself, or is it something deeper and less mutable ? The passing state we have seen to be the very embodiment of change. Yet each of us spontaneously considers that by 'I', he means something always the same. This has led most philosophers to postulate behind the passing state of consciosness a permanent Substance or Agent whose modification or act it is. This Agent is the thinker ; the 'state' is only its instrument or means. 'Soul', 'transcendental ego,' 'spirit' are so many names for this more permanent sort of thinker."

(Psychology p. 196.)

"इसी के साथ प्रश्न होता है कि यह ज्ञाता क्या है ? यह क्या विचार की बहती हुई धारा है या कोई गहरी और कम बदलने वाली चीज़ है ? पहले बताया जा चुका है कि

बहती हुई धारा तो परिवर्त्तनशील है। परन्तु हम सभी स्वभावतः समझते हैं कि यह 'मैं' तो कोई ऐसी चीज़ है जो सदा एक सी रहती है। इसी से प्रेरित होकर कुछ दार्शनिकों ने यह उपपत्ति निकाली है कि विचार की बहती हुई धारा की तह में एक स्थायी द्रव्य या कर्ता है और यह धारा उसी स्थायी द्रव्य का प्रकार या क्रिया मात्र है। यही कर्त्ता ज्ञाता है। अवस्था या धारा केवल इसका उपकरण या साधन है। 'जीव', 'मैं' 'आत्मा' इसी स्थायी ज्ञाता के भिन्न भिन्न नाम हैं।"

तात्पर्य यह निकला कि एक तो ज्ञान का प्रवाह है जो नदी के प्रवाह के समान निरन्तर बह रहा है। यह एक सा नहीं रहता। प्रत्येक क्षण में पानी के नये विन्दु आते और बह जाते हैं। गंगा बह रही है। जो जल कल बह गया वह आज नहीं है। नया जल आ रहा है। इसी तरह जो विचार एक बार आ गया वह फिर नहीं आता। विचारों की गंगा बह रही है। यह सब परिवर्त्तन शील है, क्षणिक है, हर क्षण बदलती रहती है। परन्तु इसकी तह में एक स्थायी द्रव्य है जिसके ऊपर ऊपर यह प्रवाह जारी रहता है। प्रवाह बदलता है परन्तु नदी वही रहती है। गंगा का जो जल दो मिनिट पहले बह गया वह अब फिर नहीं बहेगा परन्तु जो गंगा

दस हजार वर्ष पहले बहती थी वही आज भी बह रही है। गंगा स्थायी है, गंगा का जल क्षणिक है। इसी प्रकार विचारों का प्रवाह क्षणिक है परन्तु उनकी तह में विचार करने वाला एक स्थायी द्रव्य है जिसको जीवात्मा कहते हैं। मीमांसा विचारों के प्रवाह की हो सकती है विचार करने वाले जीवात्मा की नहीं। मनोविज्ञान शास्त्र का विषय यह विचार-प्रवाह ही है स्थायी द्रव्य नहीं। जेम्स इस विषय में लिखता है:—

If passing thoughts be the directly verifiable existents which no school has hitherto doubted them to be, then they are the only 'knower' of which Psychology, treated as a natural science, need take any account. The only pathway that I can discover for bringing in a more transcendental Thinker would be to deny that we have any such *direct* knowledge of the existence of our "states of consciousness" as common-sense supposes us to possess. The existence of the 'states' in question would then be a mere hypothesis, or one way of asserting that there *must be* a knower correlative to all this

known; but the problem *who that knower is* would have become a metaphysical problem.

(Psychology p. 215.)

"यदि विचार धारायें ऐसी वस्तु हैं जिनका हमको (बिना किसी अन्य माध्यम के सीधा) प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है और वस्तुतः यह है भी सर्वतन्त्र सिद्धान्त, तो यही विचार धारायें वह "ज्ञाता" है जो मनोविज्ञान का विषय है। यदि हम इसके साथ ही अधिक स्थायी ज्ञाता को इस मीमांसा क्षेत्र में लाना चाहें तो इसका अर्थ यह होगा कि हमको इन विचार धाराओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इन धाराओं का अस्तित्व केवल कल्पना मात्र होगा। या यों कहना चाहिये कि ज्ञेय के साथ साथ ज्ञाता का भी अस्तित्व मानना चाहिये। परन्तु यह ज्ञाता कौन है यह अध्यात्म विद्या का विषय है" (मनोविज्ञान का नहीं)।

मनोविज्ञान की पहुँच यहीं तक है। आगे नहीं। इसलिये जेम्स असली ज्ञाता के विषय में कुछ नहीं कहना चाहता। वह इसको अध्यात्म-शास्त्र के लिये छोड़ देता है। वस्तुतः उसे तो विचार-धारा की ही मीमांसा इष्ट है। यह विचार-धारा मनोवैज्ञानिक मीमांसा का विषय होने के कारण 'ज्ञेय' की कोटि में आ जाती है। और क्या जेम्स और क्या

अन्य मनोविज्ञान-वेत्ता, सब अपने अन्वेषण को अपने ही क्षेत्र तक सीमित रखने के लिये इस 'ज्ञेय' से आगे नहीं बढ़ते।

परन्तु यहाँ एक बात याद रखना चाहिये। जितने शास्त्र हैं उन सब के विषय 'ज्ञेय' की कोटि में हैं। जिस प्रकार अङ्कगणित शास्त्र का विषय 'अङ्क' ज्ञेय है, जिस प्रकार भौतिकी का विषय भौतिक पदार्थ ज्ञेय है, जिस प्रकार वैद्यक शास्त्र का विषय शरीर आदि 'ज्ञेय' है उसी प्रकार मनोविज्ञान का विषय मन की वृत्तियाँ या ज्ञान की धारायें भी ज्ञेय हैं। परन्तु अन्य ज्ञेयों और इस ज्ञेय में बड़ा भेद है। आँख जब दूसरे पदार्थों को देखती है तो द्रष्टा और दृश्य में स्पष्ट भेद रहता है। परन्तु जब आँख स्वयं अपने को देखती है तो द्रष्टा और दृश्य दोनों का मेल होता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसका ठीक ठीक निर्वचन शब्दों में रक्खा नहीं जा सकता। इसकी अनुभूति तो सब को होती है। जब हम किसी वस्तु की परीक्षा करना चाहते हैं तो उसको पकड़ कर उसका निरीक्षण आरम्भ कर देते हैं। परन्तु जब हम अपने विचारों या अपने ही ज्ञान की परीक्षा करना चाहते हैं तो उन विचारों को उसी प्रकार पकड़ नहीं सकते जैसे किसी परीक्षणालय में काँच की शीशी में किसी गैस विशेष को। अपने ज्ञान को

पकड़ें कैसे ? उसका परीक्षण कैसे करें ? यहाँ परीक्षक और परीक्षित दोनों का मेल है। क्या हम नहीं चाहते कि जो कुछ हमारे मन में गुज़र रहा है उसकी जाँच पड़ताल करें ? परन्तु जाँच करने का साधन भी तो वही मन है। जहाँ हम सोचने लगते हैं कि हमारे मन में क्या हो रहा है वहीं मन में जो कुछ गुज़र रहा था वह लुप्त प्राय हो जाता है। परीक्ष्य पदार्थ भाग जाता है और परीक्षक अपना सा मुँह लिये रह जाता है। कैसी विचित्र अवस्था है ?

यह विचित्रता मनोविज्ञान शास्त्र की विशेषता है। अन्य शास्त्रों में विषय और विषयी अलग अलग हैं। उनमें व्यतिरेक है। परन्तु मनोविज्ञान में विषय और विषयी दोनों एक हैं। मनोविज्ञान वेत्ता केवल इतना कह कर छुट्टी नहीं पा सकते कि स्थायी विषयी अध्यात्मवाद का विषय है इसलिये हम अपने को केवल ज्ञान-धाराओं तक ही सीमित रक्खेंगे। वस्तुत: उन ज्ञान धाराओं में वह स्थायी तत्त्व भी इसी प्रकार ओत-प्रोत है जैसे माला का धागा माला के दानों में या नदी का तल जल के प्रवाह में। एक दूसरे का समवाय-सम्बन्ध है। यह ज्ञान-धारायें जिन पर मनोवैज्ञानिक पंडित विचार करना चाहते हैं कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं हैं। वे एक मूल तत्व के आधीन हैं। उनकी मीमांसा मूल तत्त्व की मीमांसा के आधीन है। एक

को दूसरे से अलग करने से मीमांसा अधूरी रह जाती है और कभी कभी हमारे निश्चय यथार्थ नहीं होते। मनोविज्ञान और और अध्यात्मवाद का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों का मौलिक अध्ययन साथ साथ करना पड़ेगा।

सातवां अध्याय

अहंकार

हमने पाँचवें अध्याय में यह वर्णन किया था कि हमारा अनुभव हमको तीन बातें बताता है अर्थात् हम एक जानने वाली, क्रिया करने वाली और भोगने वाली सत्ता हैं। पिछले अध्याय में दी हुई मनोविज्ञान की उपपत्तियाँ भी यही प्रकट करती हैं। यद्यपि जेम्स ने क्रियाशील वृत्तियों को मुख्य और अन्य को गौण बताया है तथापि बात यह है कि कर्त्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व तीनों ऐसी चीज़ें हैं जो कभी एक दूसरे से अलग नहीं हो सकतीं। इनमें न कोई गौण है न मुख्य। इन तीनों को मुख्य ही समझना चाहिये। हमारे प्रत्येक ज्ञान में क्रियाशीलता और भोग शामिल है। हमारी प्रत्येक क्रिया में ज्ञान और भोग का समावेश है और प्रत्येक भोग ज्ञान और क्रिया के साथ साथ रहता है। यह सच है कि इनमें से कभी किसी एक का प्राधान्य रहता है अर्थात् इसका अधिक आविर्भाव होता है और अन्य कुछ दबे से रहते हैं। परन्तु इस प्रादुर्भाव और

तिरोभाव के भी कारण हैं जिनकी मीमांसा का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि किसी का किसी समय अभाव नहीं होता।

मनोविज्ञान वेत्ताओं ने विचार के तीन भाग किये हैं। फीलिंग (Feeling) अर्थात् सुख दुःख आदि का भान। ज्ञान (Knowing) अर्थात् किसी चीज़ का जानना और प्रेरणाशक्ति या इच्छाशक्ति जिसको क्रियाशीलता कह सकते हैं अर्थात् विलिंग (Willing)। इन्हीं को प्राचीन संस्कृत साहित्य में मन, बुद्धि और चित्त कहा गया है। मन सुख दुःख का भान करता है। बुद्धि ज्ञान प्राप्त करती है। चित्त प्रेरणा करता है। संस्कृत साहित्य में इन तीनों के अतिरिक्त एक और चौथी चीज़ बताई है जिसको अहंकार (Egoistic tendency) कहते हैं। यह वह वृत्ति है जिससे मुझे अपने अस्तित्व का भान होता है। यह मन, (Feeling) बुद्धि (Knowing) और चित्त (Willing) से अलग वृत्ति है। यह वृत्ति ही सिद्ध करती है कि "मैं" हूँ। "मैं" न तो सुख दुःख हूँ कि मन (Feeling) का विषय होता, न अन्य वस्तुओं की भाँति ज्ञेय पदार्थ हूँ कि बुद्धि का विषय होता। न क्रिया हूँ कि चित्त का विषय होता। "मैं" सर्वथा इन सब से भिन्न हूँ। ऊपर की सब चीज़ें परिवर्तनशील और अस्थायी हैं। "मैं" स्थायी हूँ। और इस

"मैं" की पहचान अन्तःकरण की उस चौथी वृत्ति से होती है जिसको अहंकार कहते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान वेत्ताओं ने माइंड (Mind) या विचार के तीन भाग किये हैं। परन्तु प्राचीन वैदिक साहित्य-कारों ने इसके चार भाग किये हैं जिनका नाम है **अन्तःकरण चतुष्टय** अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मैं समझता हूँ कि अन्तःकरण त्रय की अपेक्षा अन्तःकरण चतुष्टय अधिक उपयुक्त है क्योंकि "अहङ्कार" को हम अन्य तीन की कोटि में रख नहीं सकते।

'अहङ्कार' के न मानने से पाश्चात्य दर्शनकारों को कितनी आपत्ति पड़ी है इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

पहले हम आयर्लैण्ड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक बार्कले (Berkeley) के मास्तिष्किक विश्लेषण का थोड़ा सा उल्लेख करते हैं। वह अपनी "मानवी ज्ञान के नियमों की पुस्तक" (A Treatise on the Principles of Human Knowledge) में लिखता है :—

"It is evident to any one who takes a survey of the objects of human knowledge, that they are either ideas actually imprinted on the

senses, or else such as are perceived by attending to the passions and operations of the mind; or, lastly, ideas formed by help of memory and imagination...........But besides all that endless variety of ideas or objects of knowledge, there is likewise something which knows or perceives them, and exercises divers operations as willing, imagining, remembering, about them. This perceiving, active being is what I call Mind, Spirit, Soul, or Myself."

"जो मानवी ज्ञान के विषयों की जाँच करेगा उसे यह स्पष्ट हो जायगा कि ज्ञान के विषयों की तीन कोटियाँ हैं। एक वह विचार जो ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होते हैं। दूसरे वह विचार जो मानसिक क्रियाओं जैसे इच्छा, आदि द्वारा, तीसरे वह जो स्मृति और कल्पना द्वारा उत्पन्न होते हैं........ परन्तु इन अनेक प्रकार के विचारों या ज्ञान के विषयों के अतिरिक्त एक और चीज़ है जो जानने वाली या विचार करने वाली है। यही इच्छा करती, यही कल्पना करती और यही याद रखती है। इस विचार करने वाली चीज़ को ही मैं अन्तःकरण, आत्मा, जीव या मैं कहता हूँ"।

बार्कले ने ज्ञान के दो भाग किये। एक का नाम उसने विचार (Ideas) रक्खा और दूसरे का अनुभूति (Notion)। वह कहता है कि अन्य वस्तुओं के तो हमारे मस्तिष्क में विचार उठते हैं परन्तु अपने "विचार" नहीं उठते। अपनी "अनुभूति" होती है। मैं जब मेज़ या कुर्सी देखता हूँ तो मेज़ या कुर्सी के रंग, आकृति आदि के विचार मेरे मन में उठते हैं। इन विचारों का नाम ही मेज़ या कुर्सी है। यह विचार मन के आधीन होते हैं। लेकिन इन विचारों के अतिरिक्त वह चीज़ भी है जो 'विचार' की कोटि में नहीं आ सकती किन्तु यह विचारों का आधार है। यह 'आधार' मन का विषय नहीं। किन्तु विषयी है। यदि विषय होता तो 'विचार' की कोटि में आता। और इन्द्रियजन्य संस्कार, कल्पना या स्मृति के समान होता। विषयी होने के कारण यह एक अलग वस्तु है और हमको इसकी अनुभूति होती है।

जिसको बार्कले ने नोशन (Notion) या अनुभूति कहा, उसी को अन्तःकरण चतुष्टय की चौथी वृत्ति अर्थात् अहङ्कार कह सकते हैं। अन्य वस्तुयें मन, बुद्धि और चित्त का विषय हैं। परन्तु अहङ्कार वृत्ति मुझे अपने होने का ज्ञान देती है।

ह्यूम (Hume) ने अपने अस्तित्व के मानने में संदेह किया है। वह बार्कले की ओर संकेत करके कहता है :—

"There are some philosophers who imagine we are every moment intimately conscious of what we call ourself; that we feel its existence and its continuance in existence; and are certain, beyond the evidence of a demonstration; both of its perfect identity and simplicity. ....For my part, when I enter most intimately into what I call *myself*, I always stumble on some particular perception or other, of heat or cold, light or shade, love or hatred, pain or pleasure. I never can catch *myself* at any time without a perception and never can observe anything but the perception."

(Treatise of Human Nature Bk. I, Pt. IV.)

"कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो समझते हैं कि हमको हर क्षण में अपने अस्तित्व की प्रतीति होती है। हम अपनी सत्ता और इसकी निरन्तरता का अनुभव करते हैं। हमको इसके होने में कोई सन्देह नहीं। ....परन्तु जब मैं "अपने" विषय में विचार करता हूँ तो मैं किसी न किसी 'विचार' में अटक जाता हूँ। चाहे यह विचार गर्मी, सर्दी के विषय में हो या प्रकाश या छाया के, या प्रेम और घृणा के, या दुःख

सुख के। मैं कभी अपने को 'पकड़' ही नहीं सकता और सिवाय विचार के मुझे अन्य किसी चीज़ की प्रतीति नहीं होती"।

ह्यूम को अपने अस्तित्व पर विश्वास नहीं है कि क्योंकि वह अपने को पकड़ नहीं सकता। इसका कारण यह है कि वह अन्त:करण की चौथी वृत्ति अर्थात् अहङ्कार पर विचार नहीं करता। वह अपने को मन, बुद्धि, और चित्त का विषय समझता है। मन, बुद्धि, और चित्त के विषय तो विचार ही हैं। जब वह मन से सोचेगा तो सुख दु:ख का अनुभव होगा न कि अपना। बुद्धि से सोचेगा तो कोई विचार उठेगा न कि अपना अनुभव होगा। जो पुरुष नदी की तलाश में जाकर यह कहता है कि मैं नदी को पकड़ हो न सका, जब मैंने देखा तो हाथ में जल के विन्दु पड़ गये, उसके लिये क्या कहा जाय? ह्यूम अपने को उसी प्रकार पकड़ना चाहता है जैसे वह मेज़ या कुर्सी को पकड़ता है। और जब अपने को पकड़ नहीं सकता तो अपने अस्तित्व में सन्देह कर बैठता है। परन्तु क्या वस्तुत: ह्यूम के अन्त:करण में 'अहङ्कार' की वृत्ति थी ही नहीं? क्या उसका अन्त:करण अन्य लोगों के अन्त:करण से भिन्न था? क्या जिस प्रकार बार्कले को अपने आत्मा की अनुभूति होती थी उस प्रकार ह्यूम को नहीं

होती थी ? ह्यूम के कथन से तो ऐसा ही मालूम होता है। वह लिखता है :—

"If anyone, upon serious and unprejudiced reflection, thinks he has a different rotion of *himself*, I must confess I can reason no longer with him. All I can allow him is, that he may be in the right as well as I, and that we are essentially different in this particular. He may, perhaps, perceive something simple and continued, which he calls *himself*, though I am certain there is no such principle in me."

"अगर कोई पक्षपात छोड़ कर विचार करे और उसे अपने आपकी अनुभूति हो तो मैं उससे झगड़ना नहीं चाहता। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि सम्भव है वह भी ठीक हो जैसा कि मैं ठीक हूँ। मेरी प्रकृति और उसकी प्रकृति इस विषय में भिन्न भिन्न हो। शायद उसके मन में उस स्थायी तत्त्व के विषय में विचार उठते हों (*may perceive*) जिसको वह आत्मा कहता है परन्तु मुझे निश्चय यह है कि मेरे भीतर तो कोई ऐसी वृत्ति नहीं है।"

परन्तु क्या ह्यूम अन्य पुरुषों की अपेक्षा इतना भिन्न है ? यह तो एक तमाशे की बात है। वास्तविक बात यह है कि

ह्यूम अन्य पुरुषों से इतना भिन्न नहीं जितना उसने समझ रक्खा है। बार्कले के दार्शनिक सिद्धान्तों की अयुक्तता का अनुकरण करके ह्यूम भी वैसा ही बन गया। ह्यूम का सन्देह-वाद बार्कले के युक्ति-शून्य अध्यात्मवाद का ही अन्तिम परिणाम था। जिस युक्ति से बार्कले ने बाह्य जगत् का निषेध किया उसी को कुछ आगे बढ़ाकर ह्यूम ने अपने अस्तित्व पर सन्देह करके संगति लगा दी। परन्तु यदि ह्यूम यह सोचता कि वह युक्ति ही नहीं जो मानवी प्रकृति के भिन्न जाय तो शायद ह्यूम ऐसा न करता। वह एक स्थान पर कहता है कि यदि हम मान लेते हैं कि आग जलाती है और जल शीतलता देता है तो इसका एक मात्र कारण यह है कि ऐसा न मानने से हमको महाकष्ट पहुँचता है। इसका अर्थ क्या? यही न कि यदि ऐसा न मानो तो व्यवस्था नहीं रहती। जो बात व्यवस्था को ठीक न रख सके वह युक्ति-संगत कैसी? इसी प्रकार हम जब तक अपना अस्तित्व न स्वीकार करें कोई व्यवस्था ही नहीं बनती। इस बात को ह्यूम ने भी स्वीकार किया है। वह एक स्थान पर लिखता है:—

"Most fortunately it happens that, since reason is incapable of disputing these clouds, nature herself suffices to that purpose, and

cures me of this philosophical melancholy and delirium, either by relaxing this bent of mind, or by some avocation and lively impression of my senses which obliterate all these chimeras. I dine, I play a game of back-gammon, I converse, and am merry with my friends; and when after three or four hours' amusement, I return to these speculations, they appear so cold, and strained, and ridiculous, that I cannot find in my heart to enter into them any farther."

(a condensed quotation taken from Aikin's Philosophy of Hume.)

"सौभाग्य की बात है कि जब तर्क इस सन्देह को दूर नहीं कर सकता तो प्रकृति इसको ठीक कर देती है। और मेरा दार्शनिक कष्ट या भ्रम इस सन्देहात्मक वृत्ति के ढीला होने से या किसी इन्द्रिय-जन्य संस्कार के कारण धुल जाता है। मैं खाना खाता हूँ, खेलता हूँ, मित्रों के साथ बात चीत तथा मनोविनोद करता हूँ, और जब तीन चार घण्टों के मनोविनोद के पश्चात् फिर दार्शनिक विचारों में संलग्न होता हूँ तो यह विचार ऐसे फीके, अस्वाभाविक और निरर्थक प्रतीत होते हैं कि आगे बढ़ने को जी नहीं चाहता"।

तात्पर्य यह है कि ह्यूम के दार्शनिक विचार स्वयं उसको भी सन्तोष नहीं देते, दूसरों को तो क्या देंगे। उसने इसमें अपनी तर्क शैली को दोष नहीं दिया किन्तु मानवी तर्क-शक्ति को। जो दोष ह्यूम मानवी बुद्धि को देता है वह वस्तुत: उसकी युक्ति-शैली का है। बुद्धि कभी प्रकृति के विरुद्ध नहीं जाती। वस्तु परीक्षा के नियम हैं। यह नियम मनुष्य की प्रकृति को देखकर ही बनाये गये हैं। वह समस्त मानवी मनो-व्यापार में ओत प्रोत हैं। अत: जब कभी हमारी तर्क शैली व्यवस्था के प्रति-कूल जावे तभी समझ लेना चाहिये कि कहीं कुछ दोष है जिसको निकालना अत्यावश्यक है।

ह्यूम की इस शिकायत के सम्बन्ध में कि मैं अपने को पकड़ नहीं पाता पतंजलि ने योग दर्शन में अच्छा प्रकाश डाला है। योग का तीसरा सूत्र यह है :—

तदा द्रष्टु:स्वरूपे अवस्थानम् ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जब तक चित्त की वृत्तियाँ काम करती रहती हैं हम अपने स्वरूप में स्थित नहीं हो सकते उसी प्रकार से जैसे हिलते हुये जल में चेहरा नहीं दीखता। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तो वह अवस्था आ जाती है जिसकी तलाश में ह्यूम है। जब तक वृत्तियों का निरोध न हो

उस समय तक आत्म-परीक्षा करते ही आत्मा के स्थान में किसी न किसी वृत्ति का सामना हो जाता है। यदि आप नदी के नीचे की तह देखना चाहते हैं तो प्रवाह को बन्द कर दीजिये। नहीं तो तह के होते हुये भी आप जल विन्दुओं से ही अटकते रहेंगे, और तह दिखाई न पड़ेगी।

परन्तु क्या जल-विन्दुओं से अटकने वाला नदी की तह को मानना छोड़ बैठता है। ऐसा तो नहीं देखा। यदि किसी से पूछो कि तुमने प्रशान्त महासागर की थाह ली तो कहेगा "नहीं"। परन्तु कितने समुद्र-विद्या के पण्डितों ने बहुधा इस थाह को लेने का यत्न किया है। यदि उनको थाह के अस्तित्व पर विश्वास न होता तो थाह लेने की कोशिश ही क्यों करते। इसी प्रकार अकेला ह्यूम ही नहीं किन्तु संसार के प्रायः सभी मनुष्य अपने विचारों में अटक जाते हैं और विचार-प्रवाह के आधार रूप स्थायी तत्त्व को पकड़ नहीं पाते। परन्तु किसी वस्तु को पकड़ न सकना तो उसके अस्तित्व के संदिग्ध बनाने के लिये पर्याप्त नहीं है। इस अटकने का भी कुछ अर्थ है। इसके लिये भी कुछ आधार चाहिये। खेद है कि ह्यूम ने उस आधार की आगे खोज न की।

आठवां अध्याय

जीवात्मा के लक्षण

अब इतनी बातें सिद्ध हो चुकीं :—

(१) प्रत्येक पुरुष को किसी न किसी अंश में अपनी प्रतीति होती है। यह दूसरी बात है कि जिनको वह प्रमाण कहता है उनके द्वारा उसकी सिद्धि न हो सके।

(२) वह कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है। इसी को लोग जीव कहते हैं।

इनके अतिरिक्त एक और बात है वह भी स्पष्ट ही है और कोई इससे इन्कार नहीं कर सकता। वह यह कि जीव का भोक्तृत्व, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व परिच्छिन्न है विभु नहीं। अर्थात् हम किसी एक वस्तु के विषय में ही जान सकते, अनुभव या प्रेरणा कर सकते हैं, सब के विषय में नहीं। हमारा ज्ञान, हमारी क्रिया और हमारा सुख दुःख परिमित है अपरिमित नहीं। हम कई हैं एक नहीं। मेरा ज्ञान मेरे लिये है और दूसरे का ज्ञान दूसरे के लिये। मेरी विचार-शृङ्खला और अन्य पुरुष की विचार, शृङ्खला एक नहीं। यदि किसी कमरे में दो व्यक्ति बैठे

हैं तो दोनों की विचार धारायें अलग अलग उनके मस्तिष्कों में बह रही हैं एक का दूसरे के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। मैं नहीं जान सकता कि आपके मन में क्या है। और अगर आप शब्दों या संकेतों द्वारा बता भी दें तो ऐसा ज्ञान आपका ज्ञान नहीं किन्तु मेरा ही ज्ञान होगा। कल्पना कीजिये कि दो पुरुष किसी विषय की बाबत विचार कर रहे थे। वे सो गये। जब सो कर उठे तो सोने से पहले जो उनकी विचार धारायें थीं वह सोने के पीछे भी अपनी अपनी धारा से मिल कर बहने लगेंगीं। यह सम्भव नहीं है कि यज्ञदत्त की सोने से पूर्व की धारा देवदत्त की जाग उठने से पीछे की धारा के साथ बह निकले। यह सब नदियाँ इतनी अलग अलग हैं कि एक नदी का जल दूसरी नदी में बह ही नहीं सकता। इससे जीव का परिच्छिन्नत्व और नानात्व सिद्ध होता है। एक शरीर के भीतर यह जीव किसी स्थान विशेष में है या सब स्थानों में फैला हुआ है? शरीर ही को जीव कहते हैं या जीव शरीर से अलग है? यह एक अलग प्रश्न है और इसकी मीमांसा आगे की जायगी। परन्तु इस स्थल पर केवल इतना बताना काफ़ी है कि मेरा जीव मेरे शरीर के बाहर नहीं और आपका जीव आपके शरीर के बाहर नहीं। इस प्रकार जीवात्मा का यह लक्षण हुआ :—

ज्ञातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्ववानणुः ।

अर्थात् जीवात्मा वह अणु है जिसमें, जानने, क्रिया करने और सुख दुःख भोगने की शक्ति हो ।

यह लक्षण समस्त सजीव पदार्थों पर लागू होता है, न केवल मनुष्य पर ही । पशु पक्षी कीट पतंग आदि भी इसी लक्षण के अन्तर्गत आ जाते हैं । क्योंकि इनमें विभुत्व का अभाव अर्थात् अणुत्व का भाव होने के अतिरिक्त, सुख दुःख, ज्ञान और प्रेरणा भी पाई जाती है ।

इसकी अधिक विवेचना आगे यथा स्थल आयेगी ही । इस लिये आरम्भ के लिये इस व्यावहारिक लक्षण (Workable Definition) से काम चल सकता है । जब हम जीव के विषय में अन्य बातों की मीमांसा करेंगे तो जीव के लक्षणों पर भी अधिक प्रकाश पड़ेगा और हम इन लक्षणों की यथार्थता के विषय में अधिक जान सकेंगे ।

नवां अध्याय

शरीर और शरीरी

अभी मुख्य प्रश्न हल नहीं हुआ। यह मान भी लिया जाय कि भोक्तृत्व, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व वाली अणु चीज़ का नाम जीवात्मा है तो भी यह सवाल तो वैसा ही रह जाता है कि क्या जीवात्मा कोई ऐसी वस्तु है जो शरीर से अलग चीज़ है ? हमने जब अनुभव से यह मालूम किया कि हम जानते, करते और भोगते हैं तो यह अनुभव हमको इसी शरीर में हुआ है। हमने दूसरे पुरुषों को भी जो कुछ करते, जानते या भोगते देखा वे भी शरीर वाले पुरुष थे। आज तक न तो कभी हमने शरीर से निकल कर अपना अनुभव किया और न किसी अन्य को शरीर से बाहर देखा। फिर कैसे मान लिया जाय कि जीव शरीर से भिन्न कोई वस्तु है ? हम अपने कुर्ते से अपने को इसलिये अलग मानते हैं कि हम कुर्ते को उतार कर नंगे खड़े हो जाते हैं। यदि इस प्रकार का हमारा अनुभव न होता तो हम कभी कुर्ते को अपने से अलग न मानते। इसलिये एक पक्ष यह है कि चाहे जीवात्मा

को कुछ भी क्यों न मानो यह शरीर से इतर कोई वस्तु नहीं है। इसी पक्ष को पूर्वपक्ष के रूप में वेदान्त दर्शन के तीसरे अध्याय, तीसरे पाद के ५३ वें सूत्र में इस प्रकार लिखा है :—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।

(वेदान्त ३ । ३ । ५३)

अर्थात् कुछ लोग आत्मा को ही शरीर मानते हैं क्योंकि शरीर के रहने पर जीवात्मा रहता है शरीर नष्ट होने पर जीवात्मा नहीं रहता।

श्री शंकराचार्य जी इसका भाष्य करते हुये लिखते हैं :—

(१) अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावं मन्यमानः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद् विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाहुः ।

(शांकर भाष्य)

अर्थात् लोकायतिक लोग कहते हैं कि देह से अलग कोई आत्मा नहीं है। यद्यपि पृथिवी आदि जड़ पदार्थों में अलग अलग चेतनता पाई नहीं जाती तथापि जैसे कई चीज़ों को

मिला कर शराब बन जाती है और उसमें नशे की शक्ति आ जाती है उसी तरह यह जड़ पदार्थ मिलकर जब शरीर बन जाता है तो उसमें विज्ञान और चेतनता आ जाती है।

(२) न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थो देह व्यतिरिक्त आत्मास्ति, यत्कृतं चैतन्यं देहेस्यात्, देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रतिजानते।

(शांकर भाष्य)

स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति के लिये समर्थ कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसको शरीर से अलग आत्मा माना जाय जिसके कारण शरीर चेतन हो जाता है। प्रतिज्ञा यह है कि देह ही चेतन आत्मा है।

(३) हेतुं चाचक्षते शरीरे भावादिति। यद्धि यस्मिन् सति भवत्यसति च न भवति तत् तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते।

अब प्रतिज्ञा के पश्चात् हेतु देते हैं। जो जिसके रहने पर रहता है और न रहने पर नहीं रहता उसे उसी का धर्म कहते हैं।

(४) यथाऽग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ।

(शांकर भाष्य)

उदाहरण—जैसे गर्मी और प्रकाश अग्नि के धर्म हैं।

(५) प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देह व्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति। तस्माद् व्यतिरेको देहादात्मन इति।

(शांकर भाष्य)

जो लोग प्राण चेष्टा, चेतनता, स्मृति आदि अलग आत्मा के धर्म मानते हैं वह भी तो इनको देह में ही मानते हैं। इनको देह से अलग आत्मा के धर्म मानने में कोई प्रमाण है ही नहीं। इसलिये आत्मा देह का ही नाम है। देह से अलग कोई आत्मा नहीं।

तात्पर्य यह है कि जो कुछ चेतनता, ज्ञान, स्मृति, प्राण आदि का व्यापार देखा जाता है वह देह में ही देखा जाता है। देह के बाहर नहीं। फिर देह से अलग चेतन क्यों माना जाय?

इसी आशय को जेम्स ने अपनी साइकोलोजी में इस प्रकार लिखा है :—

All mental states (no matter what their character as regards utility may be) *are followed*

by bodily activity of some sort. They lead to inconspicuous changes in breathing, circulation, general muscular tension, and glandular or other visceral activity, even if they do not lead to conspicuous movements of the muscles of voluntary life. (p. 5).

"मन की जितनी अवस्थायें हैं (चाहे उनका उपयोगिता के विचार से कुछ भी रूप क्यों न हो) उन सब के साथ साथ किसी न किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया अवश्य होती है। चाहे उनसे हमारे शरीर के अंगों में इच्छित परिवर्त्तन न हो तो भी प्राण की गति, रक्त-संचालन, सामान्य पुट्ठों के संकोचन प्रसारण, ग्रन्थियों इत्यादि के कार्यों में कुछ न कुछ तब्दीली ज़रूर हो जाती है।"

The immediate condition of a state of consciousness is an activity of some sort in the cerebral hemispheres. This proposition is supported by so many pathological facts, and laid by physiologists at the base of so many of their reasonings, that to the medically educated mind it seems almost axiomatic. It would be hard, however to give any short and peremptory proof of the

unconditional dependence of mental action upon neural change. That a general and usual amount of dependence exists cannot possibly be ignored. One has only to consider how quickly consciousness may be (so far as we know) abolished by a blow on the head, by rapid loss of blood, by an epileptic discharge, by a full dose of alcohol, opium, ether, or nitrous oxide—or how easily it may be altered in quality by a smaller dose of any of these agents or of others, or by a fever,—to see how at the mercy of bodily happenings our spirit is. A little stoppage of the gall-duct, a swallow of cathartic medicine, a cup of strong coffee at the proper moment, will entirely overturn for the time a man's views of life. Our moods and resolutions are more determined by the condition of our circulation than by our logical grounds. Whether a man shall be a hero or a coward is a matter of his temporary 'nerves'. In many kinds of insanity, though by no means in all, distinct alterations of the brain-tissue have

been found. Destruction of certain definite portions of the cerebral hemispheres involves losses of memory and of acquired motor faculty of quite determinate sorts.......Taking all such facts together, the simple and radical conception dawns upon the mind that *mental action may be uniformly and absolutely a function of brain action*, varying as the latter varies, and being to the brain-action as effect to cause. (p. 6).

इसका सारांश यह है कि हमारी चेतनता सर्वथा हमारे मस्तिष्क की बनावट पर निर्भर है। मस्तिष्क सम्बन्धी तब्दीलियों से ही मन-सम्बन्धी तब्दीलियाँ हो जाती हैं। जब मस्तिष्क में चोट पहुँच जाय, या नशे की चीज़ खा ली जाय, या ज्वर आ जाय, तो विचारों में भी परिवर्तन हो जाता है। कभी कभी तो चेतनता बिल्कुल जाती रहती है और कभी कभी उसमें भेद पड़ जाता है। मस्तिष्क में भेद हो जाने से मनुष्य के विचार बदल जाते हैं। मनुष्य में साहस या कायरता भी स्नायुसंस्था की भिन्नता के कारण होती है। पागलपन की कई अवस्थाओं में मस्तिष्क के कोष्ठों में विशेष तब्दीली पाई गई है। यदि मस्तिष्क का कोई विशेष अंश नष्ट हो जाता है तो स्मृति आदि में विघ्न पड़ जाता है। इससे यही बात

सिद्ध होती है कि समस्त मानसिक व्यापार का निरन्तर कारण मस्तिष्क की अवस्थायें हैं।

मस्तिष्क शरीर का एक अंग है। इसलिये मानना पड़ता है कि चेतनता शरीर का ही गुण है न कि शरीर से अलग आत्मा का।

इस पर व्यास जी ने सिद्धान्त पक्ष में एक सूत्र लिखा है :—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥
(वेदान्त ३।२।५४)

अर्थात् आत्मा देह से अवश्य भिन्न है क्योंकि देह से रहते हुये भी कभी कभी चेतनता नहीं पाई जाती।

इस सूत्र पर शंकराचार्य जी का भाष्य विचारणीय है :—

(१) यदि देहभावे भावाद्द देह धर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत, ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत।

अर्थात् चूंकि देह के साथ ही ज्ञान आदि का व्यापार देखा जाता है इसलिये तुम यह मान लेते हो कि यह देह का ही धर्म है। तो यह बताओ कि देह के होते हुये भी तो ज्ञान

का अभाव देखा जाता है फिर तुम यह क्यों नहीं मानते कि ज्ञान शरीर का धर्म नहीं है।

(२) प्राण चेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति।

मरने पर शरीर तो रहता है परन्तु उसमें प्राण आदि की चेष्टा नहीं रहती।

(३) देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते, न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृतादयः।

रूप आदि देह के धर्म हैं। यह मरने के उपरान्त भी रहते हैं। परन्तु स्मृति आदि देह के धर्म नहीं। इसलिये मरने पर शरीर में यह नहीं पाये जाते।

यहाँ शंकराचार्य जी ने शरीर और आत्मा के भेद के लिये यह युक्ति दी है कि अगर चेतनता शरीर का गुण होती तो शरीर में सदा पाई जाती इससे सिद्ध होता है कि चेतनता शरीर का धर्म नहीं है। कहीं और जगह से आजाती है।*

---

* देखो सांख्य ३।२१, प्रपंच मरणाद्यभावश्च। अर्थात् यदि देह को चेतन मानो तो मरना और सुषुप्ति नहीं बन सकेंगे।

परन्तु आगे चल कर शंकर जी और अच्छी युक्ति देते हैं :—

(४) यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत् तर्हि विषयत्वात् तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत; स्वात्मनि क्रिया विरोधात्। न ह्यग्निरुष्णः सन् स्वात्मानं दहति। नहि नटः शिक्षितः सन् स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति। नहि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयी-क्रियेरन्।

अर्थात् यदि चेतनता या ज्ञान पाँच भूतों के मिलने से उसी प्रकार हो जाता है जैसे शराब में नशा, तो यह भूत आदि ज्ञेय हैं ज्ञाता नहीं। विषय हैं विषयी नहीं। विषय स्वयं विषयी नहीं हो सकते। आग अपने को नहीं जलाया करती। नट अपने ही कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। रूप आदि दूसरे रूपों को या अपने रूप को नहीं देख सकते। इसलिये मानना पड़ता है कि जानने वाला कोई और ही है जो इन भूतों के बने हुये शरीर से अलग है।

शराब के नशे के सम्बन्ध में मौलाना रूम ने अपनी मसनवी में बहुत अच्छा लिखा है। वह कहते हैं—

बादा अज़ मा मस्त शुद नै मा अज़ो ॥

अर्थात् शराब में हमारे कारण नशा होता है न कि शराब के कारण हम में। वस्तुतः यदि शराब विना चेतन के नशा पैदा कर सकती तो मुर्दे के मुँह में शराब डालने से भी उसको नशा हो जाता। यदि मुर्दे के मुँह में शराब डाली जाय तो कुछ भी नशा नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि शराब भी तभी तक नशा करती है जब तक उसका चेतन वस्तु से सम्बन्ध है। जब चेतनता निकल गई तो नशीली से नशीली शराब भी कुछ नहीं कर सकती।

आधुनिक मनोविज्ञान (Psychology) का शरीर विज्ञान (physiology) से बड़ा सम्बन्ध है। और होना भी चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चेतनता शरीर का धर्म है। यदि मन के व्यापार के लिये मस्तिष्क की आवश्यकता न होती तो मस्तिष्क होता ही क्यों? और उस माँस के लोथड़े को मस्तिष्क क्यों कहते? मैं चाकू से क़लम बनाता हूँ। चाकू की यही उपयोगिता है। परन्तु यह तो कोई न कहेगा कि क़लम बनाने वाला चाकू है। इसी प्रकार यदि मेरा मन मेरे मस्तिष्क से ही सोच सकता है तो क्या यह मान लेना चाहिये कि सोचने वाला मस्तिष्क से अलग कोई और वस्तु नहीं।

मन और मस्तिष्क का एक जटिल सम्बन्ध है। मनोविज्ञान वेत्ताओं के लिये यह प्रश्न बड़ा उलझन का प्रश्न रहा है। जब तक वर्तमान वैज्ञानिक युग का आरम्भ नहीं हुआ था उस समय विद्वान लोग विना मस्तिष्क की जाँच के ही मन के व्यापारों की मीमांसा किया करते थे। भौतिक विज्ञान की उन्नति ने विद्वानों का दृष्टि-कोण बदल दिया। पहले तो उन्होंने भौतिक विज्ञान के द्वारा भौतिक नियमों के आधार पर ही मस्तिष्क की क्रियाओं का निरीक्षण किया फिर वह एक पग और बढ़ गये और केवल मस्तिष्क को ही चेतनता का कारण मानने लगे। इस प्रकार कुछ दिनों पीछे मस्तिष्क और मन में कुछ भेद नहीं रहा। यह पर्यायवाची शब्द हो गये।

परन्तु फिर एक परिवर्त्तन दिखाई पड़ने लगा है। वर्त्तमान मनोविज्ञानवेत्ता केवल शरीर विज्ञान के आधार पर ही मन के समस्त व्यापारों की मीमांसा करने में असफल से प्रतीत होते हैं, और उनका जी चाहता है कि यदि आत्मा को शरीर से अलग मान लेते तो बहुत से झमेले दूर हो जाते।

मन और मस्तिष्क के व्यापारों की भिन्नता का उल्लेख करते हुए स्टाऊट लिखता है :—

The difference is so radical that no knowledge of the constitution of the human body, however precise and exhaustive, could, of itself, yield any clue whatever to the existence of modes of consciousness connected with it. Even if the brain of a man "could be so enlarged that all the members of an International Congress of Physiologists could walk about inside his nerve fibres and hold a conference in one of his 'ganglion cells', their united knowledge and the resources of all their laboratories would not suffice" (from Mc. Dougall's Body and Mind) to enable them to discover a feeling of sensation, or perception, or idea or belief or anything which can properly be called a mode of consciousness.

(A Manual of Psychology p. 18)

अर्थात् यह भेद इतना मौलिक है कि मनुष्य के शरीर की रचना का कितना ही विशद और पूर्ण ज्ञान क्यों न हो इस से मन के व्यापारों के अस्तित्व का पता नहीं चलता। "यदि मनुष्य का मस्तिष्क इतना बड़ा हो जाय कि उसमें शरीर-विज्ञान

वेत्ताओं की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के सब सभासद् चक्कर लगा सकें और उसके एक कोष्ठ में सभा कर सकें तो भी उनका परीक्षा-सम्बन्धी सम्पूर्ण सामूहिक ज्ञान भी" मन के विचारों या भिन्न भिन्न व्यापारों की मीमांसा करने के लिये काफ़ी नहीं है।

The self is apprehended as clearly and positively characterised. Prominent among its features are those revealed by bodily sensations. But if we say the self is the body we must add that it is the body as immediately apprehended by internal perception, not as it is apprehended by physiological research.

(Ibid p. 19)

अर्थात् आत्मा के गुण स्पष्ट रीति से अलग प्रतीत होते हैं। इनमें से मुख्य वह हैं जो शारीरिक अनुभूति से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु यदि हम कहें कि आत्मा शरीर ही है तो हमको इतना और कहना चाहिये कि भीतरी अनुभूति से युक्त शरीर न कि वह शरीर जो शरीरविज्ञान की परीक्षा का विषय है।

तात्पर्य यह है कि देखने, सुनने, या शारीरिक पीड़ा आदि व्यापार में हमको आत्मा के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यदि

मान भी लिया जाय कि यह केवल शारीरिक अनुभव है तो यह भी मानना पड़ेगा कि इस शारीरिक अनुभव की मीमांसा करने के लिये केवल शरीर रचना काफ़ी नहीं है।

यह कथन किस ओर संकेत करते हैं? क्या इनसे स्पष्टतया यह सिद्ध नहीं होता कि मन के व्यापारों को केवल भौतिक आधार पर मानने से मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों में सन्तोषजनक उन्नति नहीं हो सकी और मनोविज्ञान के पंडित इनसे मुक्त होने का मार्ग ढूँढ़ रहे हैं?

कम से कम जो कुछ इस अध्याय में लिखा गया है उससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि हमारे शरीर से इतर एक पदार्थ है जिसको शरीरी कह सकते हैं। यह पदार्थ शरीर नहीं है किन्तु शरीर से अलग है। यह दूसरा प्रश्न है कि शरीर का और शरीरी का क्या सम्बन्ध है। सम्भव है कि यह शरीरी शरीर से ही उत्पन्न हुई कोई वस्तु हो। संभव है कि यह शरीरी शरीर के आधीन कोई चीज़ हो। यह तो सम्बन्ध की बात है, और इसका वर्णन आगे आवेगा।

दसवाँ अध्याय

इन्द्रियों की साक्षी

न्याय दर्शन के लेखक श्री गोतम मुनि आत्मा को शरीर से अलग एक पदार्थ मानते हैं। उनके कुछ सूत्र यहाँ दिये जाते हैं। पहला सूत्र है :—

"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्"।

(न्याय ३।१।१)

अर्थात् जिस चीज़ को हम आँख से देखते हैं उसी को हाथ से छूते हैं। जैसे आँख ने क़लम को देखा, फिर हाथ ने छूकर मालूम किया और तब हमको यह ज्ञान हो गया कि आँख से देखी हुई और हाथ से छुई हुई चीज़ एक ही है। यदि आँख से क़लम दिखाई देती और हाथ से छूने में न आती तो हमको क़लम का ज्ञान न होता। हम कभी न कह सकते कि यह क़लम है। इससे सिद्ध होता है कि जो चीज़ आँख और हाथ दो साधनों को काम में ला रही है वह आँख और हाथ से भिन्न कोई पदार्थ है। इसी का नाम आत्मा है। अगर

'आत्मा' कोई अलग पदार्थ न होता तो हमको ऐसा भान कभी न होता कि जिस चीज़ को हमने आँख से देखा उसी को हाथ से छुआ। आँख देखती है छूती नहीं, हाथ छूता है देखता नहीं। फिर वह कौन है जो कहता है कि जिसको देखा उसी को छू रहा हूँ? यदि कहो कि शरीर में शरीर तथा आँख और हाथ से भिन्न कोई ऐसी सत्ता है ही नहीं तो इस एकता के भान होने का क्या कारण है? कोई इनकार नहीं कर सकता कि इस प्रकार का भान हमको नित्य होता है। हम कहते हैं कि नीबू का रंग पीला है और स्वाद खट्टा! पीले रंग को हमने आँख से देखा और खट्टे स्वाद को जीभ से चक्खा। न तो जीभ पीले रंग को देख सकी न आँख खट्टे रस को चख सकी। परन्तु हमारे भीतर किसी ने यह कहा अवश्य कि यह पीला नीबू खट्टा है। यह कहने वाला कौन है?

इस पर आक्षेप करते हैं कि—

"न, विषयव्यवस्थानात्"

(न्याय ३।१।२)

अर्थात्—किसी अन्य सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं। विषयों की व्यवस्था ही ऐसी है कि आँख रूप को देखे और हाथ कठोरता को छुये या जीभ स्वाद को चक्खे। यदि इन

इन्द्रियों से अलग आत्मा कोई भिन्न पदार्थ होता तो विषयों की अलग अलग व्यवस्था करने की क्या ज़रूरत थी? क्यों न आँख से खट्टापन चख सकते और जीभ से पीलापन देख सकते? न आँख चख सकती है और न जीभ देख सकती है। इससे प्रतीत होता है कि देखने वाला कोई और है और चखने वाला कोई और। इन दोनों के बीच में किसी अन्य पदार्थ की कल्पना करनी ही असंगत है।

इसका उत्तर गोतम जी ने यह दिया है कि—

"तद् व्यवस्थानादेवाऽऽत्मसद्भावादप्रतिषेधः"

(न्याय ३।१।३)

अर्थात्—अलग अलग इन्द्रियाँ अलग अलग विषयों को ग्रहण करतीं है। यही व्यवस्था तो आत्मा की सत्ता को सिद्ध करती है। जिस बात को तुम आत्मा के न होने का प्रमाण बताते हो वही वस्तुतः आत्मा के होने का प्रमाण है। जब मैं नीबू के पीलेपन को देखता और खट्टेपन को चखता हूँ तो जो लोग इसमें देखना और चखना यह दो व्यापार ही बताते हैं वे भूलते हैं। यह दो व्यापार नहीं किन्तु तीन व्यापार हैं:—

(१) आँख पीलेपन को देखती है।

(२) जीभ खट्टेपन को चखती है।

(३) और कोई तीसरी चीज़ यह कहती है कि जिस वस्तु में आँख ने पीलापन देखा उसी में जीभ ने खट्टापन चक्खा। यह दोनों वस्तुतः एक ही चीज़ के गुण हैं। यह तीसरी भावना न तो आँख की है न जीभ की। है अवश्य और इस भावना के करने वाले का पता भी लगाना चाहिये। यदि कहो कि ऐसी कोई भावना होती ही नहीं, हमने भ्रम मान रक्खा है, तो यह बात सर्वथा ग़लत है। क्या आपने कभी किसी को यह कहते नहीं सुना कि "नारंगी है तो ख़ूबसूरत परन्तु खट्टी है" ? क्या यह नारंगी का भान कल्पना या भ्रम मात्र है? और यदि कल्पना या भ्रम ही है, यदि हमने किसी रूपवती और खट्टी दो चीज़ों को भूल से एक समझ रक्खा है तो भी इस भूल करने वाले का अस्तित्व सिद्ध है। यह भूल आँख ने तो की नहीं। उसका काम रूप देखने का था सो उसने कर दिया। जीभ ने भी यह भूल नहीं की। फिर यह भूल किसने की? इसीका नाम तो आत्मा है।

इसी बात को कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार वर्णन किया है : —

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥
इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥
(वैशेषिक दर्शन ३ । १ । १-२)

अर्थात्, प्रत्येक इन्द्रिय के लिये अलग अलग अर्थ नियत हैं। आँख के लिये रूप, कान के लिये शब्द, जीभ के लिये रस इत्यादि। यह बात तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु यह प्रसिद्धि ही इस बात को सिद्ध करती है कि इन्द्रियों और उनके अर्थों से अलग एक ऐसी वस्तु है जिसको आत्मा कह सकते हैं। रूप का आश्रय आँख है और शब्द का कान। परन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रसिद्धि अर्थात् ज्ञान का आश्रय क्या है ? यह ज्ञान किसको होता है ? प्रकाश का आँख पर पड़ना ही तो रूप का ज्ञान नहीं। रूप का ज्ञान इससे भिन्न है। जिसको रूप का ज्ञान होता है वही आत्मा है।

ग्यारहवाँ अध्याय

स्मृति और विस्मृति

जब इन्द्रियों का बाहरी चीजों से संसर्ग होता है तो हमको उनका ज्ञान होता है। परन्तु ज्ञान के इस व्यापार में स्मृति और विस्मृति का विशेष स्थान है। जब हमारा किसी परिचित पुरुष या चीज से साक्षात्कार होता है, तो उसे हम जल्दी पहचान लेते हैं। अजनबी चीज को पहचानने में देर लगती है। परिचित वस्तु वह है जिसका पहले साक्षात्कार हो चुका हो, और इस समय उस पूर्व साक्षात्कार की याद बनी हो। यदि पहले साक्षात्कार हुआ भी हो और इस समय उसकी याद न हो तो उसको 'परिचित' नहीं कह सकते।

यह स्मृति अर्थात् याद और विस्मृति अर्थात् भूल किसको और क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर हमारे जीवात्मा के अस्तित्व से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। आज मेरा किसी व्यक्ति-विशेष से साक्षात्कार हुआ। इसका अर्थ यह है कि आँखों ने उसे देखा! इस साक्षात्कार से जो ज्ञान हुआ वह क्या आँख के पास सुरक्षित रहेगा या आँख किसी अन्य वस्तु को वह ज्ञान

सौंप देगी ? आँख ने ज्ञान प्राप्त अवश्य किया परन्तु क्षण भर पीछे वह ज्ञान आँख के पास नहीं है। अगर वह ज्ञान आँख के पास रहता तो आँख दूसरी किसी चीज़ को देख ही न सकती, आँख के सामने वही व्यक्ति सदा बना रहता। परन्तु ऐसा नहीं है। हम किसी भीषण दृश्य को देखते हैं, और उसको देखकर भयभीत हो जाते हैं। यदि यह दृश्य सदा आँख के सामने बना रहे तो जान पर आ बने और जीवन कठिन हो जाय। परन्तु नियम यह है कि जब चीज़ सामने से हट जाती है तो उसका वह ज्ञान भी उतना स्पष्ट नहीं रहता। यही नहीं। एक बात और है। अगर वह भीषण दृश्य सामने बना भी रहता है तो भी उसकी भीषणता शनैः २ धुंधली पड़ जाती है। ताजमहल में रहने वाले लोगों को ताजमहल का सौन्दर्य उतना स्पष्ट नहीं होता जितना पहली बार देखने वाले आगन्तुक को। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारी ज्ञान इन्द्रियाँ अपनी कमाई को अपने पास नहीं रखतीं परन्तु एक भीतरी कोष में जमा करती जाती हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वह कोषाध्यक्ष कौन है जिसके सुपिर्द आँख अपने देखे हुए रूप को, कान अपने सुने हुये शब्द को, जीभ अपने चक्खे हुये स्वाद को, नाक अपनी सूंघी हुई गंध को और खाल अपनी छुई हुई कोमलता या कठोरता को सौंप दिया करती है।

शायद आप कहें कि यह कोषाध्यक्ष मन हो। परन्तु यह बात नहीं। मन तो इन्द्रियों से भी अधिक चंचल और जटिल चीज़ है। यह संभव है कि आँख कुछ देर तक अपने विषय के सामने उपस्थित रहे, परन्तु मन तो एक क्षण भर भी एक स्थान पर नहीं ठहरता। उसने इन्द्रियों द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति की उसको वह तुरन्त ही दूसरी किसी सत्ता को सौंप कर आगे चल पड़ता है। मन के लिये न्याय दर्शन में यह बताया है कि—

युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।

(न्यायदर्शन १।१।१६)

मन में एक साथ कई ज्ञान रह ही नहीं सकते। वहाँ तो अवकाश ही एक ज्ञान के लिये है। जब तक पहला ज्ञान उपस्थित है दूसरा आ ही नहीं सकता। कभी कभी कोई अनिष्ट बात हमारे मन में ऐसी जम जाती है कि हम उसको भुलाना चाहते हैं। कभी कभी किसी चिन्ता विशेष के उपस्थित रहने से नींद नहीं आती। उस समय हमारी कोशिश यह होती है कि कोई दूसरा ज्ञान मन में आ जाय और पहले ज्ञान को भूल जायँ। यदि मन सब ज्ञानों को अपने सामने रखता होता तो हमारा समस्त कार्य बिगड़ जाता।

फिर वह कौन सा कोषाध्यक्ष है जो इन्द्रियों और मन द्वारा कमाये ज्ञान को सुरक्षित रखने का यत्न करता है? यहाँ

हम इस बात की मीमांसा करना नहीं चाहते कि "कोष" कौन है! परन्तु 'कोषाध्यक्ष' अवश्य मालूम होना चाहिये। श्री शंकराचार्य जी वेदान्तदर्शन के ३।३।५४ का भाष्य करते हुए लिखते हैं:—

(१) उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मेत्यात्मनो देह व्यतिरिक्तत्वम् ॥

(२) नित्यत्वं चोपलब्धेरैकरूप्यात् ।

(३) अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् ।

(४) स्मृत्याद्युपपत्तेश्च ॥

अर्थात्

(१) ज्ञान स्वयं आत्मा नहीं है वह देह से अलग है।

(२) वह नित्य है क्योंकि जैसा ज्ञान पहले हुआ वैसा अब भी है। उसमें एक रूपता है।

(३) हमको यह भान रहता है कि मैंने इसको पहले देखा था।

(४) यह स्मृति यही बताती है कि आत्मा कोई देह से अलग पदार्थ है।

इस प्रकार श्री शंकराचार्य जी की युक्ति यह है कि किसी वस्तु की याद रहना ही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। यही तो कोषाध्यक्ष है जिसको इसके एजेण्ट ज्ञान प्राप्त कर करके दिया करते हैं। इसी का नाम याद है।

आगे चल कर श्री शंकराचार्य जी एक शंका का निवारण करते हैं।—

(१) यत् तूक्तं शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिरिति, तद्व वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम्।

(२) अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति।

(३) न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति॥

अर्थात्

(१) यह जो शङ्का की गई कि यह स्मृति शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं क्योंकि शरीर के रहते रहती है और शरीर के न रहने पर नहीं रहती। यह शङ्का भी दूर हो गई।

(२) दृष्टान्त यह है कि दीपक के रहते हुये चीज़ दिखाई पड़ती है, दीपक के न रहने पर नहीं।

(३) लेकिन कोई नहीं मानता कि देखने वाला दीपक है। दीपक तो केवल उपकरण है। इसी प्रकार यह माना कि शरीर के रहते हुये ही याद रहती है, शरीर के न रहने पर नहीं। फिर भी यह याद शरीर को नहीं रहता किन्तु शरीर से अलग आत्मा को होती है। शरीर तो केवल उपकरण मात्र है।

न्याय दर्शन में इसी प्रकार की युक्ति दी गई है :—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥

(३ । १ । ७)

अर्थात् जिस वस्तु को बाँई आँख से देखा उसी को दाहिनी आँख से पहचान सकते हैं। यदि याद रखना आँख का धर्म होता तो बाँई आँख का देखा हुआ बाँई आँख ही पहचान सकती, दाहिनी आँख नहीं। परन्तु बात यह है कि बाँई आँख ने देखकर जो ज्ञान प्राप्त किया वह उसने अपने पास न रख कर तुरन्त ही आत्मारूपी कोषाध्यक्ष के पास भेज दिया। उसने दाहिनी आँख की सहायता से उसे झट पहचान लिया। एक और सूत्र है :—

"इन्द्रियान्तरविकारात् ॥

(न्याय० ३ । १ । १२)

अर्थात् एक इन्द्रिय का ज्ञान दूसरी इन्द्रिय में विकार उत्पन्न कर देता है। इससे भी आत्मा की सिद्धि होती है। कल्पना कीजिये कि मैंने कभी नीबू खाया। आँख ने नीबू का रंग और उसकी आकृति देखी, जीभ ने नीबू का रस चक्खा। और हमारी भीतरी शक्ति ने यह धारणा की कि नीबू वह चीज़ है जिसको आँख से देखने से उसकी अमुक आकृति का ज्ञान होता है और जीभ से चखने से अमुक स्वाद का ज्ञान होता है। अब किसी और समय हम एक नीबू देखते हैं। उसी समय हमारे मुँह में पानी भर आता है। क्यों? नीबू जीभ तक तो आया ही नहीं। फिर जीभ में किसी प्रकार का विकार क्यों होना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि आँख और जीभ दोनों ने भूतकाल में अपनी कमाई आत्मा को दे रक्खी। आत्मा के पास आकृति और स्वाद दोनों की स्मृति थी। आत्मा को याद था कि अमुक आकृति के नीबू का स्वाद खट्टा होता है। अर्थात् आकृति विशेष का स्वाद विशेष से अटूट्य सम्बन्ध है। अब आँख ने ज्यों ही आत्मा को ख़बर दी कि वैसी ही आकृति वाली चीज़ फिर आ गई उसी समय उस स्मृति के आधार पर आत्मा की इच्छा दूसरे गुण अर्थात् स्वाद को जानने की हुई और उसकी प्रेरणा से जीभ में पानी भर आया।

इसको एक और दृष्टान्त से समझ सकते हैं। पुलिस और डाकख़ाना दो भिन्न भिन्न विभाग हैं। डाक का काम है पत्र लाना और पुलिस का काम है अपराधी को पकड़ना। किसी स्थान से डाक के द्वारा पत्र आया कि अमुक अपराधी है। पुलिस ने झट जाकर पकड़ लिया। इससे क्या ज्ञात होता है? अगर पुलिस और डाक किसी तीसरी शक्ति के दो भिन्न भिन्न उपकरण न होते तो डाक से पत्र आने पर पुलिस अपराधी को न पकड़ती। परन्तु पुलिस और डाक दोनों अलग अलग स्वतन्त्र सत्तायें नहीं हैं। इनकी नियामक एक तीसरी सत्ता है जो दोनों पर आधिपत्य रखती है और जिसकी प्रेरणा से प्रकट रूप से यह प्रतीत होता है कि एक के कहने से दूसरा काम रहा है। इसी प्रकार यह कहना ठीक न होगा कि नीबू को देख कर आँख ने जीभ से कह दिया कि खट्टा पदार्थ आया है। आँख जीभ को कुछ नहीं कह सकती। आँख आत्मा को केवल रूप के विषय में सचेत कर सकती है। आँख क्या जाने कि खट्टा क्या होता है? वह तो आत्मा को केवल इतना कहती है कि कोई पीला पीला पदार्थ आया है जिसे नीबू कहते हैं। आत्मा अपनी स्मृति से स्वयं यह निश्चय करता है कि गत समय में मैंने ऐसे आकृति वाले पदार्थ को खट्टा पाया था। कोई कारण नहीं

कि यह खट्टा न हो। यही कारण है मुँह में पानी भर आने का।

'स्मृति' के विषय में लोगों ने कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि जिस प्रकार "मैं नीबू देख रहा हूँ" यह एक अलग ज्ञान है उसी प्रकार "मुझे नीबू की याद है" यह भी एक अलग ज्ञान है। उन दोनों में कोई समानता नहीं, और न सम्बन्ध। "मुझे नीबू की याद है" इस ज्ञान से यह क्यों नतीजा निकाला जाय कि "मैंने पहले नीबू देखा था"? ये दो सर्वथा स्वतन्त्र ज्ञान हुये। एक को दूसरे पर निर्भर क्यों किया जाय? जब तक निर्भर न करें जीवात्मा की सिद्धि हो ही नहीं सकती। गोतम मुनि ने न्याय दर्शन के ३।१।१३, १४, १५ सूत्रों में और वात्सायन ने उसके भाष्य में इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। गोतम या शायद उनके भाष्यकार लिखते हैं:—

"अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य"

अर्थात् "स्मृति क्या है इसको ठीक ठीक न समझ कर लोगों ने यह आक्षेप किया है। अगर वह स्मृति को ठीक ठीक समझ लेते तो ऐसी शङ्का न करते और उनको आत्मा का अस्तित्व अवश्य ही मानना पड़ता। वात्सायन के शब्द यह हैं:—

(१) येयं स्मृतिरगृह्यमाणेऽर्थे अज्ञासिषमहममुमर्थ-मिति, एतस्या ज्ञातृज्ञानविशिष्टः पूर्वज्ञातोऽर्थो विषयः, नार्थमात्रम् ।

(२) ज्ञातवानहममुमर्थम्, असावर्थो मया ज्ञातः, ज्ञातम्, अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूदिति चतुर्विधमेतद्वाक्यं स्मृतिविषयज्ञापकं समानार्थम् ।

(३) सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं च गृह्यते ।

(४) अथ प्रत्यक्षेऽर्थे या स्मृतिः, तया त्रीणि ज्ञानान्येक-स्मिन्नर्थे प्रतिसन्धीयन्ते समान कर्तृकाणि, न नानाकर्तृकाणि, नाकर्तृकाणि ।

(५) किं तर्हि ? एककर्तृकाणि । अद्राक्षममुमर्थं, यमेवैतर्हि पश्यामि; अद्राक्षमिति दर्शनं, दर्शनसंविच्च, न खल्व संविदिते स्वे दर्शने स्यादेतदद्राक्षमिति ।

(६) ते खल्वेते द्वे ज्ञाने । यमेवैतर्हि पश्यामीति तृतीय ज्ञानम् ।

(७) एवमेकोऽर्थस्त्रिभिर्ज्ञानैर्युज्यमानो नाकर्तृकः, न नानाकर्तृकः किं तर्हि ? एक कर्तृक इति ।

(१) यह जो याद है कि "मैंने इस चीज़ को देखा था"। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय के सिवाय इतना और ज्ञान है कि 'पहले देखा था'। जब मैं कहता हूँ कि "मैंने नीबू खाया था" तो 'था' के प्रयोग से किस ज्ञान का पता चलता है ? यहाँ एक तो हुआ 'मैं', दूसरा 'नीबू' तीसरा 'देखा था'। 'मैं' तो ज्ञाता हुआ, 'नीबू' ज्ञेय हुआ। परन्तु इतना ही नहीं। इससे अधिक इतना और ज्ञान है कि किसी पहले समय में देखा था। यह ज्ञान नीबू के ज्ञान से अलग है।

(२) "मैं इस चीज़ को जानने वाला हूँ", "यह चीज़ मुझसे जानी गई"। 'यह ज्ञान हुआ', 'इस चीज़ के विषय में मुझे ज्ञान हुआ' यह चारों वाक्य एक ही अर्थ रखते हैं और 'याद' को बताते हैं।

(३) हर ज्ञान के व्यापार में तीन बातें होती हैं— ज्ञाता (जानने वाला), ज्ञान, और ज्ञेय (जानने की वस्तु)।

(४) प्रत्यक्ष चीज़ में जो स्मृति है उससे एक ही व्यापार में तीन चीज़ें प्रकट होती हैं। इसलिये उनका कर्त्ता एक ही होना चाहिये, कई नहीं। और न वे बिना कर्त्ता के हो सकती हैं।

(५) इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि उनका कर्त्ता एक ही है। "जिस चीज़ को मैंने देखा था उसी को अब देख रहा हूँ"। "देखा था" ऐसा कहने में दर्शन भी है और दर्शन का ज्ञान भी। अर्थात् न केवल मैं चीज़ को ही देख रहा हूँ परन्तु साथ हो यह भी अनुभव कर रहा हूँ कि मैं देख रहा हूँ। एक और बात है। वह यह कि जब तक स्वयं अपना ज्ञान न हो तब तक यह कहते ही नहीं बनता कि "मैंने देखा"।

(६) ये तो दो ज्ञान हुये। तीसरा ज्ञान यह भी है कि मैं उसी चीज़ को देख रहा हूँ जिसे पहले देखा था।

(७) इस प्रकार एक विषय में तीन ज्ञानों का होना न तो विना कर्त्ता के हो सकता है, न एक से अधिक कर्त्ताओं से किन्तु एक ही कर्त्ता से।

इससे सिद्ध होता है कि याद और भूल इन दोनों घटनाओं की उस समय तक पूरी पूरी मीमांसा नहीं हो सकती जब तक कि शरीर और मस्तिष्क से अलग आत्मा को न माना जाय।

यहाँ हमने प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के मत दिये हैं। अब थोड़ा सा आधुनिक मनोवैज्ञानिकों से भी पूछ लें कि वह क्या कहते हैं। जेम्स के नीचे उद्धरण विचारणीय हैं। वह स्मृति (Memory) का उल्लेख करते हुये कहता है :—

(१) It is the knowledge of an event, or fact, of which meantime we have not been thinking, with the additional consciousness that we have thought or experienced it before.

(२) No memory is involved in the mere fact of recurrance. The successive editions of feeling are so many independent events, each snug in its own skin. Yesterday's feeling is dead and buried; and the presence of to-day's is no reason why it should resuscitate along with today's. A farther condition is required before the present image can be held to stand for a *past original.*

(३) That condition is that the fact imaged be expressly *referred to the past* thought as *in the past.*

(४) Memory requires more than mere dating of a fact in the past. It must be dated in *my* past. In other words, I must think that I directly experienced its

> occurrence. It must have that 'warmth and intimacy' which were so often spoken of in the chapter on the Self, as characterzing all experiences 'appropriated' by the thinker as his own.
>
> (Psychology by William James pp. 287,88).

इसका सारांश यह है कि यदि कोई घटना हमारे मन में बार बार आती है तो केवल उसका बार बार आना ही स्मृति नहीं है। आज हम पानी बरसता देखते हैं। कल फिर पानी बरसता देखते हैं। परसों फिर पानी बरसता देखते हैं। इस प्रकार पानी बरसने की घटना सैकड़ों बार हमारे मन के सामने आती है। परन्तु इसको स्मृति नहीं कह सकते। स्मृति के लिये एक बात तो यह चाहिये कि वह घटना भूतकाल में हुई हो। परन्तु केवल भूतकाल में होने के भाव से ही अमुक भाव स्मृति नहीं कहला सकता। मैं जानता हूँ कि राजा रामचन्द्र त्रेतायुग में हुये। मेरा यह ज्ञान भूतकालिक होते हुये भी स्मृति नहीं है। मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे याद है कि रामचन्द्र त्रेतायुग में हुये थे। क्योंकि भूतकाल में मैंने यह ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। मुझे इसका जो कुछ ज्ञान है वह शब्द प्रमाण के आधार पर है। परन्तु स्मृति वह है जिसमें

मुझे इतना ज्ञान हो कि अमुक घटना का भूतकाल में मुझे अनुभव हो चुका है। यह "मुझे" शब्द स्मृति का मुख्य अङ्ग है। और जब तक 'मैं' न हूँ यह 'मैं' का भाव आ ही नहीं सकता।

स्टाऊट (Stout) ने एक अच्छा उदाहरण दिया है :—

A witness giving evidence in a law-court is a typical example. His mind is bent on recalling past objects and events ; *as they actually occurred in his previous experience,* omitting the inferences which he has subsequently drawn from them, or is inclined to draw at the present moment.

(A Manual of Psychology by Stout p. 52.)

अर्थात् कचहरी में गवाही देने का। कचहरी में गवाह वही बात कहता है जो भूतकाल में उसके स्वयं अनुभव* में आई हो। उस अनुभव से जो कुछ नतीजा निकलता है वह गवाही का भाग नहीं है। जो कुछ पिछले समय में देखा या सुना हो वही गवाही कहलाती है।

---

*पतञ्जलि योग दर्शन में कहते हैं अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः (योग १।११) अर्थात् पहले अनुभव किये हुये विषय का कमल देना स्मृति है।

अगर गवाही से यह सिद्ध होता है कि गवाह का पिछले और वर्तमान दोनों समयों में एक अलग अस्तित्व है तो अन्य स्मृति से आत्मा की सिद्धि अवश्य हो जानी चाहिये। यदि गवाह भूतकाल में होता, वर्तमान में न होता तो गवाही न हो सकती। यदि भूतकाल में न होता, वर्तमान में होता तो कोई उसको गवाही न कहता। यदि वह अपने केवल भूतकालिक अनुभव न बताता तो भी उसको गवाही न कहते। इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ कि "मुझे याद है कि मैंने पिछले मास में इस मनुष्य को कलकत्ते में देखा था" तो यह याद ही मेरे अस्तित्व को सिद्ध करती है।

अब यहाँ एक प्रश्न शेष रह जाता है। स्मृति को केवल शारीरिक व्यापार ही क्यों न माना जाय? लोग दवाइयाँ खाकर स्मृति शक्ति को तेज़ करते हैं। बहुत सी चीज़ों के खाने से स्मृति बिगड़ जाती है। मस्तिष्क में चोट आने से भूतकाल की याद रहती ही नहीं। हमारे एक सबजज मित्र को एक ऐसा रोग हो गया कि वह अपना सब पढ़ा पढ़ाया भूल गये यहाँ तक दैनिक भाषा का भी कुछ ज्ञान नहीं रहा।

इस अध्याय के आरंभ में हमने शंकराचार्य जी का एक वाक्य उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि स्मृति के लिये उपकरण चाहिये। उपकरण की आवश्यकता कर्त्ता के न होने

को सिद्ध नहीं करती। यदि मैं क़लम के बिना नहीं लिख सकता, या अच्छी क़लम के बिना अच्छा नहीं लिख सकता तो इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं क़लम से अलग एक स्वतंत्र लिखने वाला नहीं हूँ केवल क़लम ही लिखने वाला है। इसी प्रकार यदि मैं मस्तिष्क रूपी उपकरण के बिना याद नहीं रख सकता या अच्छी तरह याद रखने के लिये अच्छा मस्तिष्क ही चाहिये तो इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि मस्तिष्क ही याद रखने की घटना की मीमांसा करने के लिये पर्याप्त है। इसका अधिक वर्णन आगे करेंगे।

बारहवाँ अध्याय

मस्तिष्क

(Brain)

जो लोग जीवात्मा के अलग अस्तित्व को नहीं मानते उनका कहना है कि यह जितने व्यापार जीवात्मा के बताये जाते हैं वे सब शरीर के व्यापार हैं। इस भौतिक शरीर में भूतों के स्वभाव से इस प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं कि मस्तिष्क उसी प्रकार सोचने लगता है। इसकी अधिक मीमांसा करने के लिये शरीर की बनावट और उसके भिन्न भिन्न अंगों के व्यापार पर ध्यान देना होगा।

शरीर क्या है ?

न्याय दर्शन में गोतम मुनि ने शरीर का यह लक्षण किया है:—

"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्"

(न्याय० १। १। ११)

(१) कथं चेष्टाऽश्रयः ? ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येप्सा जिहासा प्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठान लक्षणा समीहा चेष्टा, सा यत्र वर्तते, तच्छरीरम्।

(२) कथमिन्द्रियाऽऽश्रयः ? यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि, उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु वर्त्तन्ते स एषामाश्रयः ? तच्छरीरम् ।

(३) कथमर्थाश्रयः ? यस्मिन्नायतने इन्द्रियार्थ सन्निकर्षात् उत्पन्नयोः सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्त्तते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरमिति ।

(वात्स्यायन—भाष्य)

अर्थात्—शरीर वह है जो तीन चीजों का आश्रय है एक चेष्टा, दूसरी इन्द्रियां, और तीसरे अर्थ । किसी ग्रहण करने योग्य या छोड़ने योग्य वस्तु के ग्रहण करने या छोड़ने के लिये जो उपाय किया जाता है उसका नाम है चेष्टा । यह चेष्टा जहाँ की जाती है वह शरीर है । आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ जिसके आश्रय से रूप, रस, गंध आदि विषयों को जानती हैं उसका नाम शरीर है । और इस प्रकार के ज्ञान से सुख और दुःख जिसके आश्रय से होता है उसका नाम शरीर है ।

यहाँ गोतम ने जीवात्मा को अलग मानकर उसके ज्ञान, सुख दुःख की अनुभूति, तथा चेष्टा का आश्रय मात्र शरीर माना है । प्रश्न यह है कि शरीर को आश्रय मात्र न मानकर सर्वस्व ही क्यों न माना जाय ।

आइये, शरीर के भिन्न भिन्न अंगों पर ध्यान दें। क्या शरीर का प्रत्येक अङ्ग मुख्यरूप से चेष्टा, ज्ञान और अनुभूति के लिये उत्तरदाता हो सकता है या शरीर में भी मुख्य और गौण दो प्रकार के अङ्ग हैं।

शायद पहली बात को तो कोई नहीं मान सकता। जब पक्षाघात् (लक़वा) हो जाता है तो हाथ में अनुभूति, ज्ञान या चेष्टा किसी की योग्यता नहीं रहती। हाथ पर आग रख दो और हाथ जलने लगे तो भी न तो जलन मालूम होती है और न हाथ अपने को हटाने का ही यत्न करता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तीनों बातों को मुख्यतया करने वाला कोई और अङ्ग था जिससे सम्बन्ध शिथिल होने के कारण हाथ उन तीनों बातों के करने में असमर्थ है। मैं इस समय लिख रहा हूँ। मेरे मन में प्रश्न हो रहा है कि क्या लिखने की चेष्टा का आरंभ हाथ से होता है? विचारशील पाठक थोड़ा सा विचार करने से ही समझ लेंगे कि हाथ केवल शासित वस्तु है शासन कहीं दूसरी जगह से आता है। विचार मस्तिष्क में उठते हैं और तब हाथ लिखता है। अधिक गूढ़ विचारों को लेखबद्ध करने में हाथ नहीं थकता, मस्तिष्क थक जाता है, क्योंकि मस्तिष्क को अधिक काम करना पड़ता है।

अब देखना है कि इसके लिये मुख्य अङ्ग कौन से हैं और गौण कौन से? अर्थात् शासन का आरंभ कहाँ से होता है?

आधुनिक शरीर विज्ञान-वेत्ता बताते हैं कि जिसको साधारण परिभाषा में मस्तिष्क (Brain) या सोचने का उपकरण कहते हैं उसके दो भाग हैं। एक को केन्द्र-अंग (Central part) कह सकते हैं और दूसरे को प्रान्तस्थ-अंग (Peripheral part)। शासन केन्द्र-अङ्ग से आरंभ होता है, और प्रान्तस्थ अङ्ग उस शासन के अनुकूल काम करते हैं। इन सबको मिल कर वात संस्थान (Nervous system) कहते हैं।

केन्द्र-अङ्ग दो हैं, एक सुषुम्ना (Spinal cord) और दूसरा मस्तिष्क (Brain)। सुषुम्ना (Spinal cord) एक नाड़ी है जो रीढ़ की हड्डी में रहती है और उसका ऊपरी सिरा कपाल में जाकर चौड़ा हो गया है जिसको सुषुम्ना शीर्षक (Medulla oblongata) कहते हैं।

वातसंस्थान (Nervous system) के अन्य भाग जो कपाल (Cranium) के भीतर हैं यह हैं:—

(१) लघुमस्तिष्क (Cerebellum)

(२) मध्य मस्तिष्क (Mid-brain)

(३) बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum)

वात संस्थान (Nervous system) का प्रान्तस्थ-अङ्ग (Peripheral parts) वह है जो केन्द्र-अङ्ग को शरीर के अन्य भागों जैसे इन्द्रिय-गोलक आदि से मिलाता है।

अब देखना चाहिये कि बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) और वात संस्थान (Nervous system) के अन्य भागों से क्या सम्बन्ध है और बृहत् मस्तिष्क जिसको सोचने का मुख्य उपकरण कहना चाहिये किस प्रकार कार्य्य करता है।

प्रान्तस्थ अङ्ग और केन्द्र-अङ्ग के बीच में लाखों अत्यन्त बारीक तन्तु हैं। यह तन्तु शिरा-कोष्ठों (Cell-body) में से उसी प्रकार निकले रहते हैं जैसे वृक्ष के तने में से शाखायें। शिरा-कोष्ठों को परस्पर मिलाने वाले यही तन्तु हैं। यह तन्तु दो प्रकार के हैं, अन्तःमुखी और बहिर्मुखी। अन्तःमुखी तन्तु बाहर की चीज़ों के संस्कारों को केन्द्र अंग तक ले जाते हैं इनको ज्ञान-तन्तु (afferant nerves) कह सकते हैं। बहि-र्मुखी तन्तु केन्द्र-अंग से चलकर शरीर के क्रिया-करने वाले अवयवों को प्रेरित करते हैं। इनको प्रेरणा-तन्तु (efferent nerves) कह सकते हैं।

इसको एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। आपका पैर अकस्मात् आग पर पड़ जाता है और आप तुरन्त पैर को हटा लेते हैं। यहाँ दो बातें हैं, एक पैर का जलना और दूसरा पैर

को हटाना। यह कैसे होता है? मस्तिष्क ने क्या किया? जब पैर आग पर पड़ा तो वातसंस्थान के प्रान्तस्थ अंगों से आग का संसर्ग होते ही ज्ञान-तन्तुओं द्वारा केन्द्र-अंग को ख़बर मिली कि कोई जलाने वाली चीज़ आगई। केन्द्र-अंग ने प्रेरणा-तन्तुओं द्वारा प्रेरणा की कि पैर हटा लो। यह काम इतनी जल्दी से हुआ कि भिन्न भिन्न क्रियाओं के भेद का पता न चल सका। परन्तु भेद है अवश्य। आग द्वारा जलने का भान होना और यकायक पैर को हटा लेना यह दो स्पष्ट क्रियायें हैं।

यहाँ समासरूप से एक बात और बता देनी चाहिये। ज्ञान-तन्तु और प्रेरणा-तन्तु दोनों मस्तिष्क के एक ही भाग में नहीं पहुँचते। और न सब ज्ञान तन्तु या सब प्रेरणा-तन्तु ही एक स्थान में पहुँचते हैं। इन सब के लिये मस्तिष्क के भिन्न भिन्न अवयव बँटे हुये हैं जैसे किसी दफ़्तर में भिन्न भिन्न कामों के लिये भिन्न भिन्न कमरे होते हैं। डाक लेने का कमरा और है, उस डाक पर विचार करने का और। तथा उस विचार के अनुकूल कार्य्य करने का और।

The local separation of the parts of the cerebrum connected with different sense-experiences is founded on the "separateness of the incoming channels from the organs of sense."

(Sherrington, Encyclopaedia Britannica Vol. 14, p. 411, quoted by Stout.)

अर्थात् वृहत्-मस्तिष्क का वह भाग जो ज्ञान-तन्तुओं से सम्बन्ध रखता है भिन्न भिन्न ज्ञान-इन्द्रियों से आये हुये ज्ञान-तन्तुओं की अपेक्षा से बँटा हुआ है। चक्षु-इन्द्रिय से आये हुये ज्ञान-तन्तुओं के लिये अलग कमरा है, श्रोत्र-इन्द्रिय से आये हुये ज्ञान-तन्तुओं के लिये अलग। इसी प्रकार अन्य सब के लिये अलग अलग कमरे हैं।

यही हाल प्रेरणा-तन्तुओं का है।

First comes the area concerned with movements of the toes, then follow consecutively those for movements of the ankle, the knees, the hip, the shoulder, the elbow, the wrist, the fingers and thumb, the eyes, the ear, the eyelids, the nose, the closure of jaw, opening of jaw, vocal chords and mastication.

(Stout p. 74).

अर्थात् शरीर में जो निचले अंग हैं उनका सम्बन्ध मस्तिष्क के ऊपरी अंगों से है और जो ऊपरी हैं उनका निचले अंगों से, जैसे पैर की उङ्गलियाँ शरीर में सब से निचला भाग है।

उनको प्रेरित करने वाले प्रेरणा-तन्तुओं का सिरा मस्तिष्क में सब से ऊपर की ओर है। फिर एड़ियों का, फिर घुटनों का, फिर कमर का, फिर कन्धों का, फिर कुहनियों का, फिर कलाई का, उङ्गली का, अँगूठे का, आँख का, कान का, पलकों का, नाक का, जबड़ा बन्द करने का, जबड़ा खोलने का, शब्द उच्चारण करने का और खाना चबाने का।

यहाँ एक बात और याद रखनी चाहिये। मस्तिष्क के भिन्न भिन्न भागों की लम्बाई चौड़ाई बाहरी अंगों की लम्बाई चौड़ाई के अनुकूल नहीं है, किन्तु इसकी मात्रा प्रेरणा की जटिलता के अनुसार है। उदाहरण के लिये हाथ के प्रेरणा-तन्तु मस्तिष्क के जितने भाग को घेरे हुये हैं उनसे बहुत कम भाग उन तन्तुओं के लिये हैं जिनका सम्बन्ध पेट और गर्दन से है।

The part played by motor areas seems to be limited to the production and coordination of movements. It would seem that they are not directly connected with sensations or sensory images or with anything which is properly mental. It was once supposed that the outward discharge of nervous impulses from the

cortex to the muscle was immediately connected with a peculiar kind of sensation, called "sense of effort" or "sense of innervation". But this view has been generally discarded.

(Stout p. 74.)

मस्तिष्क का प्रेरणा क्षेत्र केवल प्रेरणाओं से ही सम्बन्ध रखता है। उसका ज्ञान-सम्बन्धी किसी क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं है। पहले लोग समझते थे कि मस्तिष्क से जो प्रेरणा उठती है उसके साथ साथ एक प्रकार की विशेष अनुभूति भी होती है जिसको "प्रेरणा-अनुभूति" कह सकते हैं। परन्तु अब प्रायः इस सिद्धान्त को त्याग दिया गया है।

स्टाउट महोदय का कहना है कि प्रेरणा-क्षेत्र (motor areas) का इच्छा शक्ति (will) से सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसकी पुष्टि में उन्होंने कुशिंग (Cushing) द्वारा किये हुये दो परीक्षणों का उल्लेख किया है। कुशिंग ने दो रोगियों के मस्तिष्क के प्रेरणा-क्षेत्र और त्वक्-इन्द्रिय-क्षेत्र को खोल कर परीक्षण किया। जब उन्होंने प्रेरणा-क्षेत्रों को उत्तेजन दिया तो शरीर के तत्सम्बन्धी अंगों में गति उत्पन्न हुई परन्तु किसी प्रकार की अनुभूति न हुई। जब त्वक्-इन्द्रिय के क्षेत्र को उत्तेजना दी तो किसी अंग में गति पैदा न हुई। परन्तु स्पर्श की

अनुभूति अवश्य हुई। एक रोगी को ऐसा मालूम हुआ जैसे ठण्ड सी लगती हो। दूसरे ने ऐसा अनुभव किया मानों वह किसी चीज़ को स्पर्श कर रहा है।

(Halliburton, op. cit. p. 279).

इसका सारांश यह निकला कि :—

(१) ज्ञान तन्तु और प्रेरणा-तन्तु समस्त शरीर में फैले हुये हैं। कोई छोटे से छोटा स्थान भी उनसे रिक्त नहीं है। आँख, कान, नाक आदि को इन्द्रियों का गोलक कहते हैं। परन्तु एक अर्थ में समस्त शरीर ही गोलक का काम करता है क्योंकि स्पर्श-इन्द्रिय का गोलक त्वचा तो सभी शरीर में है। माँस की पेशियों आदि का भी यही हाल है।

(२) इन तन्तुओं का सम्बन्ध मस्तिष्क के भिन्न भिन्न भागों से है।

(३) परन्तु इन भागों में एक विशेष अकथनीय सम्बन्ध है, क्योंकि यद्यपि इनके क्षेत्र बँटे हुये हैं तो भी एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि यह भिन्न भिन्न क्षेत्र एक दूसरे से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते। यदि ऐसा होता तो ज्ञान-तन्तु प्रेरणा-तन्तुओं को किसी परोक्ष या प्रत्यक्ष साधन द्वारा प्रेरित न कर

सकते और और शरीर की समस्त व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती।

(४) इन तन्तुओं की प्रवृत्ति समस्त शरीर में समान नहीं है, और न इनकी प्रकृति ही समान है। एक तन्तु एक प्रकार से कार्य्य करता है तो दूसरा दूसरे प्रकार से। यदि एक स्थान के तन्तु की प्रबलता एक मात्रा में होती है तो दूसरे स्थान के तन्तु की दूसरी मात्रा में। मुख्य और गौण, तथा साधक और साधन का भेद निश्चित ही है।

यहाँ एक तो हुई सोचने वाली सत्ता और दूसरा हुआ सोचने का उपकरण। पहले को साधारण भाषा में अन्तः-करण (mind) कह सकते हैं और दूसरे को मस्तिष्क (brain)। संक्षेप के लिये अन्तःकरण ज्ञान, प्रेरणा और अनुभूति के समस्त व्यापार वाली सत्ता को कह लीजिये और मस्तिष्क सोचने के समस्त उपकरण को जिसमें मुख्य मस्तिष्क (brain proper) से लेकर समस्त वात संस्थान (nervous system) आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि अन्तःकरण और मस्तिष्क में क्या सम्बन्ध है? क्या अन्तःकरण का व्यापार मस्तिष्क के व्यापार का अनुसरण करता है या मस्तिष्क का व्यापार अन्तःकरण

के व्यापार का, या दोनों साथ साथ चलते हैं। और यदि यह दोनों साथ साथ चलते हैं तो क्या इन दोनों के ऊपर एक ऐसी शक्ति भी है जो इनमें समन्वय उत्पन्न करती रहे क्योंकि दो स्वतन्त्र और असम्बद्ध चीजें ठीक ठीक समानान्तर नहीं जा सकतीं।

तेरहवां अध्याय

समानान्तरवाद

(Parallelism)

जिस प्रश्न को हमने गत अध्याय के अन्त में उठाया है उस सम्बन्ध में आधुनिक विचारशीलों के दो मत हैं। एक का नाम है समानान्तरवाद (Parallelism) और दूसरे का प्रतिक्रियावाद (Inter-actionism)। पहले हम समानान्तर वाद का उल्लेख करते हैं।

समानान्तर-वाद के पक्षपातियों का दावा है कि अन्तः-करण में जो छोटे से छोटे या बड़े से बड़े विचार उठते हैं उन्हीं के अनुसार वात-संस्थान तथा विशेष कर मस्तिष्क में भी उसी प्रकार के परिवर्त्तन होते रहते हैं। जिस प्रकार रेलगाड़ी की दो लोहे की पटरियाँ समानान्तर रहती हैं और जब एक पटरी पर एक तरफ का पहिया चलता है तभी दूसरी पटरी पर दूसरी तरफ का पहिया चलता है। इसी प्रकार अन्तःकरण और वात-संस्थान दो समानान्तर पटरियाँ हैं। जहाँ एक में किसी

प्रकार का परिवर्त्तन हुआ वहाँ दूसरे में भी उसी के अनुसार परिवर्त्तन होगा।

यदि ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो यह मत ठीक प्रतीत होता है परन्तु थोड़ा सा भी अधिक विचार करने से पता चल जाता है कि इस मत को मानने में कई आपत्तियाँ हैं। स्टौट महोदय ने नीचे लिखे आक्षेप किये हैं :—

पहला आक्षेप

The range of irreducible attributes postulated in neural process are greatly out-numbered by the range of irreducible attributes and relations which enter into the conscious correlates. We are, therefore, compelled to conclude either that some of the constituents of experience are devoid of a neural correlate or that the same kind of neural character has to correspond to radically different factors in mental life.

(Stout's Psychology p. 78.)

अर्थात् तन्तुओं में जितनी तब्दीलियाँ होना सम्भव हैं उनसे कहीं अधिक तब्दीलियाँ मन में हो जाया करती हैं। शरीर में तन्तुओं की संख्या और उनके परस्पर सम्बन्ध की

सीमा हो सकती है परन्तु विचार तरङ्गों और उनके परस्पर सम्बन्ध की सीमा होना कठिन है। यदि विचार तरङ्गों की जटिलता पर विचार किया जाय तो एक तरङ्ग में से इतनी अन्य तरंगें उठ खड़ी होती हैं कि उन सब के लिये एक एक तन्तु खोजना असम्भव है। इससे दो ही नतीजे निकल सकते हैं। या तो यह मानें कि किसी किसी विचार तरङ्ग के लिये तन्तु हैं ही नहीं या एक ही तन्तु भिन्न भिन्न विचार तरङ्ग उत्पन्न कर सकते हैं। दोनों दशाओं में समानान्तरवाद स्थापित नहीं हो सकता है।

इस आक्षेप को अधिक स्पष्ट करने के लिये तार का दृष्टान्त देना ठीक होगा। एक तार घर से दूसरे तार घर तक एक तार लगा हुआ है। उसी पर भिन्न भिन्न ख़बरें जाती हैं। तार बाबू का मस्तिष्क तार के उपकरण से अपनी बुद्धिमत्ता से काम लेता है इसलिये एक ही तार द्वारा सहस्रों प्रकार के सन्देश भेजे जा सकते हैं। तार बाबू के मस्तिष्क और तारों में समानान्तर भाव नहीं है क्योंकि तार बाबू के मस्तिष्क में जितने भाव हैं उतने ही तार नहीं। यह अवश्य है कि तार बाबू के मस्तिष्क में जब तब्दीली होती है तो तार में भी उसी के अनुसार गति उत्पन्न होती है परन्तु प्रत्येक तब्दीली के लिये अलग अलग

तार नहीं है, और न गतियाँ ही उसी प्रकार की हैं। कल्पना कीजिये कि तार बाबू ने सन्देश भेजा, "भाई घर पर है"। फिर उसने सन्देश भेजा। "चिड़िया के पर कट गये"। यहाँ दोनों वाक्यों में "पर" शब्द आया। यह 'पर' का सन्देश भेजने में दोनों दशाओं में तार की गति एक सी होगी परन्तु तार बाबू के मस्तिष्क में पहले 'पर' के द्वारा जो तरङ्ग उठेगी उससे सर्वथा भिन्न तरङ्ग दूसरे 'पर' से उठेगी।

दूसरा आक्षेप

It is difficult to see what can be the physiological counterpart of the unity and identity of the conscious self and of its own awareness of itself as one and identical. Nothing like it is conceivable in the brain or in any part of the material world as ordinarily conceived. Matter is infinitely divisible, and every portion into which it can be divided is just as much a distinct and independent material substance, just as much a separate parcel of matter, as any other. But the conscious self is not divisible

into conscious selves. It is in the strictest sense individual or indivisible.

(p. 79.)

अर्थात् शरीर में कोई ऐसा अंग नहीं है जो विचार करने वाली सत्ता के ऐक्य और ऐक्य-ज्ञान की बराबरी कर सके। हमारे विचारों में ऐक्य है। इनके भाग नहीं कर सकते। परन्तु शरीर, मस्तिष्क या भौतिक संसार के अनन्त भाग हो सकते हैं। जितने टुकड़े करते जाओ उतने ही अलग अलग स्वतन्त्र अणु बनते जांयगे। विचारों के इस प्रकार के भाग नहीं कर सकते, और न विचार-शील सत्ता के टुकड़े किये जा सकते हैं। वह अखण्ड है, और शरीर सखण्ड। इसलिये अखण्ड और सखण्ड वस्तुओं में समानान्तर भाव नहीं रह सकता। हम अपने 'मैं' को कई खण्डों में नहीं बाँट सकते। हमारी अनुभूति हमको यही बताती है कि हम "एक" और "अखण्ड" सत्ता हैं। इसके अनुकूल शरीर में कोई ऐसा अङ्ग है ही नहीं।

तीसरा आक्षेप

When I compare a sensation of purple with a sensation of blue and apprehend their likeness and difference, the sensations are distinct, but

my apprehension of them in their relation to each other is a single act, having a unique sort of unity to which there can be nothing at all similar in the material world. The utmost parallelism can maintain is that the unity of consciousness always accompanies a specially systematic and intimate connection between certain groups of neurons. But this connection cannot, from the nature of the case, be fundamentally different in kind from all other material connections, as the unity of consciousness is fundamentally different from all other forms of unity.

(p. 79.)

जब मैं लाल रंग की अनुभूति की नीले रंग की अनुभूति से तुलना करता हूँ और उनकी समानता और भिन्नता का अनुभव करता हूँ तो यह अनुभूतियाँ अलग अलग प्रतीत होती हैं। परन्तु इन अनुभूतियों का परस्पर सम्बन्ध "एक कार्य्य" है। इसमें एक विचित्र प्रकार की एकता है जिसकी समानता भौतिक संसार में मिलती ही नहीं। समानान्तरवाद केवल इतना मान सकता है कि प्रतीति की इस एकता के साथ साथ स्नायु-कोष्ठों में भी एक नियमित और

विशेष सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यह सम्बन्ध तो अन्य सभी भौतिक सम्बन्धों के समान है। और प्रतीति की एकता ऐसी एकता है जो अन्य एकताओं से सर्वथा भिन्न है।

शायद पाठकगण इस युक्ति को भली भाँति समझे न हों। इसलिये अधिक खोलने की आवश्यकता है। तात्पर्य यह है कि यदि अन्तःकरण और वात-संस्थान के व्यापारों में समानान्तरता मानी जाय तो मानना पड़ेगा कि जब मुझे लाल रंग की प्रतीति हुई तो वातसंस्थान के तन्तुओं में एक प्रकार का विकार हुआ और जब नीले रंग की प्रतीति हुई तो दूसरे प्रकार का। परन्तु मुझे लाल रंग की प्रतीति और नीले रंग की प्रतीति इन दो प्रतीतियों से भिन्न एक और तीसरी प्रतीति भी होती है जब मैं इन दोनों प्रतीतियों की तुलना करने लगता हूँ। इस तुलनात्मक तीसरी प्रतीति के समानान्तर तन्तुओं में कौन सी परिस्थिति उत्पन्न होगी? कल्पना कीजिये कि एक लाल चीज़ मेरे सामने आई। इसकी भौतिक व्याख्या यह हुई कि मेरी चक्षु इन्द्रिय पर किसी पदार्थ विशेष ने प्रभाव डाला। उसने इन्द्रिय-तन्तुओं को उत्तेजित किया। इसी प्रकार नीले पदार्थ ने किन्हीं अन्य तन्तुओं को उत्तेजित किया। यहाँ तक तो समानान्तरवाद ने साथ दिया। अब एक क़दम आगे चलिये। जब मैं लाल

रंग और नीले रंग की प्रतीतियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने लगा और इन दोनों की समानता और भिन्नता पर विचार करने लगा तो एक तीसरे प्रकार की प्रतीति उत्पन्न हो गई जो पहली दो प्रतीतियों से भिन्न हुई। परन्तु इसके समानान्तर कोई भौतिक परिवर्त्तन सम्भव नहीं है। अर्थात् समानान्तरवाद कुछ दूर चल कर ही रह गया। वह हमारे सोचने के व्यापार की पूरी मीमांसा नहीं कर सका।

चौथा आक्षेप

It is equally clear that the relation of the knowing or willing subject to its object cannot be paralleled by any possible relation between material things. I think of the civil war in China, or of the interpretation of $\sqrt{-1}$. or of the other side of the moon, or of my having voted yesterday in the town council election. These are the objects which I mean, to which I intend to refer. But when I thus mentally refer to $\sqrt{-1}$ as having an interpretation, obviously there can be no analogous relation of my body or the neurons of my brain to the root of -1.

Material things may be near each other in space; they may causally interact with each other ; but they cannot do anything like *meaning* or *intending* each other.

(p. 80.)

यह भी स्पष्ट ही है कि जानने या प्रेरणा करने वाले विषयी का विषय से जो सम्बन्ध है उसके समानान्तर भौतिक दुनियाँ में कोई सम्बन्ध है ही नहीं। मैं चीन के आन्तरिक युद्ध की बाबत सोचूँ या —१ के अर्थ की बाबत, या चाँद के दूसरी ओर क्या है इस विषय में, या मैंने कल म्यूनीसिपल निर्वाचन में वोट दिया इस विषय में। यह विषय हैं जिनकी बाबत मैं सोचना चाहता हूँ। परन्तु जब मैं सोचता हूँ कि —१ का भी कुछ अर्थ है तो इसके समानान्तर मेरे शरीर या मेरे मस्तिष्क के तन्तुओं में कोई क्रिया नहीं होती। भौतिक वस्तुयें आकाश में एक दूसरे के निकट रह सकती हैं। वे एक दूसरे पर प्रभाव डाल सकती हैं। परन्तु वह एक दूसरे की व्याख्या नहीं कर सकतीं।

तात्पर्य यह है कि विषय और विषयी का सम्बन्ध एक निराला सम्बन्ध है। भौतिक संसार या केवल शरीर में ऐसा कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

पांचवां आक्षेप

The crucial problem for parallelism is to show neural correlates for the boundless variety of special relations on which association depends. (p. 81.)

अर्थात् समानान्तरवाद यह नहीं बता सकता कि भिन्न भिन्न विचारों के विशेष सम्बन्धों की जो असंख्य कोटियाँ हैं, उनके समानान्तर वात संस्थान के तन्तुओं में कौन कौन परिवर्त्तन होते हैं। इसके बहुत से दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। कल्पना कीजिये कि मैंने कहीं 'राजा' शब्द लिखा देखा। इस शब्द के देखते ही मुझे यह याद आ गई कि यह शब्द संस्कृत के "राऽजृदीप्तौ" धातु से बना है। या यह याद आ गई कि 'राजा' शब्द का स्त्री लिंग 'रानी' बनता है। या इतिहास सम्बन्धी किसी राजा की याद आ गई। या जिस राजा से मुझे परिचय है उसका विचार आ गया। इस प्रकार एक 'राजा' शब्द को लिखा देख कर मन में पचासों तरंगें उठ सकती हैं। उन सब के लिये तन्तुओं का सम्बन्ध जोड़ना असम्भव है।

एक दूसरा उदाहरण नीचे लिखे पद का लीजिये :—

नयन नीर विरही जन का यह।
सरस भाव कवि के मन का यह॥

तथा यही सत्व्रती साधु के, जीवन का व्यवहार।
प्रेम ही वस्तु मात्र का सार॥

यहाँ प्रेम का विरहीजन के आँसुओं, कवि के मन के भावों, और साधु के सत् व्रतों से सम्बन्ध बताया गया है। जो काव्य रस को जानते हैं वह समझ सकते हैं कि इस एक पद के पढ़ने से ही कितने सूक्ष्म विचारों के असंख्य सम्बन्धों की जागृति मन में हो जाती है। क्या समानान्तरवाद इनकी व्याख्या कर सकता है? कदापि नहीं।

छठा आक्षेप

The clearest and most typical cases are supplied by the acquisition of bodily aptitudes for such actions as walking, speaking, swimming, dancing, and so forth. Now these are not learned merely by passive repetition of movements which we have chanced to make in the past. They involve throughout a selective activity by which unsuitable modes of behaviour are weeded out and suitable modes of behaviour are stamped in. The interest, aim, or purpose of the subject is, at every step, a controlling

factor which excludes what does not satisfy it and retains and respects what does satisfy it.

(p. 83.)

अर्थात् हमको चलने, बोलने, तैरने, नाचने आदि शारीरिक व्यापारों का जो निरन्तर अभ्यास हो जाता है उसकी विधि भी यही बताती है कि समानान्तरवाद काम नहीं देता। लोग समझते हैं कि शारीरिक अंगों की विशेष प्रकार की गतियों को दुहराते दुहराते ही अभ्यास पड़ जाता है। परन्तु यह बड़ी भूल है। वस्तुतः बात यह है कि समस्त अभ्यासों में एक आन्तरिक निर्वाचन शक्ति भी काम करती है जो अनिष्ट गतियों को त्यागती और इष्ट गतियों को ग्रहण करती है। कल्पना कीजिये कि एक बच्चे ने दौड़ना सीखा। इस दौड़ने के अभ्यास की समस्या को केवल शारीरिक तन्तुओं के आधार पर हल करना है। प्रायः कहा यह जायगा कि बच्चे ने चलने की कोशिश की। इसने पेशियों पर प्रभाव डाला। उन पेशियों में एक विशेष गति उत्पन्न हुई। यह गति बार बार होती रही और पेशियों को विशेष प्रकार से चलने का अभ्यास हो गया जैसे गाड़ी के पहिये कच्चे मार्ग में लीक बना लेते हैं और बड़ी सुगमता से उसी लीक में चले जाते हैं। परन्तु यह बात ग़लत है। पहले जो बच्चा चलने लगा तो बार

बार गिर पड़ता था। उसके चोट भी लगती थी। इस प्रकार आरम्भ में जितनी बार गिरने का अभ्यास दुहराया जाता है उतना चलने का नहीं। यदि गतियों के दुहराने से ही पेशियाँ अभ्यस्त हो जातीं तो गिरने का अभ्यास भी हो जाना चाहिये था और इस प्रकार बच्चा कभी दौड़ना न सीखता। परन्तु बात यह है कि अभ्यास करने में बच्चे का एक उद्देश्य और दूसरी निर्वाचन शक्ति यह दो व्यापार और शामिल थे। उसका उद्देश्य था कि मैं दौड़ने लगूँ। यह उद्देश्य शारीरिक व्यापार नहीं हैं। दूसरी निर्वाचन शक्ति अर्थात् उस उद्देश्य की पूर्ति में जो गति सहायक है उसको तो बच्चा रखता है और जो गति बाधक है उसको छोड़ने का यत्न करता है। यह निर्वाचन का व्यापार भी शारीरिक नहीं है किन्तु भीतर से उठता है। बच्चा जब चलने में गिर पड़ता है और उठ कर फिर चलता है तो स्पष्ट रीति से यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि अब की बार मैं अपने शरीर के अङ्गों को इस रीति से चलने न दूँगा। इसका अर्थ ही यह है कि केवल शरीर के अङ्गों का ही यह व्यापार नहीं है।

सातवां आक्षेप

We must also recognise as an essential factor the controlling influence of subjective

interest, the direction of conscious life towards ends. The question for parallelism is whether any likely physiological correlate can be found for this teleslogical control. The psychical factor is plainly revealed to us in every moment of our lines; it is a *vera causa*, one which is independently known to exist. If it has such a nervous counterpart as must be assumed by a consistent parallelist, this nervous counterpart is certainly not independently known.

(p. 84.)

तात्पर्य यह है कि हमारे प्रत्येक विचार में एक अन्तिम उद्देश्य का संकेत है। समानान्तरवाद यह नहीं बता सकता कि इस उद्देश्य के समानान्तर शरीर में कौन सा अवयव या कौन सी गति है। मानसिक व्यापार तो स्पष्ट दीखता है। परन्तु उसी के समानान्तर तन्तुओं के व्यापार का ज्ञान नहीं होता।

कुछ लोग केवल इतना कह सकते हैं कि हमको इस समय अपने मस्तिष्क के समस्त तन्तुओं का पूरा ज्ञान नहीं है अतः हम बता नहीं सकते। परन्तु यह निषेधात्मक युक्ति तो कोई युक्ति नहीं है। ऐसा कहने वाले तो स्पष्ट मान लेते हैं कि

उनके पास अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं हैं।

आठवां आक्षेप

"It is a familiar truth that the first acquisition of a habit or an association requires attentive effort and clear consciousness of the several steps of the process, and that with repetition the process goes on more 'automatically' and easily, and with less clear consciousness of the end, or of the steps, or of the impressions by which it is guided, after sufficient repetition, it seems to go on without any effort or attention, and without ever being conscious of it, save possibly in an extremely obscure fashion."

(Mc. Dougall quoted op. cit. p. 276,
Psychology 85).

तात्पर्य यह है कि समानान्तरवाद ध्यान की वृत्ति के समानान्तर कोई शारीरिक क्रिया बता नहीं सकता। जब हम किसी काम को पहली बार करते हैं तो बड़े ध्यान से करते हैं।

बच्चा पहली बार जब लिखने बैठता है तो बड़े ध्यान से क़लम पकड़ता है। ज्यों ज्यों लिखने लगता है यह ध्यान कम हो जाता है। अच्छे लेखक केवल नाम मात्र ध्यान से भी बहुत अच्छा लिख सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब पेशियों को आदत न थी तब तो ध्यान देने की प्रवृत्ति अधिक थी। जब पेशियों को आदत पड़ गई तो यह प्रवृत्ति कम हो गई। यदि मानसिक ध्यान का कोई शारीरिक समानान्तर होता तो आदत के बढ़ने से ध्यान भी बढ़ना चाहिये था। इससे सिद्ध होता है कि समानान्तरवाद ठीक नहीं।

डाक्टर टेलर ने समानान्तरवाद में एक और हेत्वाभास दिखाया है।

Parallelism, taken for anything more than a convenient working hypothesis, would involve a flagrant breach of logic. It is obvious that, as Mr. Bradley has urged, you cannot infer from the premises that one total state, containing both a physical and a psychical element, causes another complex state of the same kind, the conclusion that the physical aspect of the first, by itself, has caused the physical and the psychical aspect of the second. To

get this conclusion you need a "negative instance" in which either the physical or the psychical state is found apart from its correlate, but followed by the same consequent as before, and Parallelism itself denies the possibility of such an instance. From the premisses that A a is always followed by B b, it attempts to infer, without any "dissection of nature," that A by itself was the necessary and efficient condition of B and a of b. And this is, of course, logically fallacious. Dr. Ward expresses the same point differently when he urges that unvarying and precise con-comittance without causal connection is a logical absurdity."

(Elements of Metaphysics by A. E. Talyor, p. 326)

टेलर महोदय का कहना है कि यदि समानान्तरवाद को गौण रीति से काम चलाने के लिये मान लिया जाय तो कुछ हर्ज नहीं। परन्तु मौलिक सिद्धान्त के रूप में इसमें हेत्वाभास आता है। उन्होंने मिस्टर ब्रैडले के एक आक्षेप का उद्धरण किया है। वह कहते हैं कि यदि एक शारीरिक और एक

मानसिक दो घटनाओं के संयोग से एक अन्य शारीरिक और एक अन्य मानसिक घटनाओं का संयोग उत्पन्न हो जाय तो यह नतीजा कैसे निकल सकता है कि शारीरिक घटना से शारीरिक और मानसिक घटना से मानसिक घटना उत्पन्न हो गई। ऐसा नतीजा निकालने के लिये तो व्यतिरेक चाहिये अर्थात् कोई शारीरिक घटना तो हो और मानसिक न हो या मानसिक हो और शारीरिक न हो, फिर भी उससे पहली ही घटना उत्पन्न हो सके। यदि व्यतिरेक होता है तब तो समानान्तरवाद धड़ाम से आ गिरता है क्योंकि समानान्तरवाद की कल्पना ही इस आधार पर हुई है कि व्यतिरेक असंभव है। कल्पना कीजिये कि शारीरिक 'क' का समानान्तर है मानसिक 'च'। इस क+च के संयोग से ख+छ की उत्पत्ति हुई अर्थात् शारीरिक 'ख' और मानसिक 'छ' की। तो इसका अर्थ यह हुआ कि क+च से ख+छ की उत्पत्ति होती है तो यह नतीजा बिल्कुल ग़लत होगा कि 'क' से 'ख' उत्पन्न हुआ और 'च' से 'छ'। डाक्टर वार्ड का कहना है कि निरन्तर समानान्तरवाद बिना कारण-कार्य्य सम्बन्ध के हो ही नहीं सकता। परन्तु समानान्तरवाद शरीर और मन में कारण-कार्य्य सम्बन्ध को स्थापित नहीं करता।

चौदहवां अध्याय

प्रतिक्रियावाद

(Inter-actionism)

पिछले अध्याय में मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि समानान्तरवाद सन्तोषजनक नहीं है। यह सच है कि मानसिक और शारीरिक व्यापारों में कुछ थोड़ी सी अनुकूलता है। परन्तु यह अनुकूलता पूर्णरूप से सिद्ध नहीं होती। इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्रतिक्रियावाद चलाया गया है। इस का सिद्धान्त यह है कि जीवन एक स्वतन्त्र सत्ता है जो वातसंस्थान पर शासन करती और उसमें परिवर्त्तन उत्पन्न करती है।

On this view, when my desire to light a cigarette is followed by the bodily movement of striking a match, this is not due merely to the brain processes which accompany the occurrence of the desire. It involves also the operation of the desire itself, controlling and modifying nervous occurrences, so that they follow

a course which they would not have followed if left to themselves (Stout's Psychology p. 85.)

अर्थात् प्रतिक्रियावाद के अनुसार जब मुझे सिग्रेट जलाने की इच्छा हुई और मैंने दियासलाई को हाथ से जलाया तो इसमें केवल मस्तिष्क के कोष्ठों और तन्तुओं की क्रिया ही नहीं हुई। अपितु इच्छा ने भी काम किया और तन्तुओं को एक विशेष रीति से चलाया। यदि यह भौतिक तन्तु न होते और उनके सिवाय अन्य कोई सत्ता न होती तो कदापि ऐसा न हो सकता।

पाठकगण शायद पूछने लगें कि क्या इस सिद्धान्त के अनुसार वैज्ञानिक घटनाओं की व्याख्या हो सकती है। उदाहरण के लिये यह पूछा जा सकता है कि क्लोरोफार्म देने पर बेहोशी क्यों हो जाती है ? उस समय विचार करने वाली सत्ता स्वयं काम क्यों नहीं कर सकती ? स्टौट महोदय ने इसका उत्तर यह दिया है—

Nervous processes, it would be admitted, are indeed indispensable conditions of consciousness, but not the only indispensable conditions. A proper supply of blood containing oxygen is necessary to the nervous processes themselves; without such a blood supply the

metabolism in the cells of the nervous system cannot go on. But it would be absurd to argue that the blood supply is the sole condition of nervous metabolism and that the neurons themselves and their peculiar constitution have nothing to do with it or that they themselves in their turn have no effect on the blood supply. Similarly there may be a soul distinct from the body and interacting with it, although the conscious life of which this soul is the subject can only go on in connection with certain nervous processes, taking place in the cerebral cortex. (p. 86).

अर्थात् यद्यपि संज्ञान के लिये वात-संस्थान के संचालन की आवश्यकता है परन्तु केवल इसीकी आवश्यकता नहीं है। वात संस्थान के संचालन के लिये ओषजन सहित रुधिर की एक विशेष मात्रा की आवश्यकता है। विना रुधिर के तन्तु काम ही नहीं कर सकते। परन्तु यह कहना भी अनर्थ होगा कि तन्तु संचालन के लिये केवल रुधिर की आवश्यकता है और तन्तुओं की अपनी विशेषताओं का उससे कोई सम्बन्ध नहीं अथवा तन्तुओं का रुधिर की मात्रा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी प्रकार यह हो सकता है कि शरीर से इतर आत्मा की एक स्वतन्त्र सत्ता हो परन्तु आत्मा में जो संज्ञान का प्रकाशन होता है वह मस्तिष्क के तन्तुओं की विशेष गति के विना न हो सके।

इसका दूसरे शब्दों में यह अर्थ है कि प्रतिक्रियावाद के सिद्धान्त के अनुकूल आत्मा या ज्ञान वाली एक अलग सत्ता समझी जा सकती है जिसका उपकरण मस्तिष्क है। उपकरण का अर्थ ही यह है कि विना उपकरण के काम न चल सके। परन्तु इस से उपकरण के प्रयोग करने वाली स्वतन्त्र सत्ता का निषेध नहीं हो सकता। क्लोरोफार्म देने से यह उपकरण बिगड़ जाता है इसीलिये संज्ञा-भंग (बेहोशी) हो जाता है।

Nor is the state of the case altered when we take into account the ascertained facts of cerebral localisation. What follows from these facts is simply this : we cannot have certain experiences in the way of sensation and sensational imagery, unless certain circumscribed areas of the cerebral cortex are excited. But it does not follow that no other condition is ultimately involved in the occurrence of sensations and images. The sensations and images are themselves utterly heterogeneous

in nature from anything which takes place in the cortex; and this naturally suggests the presence of some other factor to account for their peculiar nature. From this point of view of physical science we look for no consequences from merely physical conditions except physical consequences. When therefore something comes into being radically distinct from any material state or process, it would seem that we must either treat its emergence as something totally mysterious and unaccountable from the scientific point of view, or postulate the co-operation of a factor which is not itself material. (p. 87)

अर्थात् प्रतिक्रियावाद के सिद्धान्त के अनुसार मस्तिष्क को भिन्न भिन्न क्षेत्रों में संज्ञाओं और प्रेरणाओं की भिन्नता के अनुकूल बाँटने की क्यों आवश्यकता होगी ? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है जो ऊपर दिया गया अर्थात् जब हम कहते हैं कि मस्तिष्क के अमुक क्षेत्र को प्रभावित करने से अमुक प्रकार की संज्ञा उत्पन्न होती है या अमुक प्रकार की प्रेरणा होती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल अमुक क्षेत्र को प्रभावित करना

ही पर्य्याप्त है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः मस्तिष्क में जो कुछ व्यापार होता है वह संज्ञा आदि मानसिक व्यापारों से सर्वथा भिन्न है। इस लिये स्वभावतः यह मानना पड़ता है कि इस संज्ञान के लिये कोई अन्य सत्ता चाहिये। भौतिक विज्ञान का तो यही नियम है कि भौतिक परिस्थितियों से भौतिक ही परिणाम निकल सकते हैं अभौतिक नहीं। इसलिये यदि कोई अभौतिक परिणाम उत्पन्न हो जाय तो उसके लिये केवल दो बातें मानी जा सकती हैं। एक यह कि कुछ रहस्य है जो समझ में आ ही नहीं सकता और जिसकी मीमांसा ही व्यर्थ है और दूसरी यह कि भौतिक पदार्थों से अलग एक अभौतिक सत्ता है जिसके कारण यह परिणाम हुआ करते हैं।

परन्तु प्रतिक्रियावाद पर भी लोगों ने कुछ आपत्तियां उठाई हैं। जैसे—

The natural sciencces in dealing with material world and its processes, demand that all factors, agencies, and conditions which are not themselves material should be excluded. All motion and all redistribution of material energy must on this view be explained according to general

laws as the result of previous motion and distribution of energy.

This principle is applied, not only to inorganic matter, but also to living organisms and in particular, to occurrences within the brains of men and animals.

Now if we suppose that in consequence of the agency of any immaterial existence or occurrence something happens within the cerebral cortex which would not otherwise happen in the same way as the outcome of purely material condition, the unbroken continuity of physical explanation is destroyed. (P. 81).

भौतिक विज्ञान का नियम यह है कि जब भौतिक जगत् की भिन्न भिन्न घटनाओं की व्याख्या करनी हो तो किसी ऐसी सत्ता की सहायता नहीं लेते जो भौतिक नहीं है इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण गति और सम्पूर्ण सामर्थ्य विभाजन पहली गति और पहले सामर्थ्य विभाजन का परिणाम होते हैं।

यह नियम निर्जीव (अकार्बनिक) और सजीव (कार्बनिक) दोनों प्रकार के पदार्थों पर लागू होता है। मनुष्य

और पशुओं के मस्तिष्क के व्यापारों की व्याख्या भी इसी रीति से की जाती है।

प्रतिक्रियावाद सिद्धान्त में आपत्ति यह है कि यदि हम कोई ऐसी अभौतिक सत्ता मानते हैं जिसके कारण मस्तिष्क में वह परिवर्त्तन हो जाते हैं जो भौतिक कारणों से नहीं हो सकते तो भौतिक व्याख्या की निरन्तर शृङ्खला टूट जाती है।

अब ज़रा देखिये कि मस्तिष्क सम्बन्धी बातों की व्याख्या भौतिक विज्ञान किस प्रकार करता है? ऊपर एक उदाहरण दिया गया था कि जब मैं सिग्रेट पीना चाहता हूँ तो मेरा हाथ दियासलाई जलाने लगता है। इस सम्बन्ध में प्रतिक्रियावादी कहते हैं कि यह इच्छा भौतिक कारणों से उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिये इसके लिये एक अभौतिक आत्मा की सत्ता माननी चाहिये। भौतिक विज्ञान इससे सहमत नहीं है। उसका सिद्धान्त है कि मस्तिष्क में ही कोई ऐसी भौतिक परि-स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसको हम सिग्रेट पीने की इच्छा कहते हैं और जब जब उस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगी तभी तभी उस प्रकार की इच्छा भी अवश्य उत्पन्न हो जायगी।

सामर्थ्य की अविनाशता (Conservation of energy) का नियम यह है कि भौतिक जगत् में सामर्थ्य न तो उत्पन्न की जा सकती है और न उसको नष्ट कर सकते हैं। केवल उसको

इधर से उधर बाँट सकते हैं। जो सामर्थ्य पहले न थी वह अब आ नहीं सकती। जो सामर्थ्य है वह नष्ट नहीं हो सकती। हाँ जो सामर्थ्य एक स्थान में है वह दूसरे स्थान में भेजी जा सकती है। भौतिक विज्ञान वेत्ताओं ने नाप तौल करके पता लगाया है* कि मनुष्य के शरीर में जितनी सामर्थ्य की मात्रा है वह उस मात्रा के लगभग बराबर है जो शरीर द्वारा प्राप्त किये हुए भोजन और ओषजन में होती है।

इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य के शरीर में भोजन आदि की सामर्थ्य की मात्रा से अधिक और सामर्थ्य उत्पन्न ही नहीं होता। फिर व्यर्थ क्यों माना जाय कि भौतिक पदार्थों से इतर अभौतिक आत्मा भी कोई पदार्थ है जिसके बिना मस्तिष्क के व्यापार हो ही नहीं सकते। यदि आत्मा का शरीर पर कुछ प्रभाव पड़ता होता तो सामर्थ्य में अवश्य कुछ न कुछ आधिक्य होता।

---

*The energy value of the output of the human body in the form of work, heat, chemical products, and so forth, equals almost exactly the energy value of food and oxygen absorbed—that is, the value of the sum-total of energy supplied to the body.

(Mc. Dougall, op. cit. p. 93.)

इस आक्षेप को लैड (Ladd) महोदय ने अधिक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है:—

Few will question the statement, that any socalled influence, or causal action, of body and mind upon each other, is incapable of expression in terms of the conservation and correlation of physical energy. Energy, whether stored or kinetic, within the nerve-cells of the cerebral centres cannot become stored or kinetic in the assumed subject of mental phenomena. ....Mental energy ever passes over into the brain ; no nervous energy ever passes over into the mind. (Outlines of Physiological Psychology by George Trumbull Ladd, Professor of Philosophy in Yale University).

"यह तो सभी को मानना पड़ेगा कि शरीर और मन की परस्पर प्रतिक्रिया भौतिक सामर्थ्य की अविनाशता और सम्बन्ध द्वारा मीमांसित नहीं हो सकती। जो सामर्थ्य मस्तिष्क के केन्द्रों के तन्तु-कोष्ठों में है चाहे वह स्थित्यात्मक हो चाहे गत्यात्मक, वह कभी मनो-व्यापार के कल्पित कर्त्ता में (अर्थात् आत्मा) में स्थित या गतिशील नहीं हो सकती।..........मानसिक

सामर्थ्य कभी मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं हो सकती और मस्तिष्किक तन्तुओं की सामर्थ्य कभी मन में प्रविष्ट नहीं हो सकती"।

आक्षेप कर्त्ता का तात्पर्य यह है कि जब मस्तिष्क भौतिक पदार्थ है और मन या आत्मा को अभौतिक मानते हैं तो यह कैसे संभव है कि भौतिक सामर्थ्य अभौतिक चीज़ों में दाखिल हो सके या अभौतिक सामर्थ्य भौतिक चीज़ों में। यदि ऐसा संभव नहीं है तो प्रतिक्रिया के सिद्धान्त का मूल्य ही क्या रहा ? यह तो एक निरर्थक सी चीज़ हो गई।

परन्तु यह आक्षेप प्रतिक्रिया के संकुचित अर्थ के कारण है। वस्तुतः मूल सिद्धान्तों का ऐसे स्पष्ट शब्दों में वर्णन होना कठिन है कि उनमें किसी प्रकार का सन्देह हो ही न सके। लैड ने मन और शरीर का सम्बन्ध बताते हुए सच कहा है कि—

Such a connection is no physical tie or bond. By the word "connection", we only signify *the ultimate fact that the two beings, which are the subjects of the two classes of changes are in the order of nature causally related* (*Ladd p.* 470).

अर्थात् यह सम्बन्ध भौतिक नहीं है। शब्द 'सम्बन्ध' केवल उस मूल तत्व को सूचित करता है जिससे दो सत्तायें

जिनमें दो प्रकार के परिवर्त्तन हो सकते हैं परस्पर कार्य्य कारण सम्बन्ध में जुड़ी हुई हैं।

If it should be complained that, in this way, the entire investigation of physiological psychology ends in a mystery, the truth of the complaint must be granted. The fact that the body and mind are thus, in a great variety of particular ways, causally related, in an ultimate fact ;—this, so far science with its legitimate inferences, can go. But all so-called causal relation is equally mysterious ; it all partakes of the nature of ultimate and inexplicable fact. That one atom of oxygen should influence, or cause, another to act in a certain way, is also an ultimate mystery. That atom of oxygen should cause other atoms of hydrogen, carbon, nitrogen, etc, to act in a great variety of different ways, involves numerous equally mysterious and ultimate "connections".

(Ladd p. 470).

यदि यह शिकायत की जाय कि इस प्रकार तो शरीर रचना और मनोविज्ञान सम्बन्धी सभी अनुसन्धानों का रहस्य

में ही अन्त हो जाता है तो इसको मान लेना चाहिये। यह तो एक मौलिक घटना है कि शरीर और मन कई प्रकार से कारण कार्य्य सम्बन्ध में जुड़े हुए हैं। विज्ञान का यह एक उचित अनुसंधान है। परन्तु सभी कारण-कार्य्य सम्बन्ध रहस्य-मय है। यह एक मौलिक और अनिर्वचनीय घटना है। जब ओषजन का एक परमाणु दूसरे परमाणु पर प्रभाव डालता है या उसको विशेष रीति से व्यवहार करने पर बाधित करता है तो यह भी तो एक मौलिक रहस्य है। ओषजन का एक परमाणु उद्जन, कार्बन, नाइट्रोजन आदि के परमाणुओं पर बहुत से प्रकारों में प्रभाव डालता है। यह भी वस्तुत: मौलिक सम्बन्ध या रहस्य हैं।"

लैड के कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक विज्ञान वाले एक भौतिक पदार्थ के दूसरे भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध को तो वैज्ञानिक कहते हैं और एक अभौतिक पदार्थ के किसी भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध को रहस्य-मय अर्थात् अवैज्ञानिक। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। रहस्य वह है जिसका निर्वचन न हो सके। मौलिक घटनाओं का निर्वचन नहीं हो सकता चाहे वह भौतिक हों चाहे अभौतिक। यदि मन और शरीर का सम्बन्ध रहस्य-मय है तो ओषजन के एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सम्बन्ध भी तो कम रहस्यमय नहीं है क्योंकि इसका निर्वचन भी तो नहीं कर सकते।

सामर्थ्य की अविनाशता के सम्बन्ध में स्टौट महाशय लिखते हैं :—

Does it, therefore, follow that there can be no interaction between body and mind ? This is by no means an inevitable consequence. For modes of interaction are conceivable which do not involve any exception to the principle of conservation. It may be that material energy is being continually transformed into psychical energy and retransformed into material energy. Again, it may be that the agency of mind is merely directive, so that it guides and determines redistribution of energy without increasing or decreasing its amount. The possibility of this has been maintained and defended by the greatest authorities on physics such as Lord Kelvin, and there seems to be no doubt that it is a tenable hypothesis. (Stout p. 89).

"तो क्या इससे यह पाया जाता है कि शरीर और मन में प्रतिक्रिया हो ही नहीं सकती ? इसका यही नतीजा तो नहीं है। क्योंकि प्रतिक्रिया के ऐसे प्रकार सोचे जा सकते हैं जिनसे सामर्थ्य की अविनाशता का सिद्धान्त खण्डित नहीं

होता। सम्भव है कि भौतिक सामर्थ्य मानसिक सामर्थ्य में तब्दील होती हो और मानसिक सामर्थ्य फिर भौतिक सामर्थ्य में। यह भी हो सकता है कि मन केवल गति ही प्रदान करता हो और सामर्थ्य को विना घटाये बढ़ाये केवल उसके विभाजन को ही नियमित करता हो। भौतिक विज्ञान के सब से प्रसिद्ध पण्डित लार्ड केल्विन आदि ने इस सम्भावना का संपोषण किया है, और इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त मानने के योग्य है"।

माना कि गत्यात्मक या स्थित्यात्यक सामर्थ्य की जगत् में एक नियत मात्रा है और उसमें कोई न्यूनता या आधिक्य नहीं हो सकता। तो भी प्रश्न यह रह जाता है कि इस सामर्थ्य का विभाजन करने वाली कोई सत्ता है या नहीं। यह सामर्थ्य स्वयं ही तो गतिशील न होगी। इसको गति कहीं और स्थान से आनी चाहिये। क्या इसको आत्मा न कह सकेंगे? लार्ड केल्विन के सिद्धान्तानुसार तो यह बात असम्भव नहीं है कि ऐसा ही हो।

जो लोग यह कहते हैं कि भौतिक विज्ञान के भीतर हम किसी अभौतिक वस्तु को घुसने न देंगे उनकी स्थिति कुछ अधिक वाञ्छनीय नहीं है। यह ठीक है कि प्रत्येक विज्ञान या विज्ञान के प्रत्येक विभाग को अपने क्षेत्र के भीतर ही रहना चाहिये। परन्तु इस सिद्धान्त की भी सीमा है। भौतिक विज्ञान जिन वस्तुओं को अपना विषय बनाता है

वह वस्तुयें स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु संसार की अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध हैं। एक ही वस्तु कई शास्त्रों का विषय हो सकती है। और जब मौलिक तथा अन्त के सिद्धान्तों का प्रश्न आ जाता है तो कई शास्त्रों में सन्धि करनी पड़ती है। उदाहरण के लिये पहले लोग रसायन शास्त्र को पर्याप्त समझते थे परन्तु आगे चल कर जीवन-शास्त्र की उलझनों को सुलझाने के लिये जीवनरसायन (Bio-chemistry) की आवश्यकता पड़ी। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक उलझनों को सुलझाने के लिये केवल भौतिक विज्ञान से काम न चलेगा। एक विन्दु आयेगा जिसके आगे अभौतिक वस्तु की सहायता लेनी होगी। जिन्होंने इस बात का संकल्प कर लिया है कि हम किसी अभौतिक सत्ता को अपने शास्त्र के क्षेत्र के भीतर घुसने न देंगे उन्होंने बिना सिद्ध किये ही यह मान लिया है कि संसार में कोई अभौतिक सत्ता है ही नहीं। साध्यसम हेत्वाभास इसी को कहते हैं, और इसी के कारण बहुत सी दार्शनिक उलझनें सुलझने को नहीं आतीं। एक समय था कि बहुत से दार्शनिक भौतिक विज्ञान को अपने क्षेत्र के भीतर घुसने नहीं देते थे। यह बड़ा दोष था। इसके विरुद्ध आन्दोलन मचा और भौतिक विज्ञान ने उन्नति की। परन्तु अब भौतिक विज्ञान वाले बदला लेने पर आरूढ़ हो गये। सत्यता एकान्तिक नहीं है, और एकान्तिक सिद्धान्त सदैव कुछ न कुछ दोष पूर्ण रहते हैं।

उदाहरण के लिये मैं एक बात पूछता हूँ। मान लीजिये कि पशुओं तथा मनुष्यों में जितनी गतियाँ पाई जाती हैं उनकी भौतिक व्याख्या सामर्थ्य की अविनाशता से करने के लिये एक भौतिक विज्ञानवेत्ता तैय्यार है। वह कहता है कि मैं इस व्याख्या को कर सकता हूं। प्रश्न यह है कि यह व्याख्या करना भी तो एक व्यापार है। क्या इस "व्याख्या के व्यापार" की व्याख्या भी इसी सामर्थ्य की अविनाशता के नियम से हो सकेगी? वैज्ञानिक पण्डितों के दल के दल भौतिक घटनाओं की मीमांसा करने में तल्लीन हो रहे हैं। उन्होंने अपने को सर्वथा भुला दिया है। संसार की घटनाओं में एक घटना यह भी तो है कि कितने विद्वान् भिन्न भिन्न शास्त्रों के नियमों की खोज कर रहे हों। इस घटना की मीमांसा बिना अभौतिक पदार्थ को माने हुये कैसे हो सकेगी? यह सच है कि उत्तम भोजन से उत्पन्न हुई सामर्थ्य किसी डी० एस०-सी० को उत्तम रीति से सोचने के लिये योग्य बना देगी परन्तु यदि कोई अभौतिक सत्ता नहीं है और केवल भौतिक मस्तिष्क ही है तो कोई सामर्थ्य भी उसे डी० एस-सी० नहीं बना सकती।

हैनरी ड्रमण्ड महोदय ने इस विषय में बहुत अच्छा लिखा है कि :—

The whole mistake of naturalism has been to interpret nature from the standpoint of the atom—to study the machinery, which drives this great moving world, simply as machinery, forgetting that the ship has any passengers, or the passengers any captain, or the captain any course. It is as great a mistake on the other hand, for the theologian to separate off the ship from the passengers as for the naturalist to separate off the passengers from the ship.

(The Ascent of Man by Henry Drummond p. 12.)

भौतिक वादियों ने बड़ी भूल यह की है कि वह सृष्टि की व्याख्या परमाणु को ही दृष्टि में रखकर करते हैं। अर्थात् जो कल इस समस्त ब्रह्माण्ड को चला रही है उसको केवल कल मानकर ही उसकी व्याख्या करते हैं। वह भूल जाते हैं कि जहाज़ पर जहाज़ के अतिरिक्त कुछ मुसाफिर भी हैं या मुसाफ़िरों के साथ कप्तान भी है, या कप्तान का कोई उद्देश्य भी है। धार्मिक लोगों की भी यह भूल है कि वह मुसाफ़िरों से जहाज़ को अलग कर देते हैं जैसे भौतिक वादियों ने जहाज़ से मुसाफ़िरों को अलग करने की कोशिश की है।

पन्द्रहवां अध्याय

अभौतिक आत्मा

समानान्तरवाद और प्रतिक्रियावाद की तुलनात्मक मीमांसा करने से यह पता चलता है कि मन और शरीर दो अलग चीज़ें हैं, और भौतिक शरीर की भौतिक प्रगतियों से ही मानसिक व्यापार की व्याख्या नहीं हो सकती। यहाँ हम शब्द 'मन' के विषय में दो बातें स्पष्ट कर दें। संस्कृत साहित्य में 'मन' एक भौतिक पदार्थ माना गया है और हम पिछले अध्यायों में मन को शरीर से इतर अभौतिक पदार्थ के समान वर्णन करते आये हैं। बात यह है कि "मन" को हम दो अर्थों में ले सकते हैं। जब हम 'शारीरिक,' 'वाचिक' और 'मानसिक' व्यापारों का वर्णन करते हैं तो 'शरीर' शब्द को केवल हाथ पैर आदि अंगों के संकुचित अर्थ में लेते हैं। क्योंकि वास्तविक दृष्टि से तो वाणी और मस्तिष्क भी शरीर के ही अंग हैं फिर वाणी के व्यापार को शारीरिक क्यों न कहा जाय और वाचिक व्यापार की अलग गणना क्यों की जाय? परन्तु मन का एक अर्थ और है। अर्थात् सोचने वाली सत्ता। अंगरेज़ी में माइंड (mind)

और ब्रेन (brain) दो शब्द प्रयोग में आते हैं। ब्रेन अर्थात् मस्तिष्क को शरीर का पिण्ड मानते हैं और माइंड अर्थात् मन को वह सोचने वाली शक्ति जो मस्तिष्क द्वारा सोचती है। संस्कृत साहित्य में मन को स्थूल शरीर से भिन्न एक सूक्ष्म उपकरण माना है जो 'आत्मा' से भिन्न पदार्थ है। हमने पिछले अध्याय में 'मन' को अंगरेज़ी माइंड के अर्थ में लिया है जिसमें आत्मा और मन का दार्शनिक भेद सम्मिलित नहीं है। हम 'मन' और 'आत्मा' के भेद की आगे मीमांसा करेंगे, अभी वह समय नहीं आया कि उस सूक्ष्म अवस्था तक पहुँच सकें। अभी तो स्थूल शरीर और मन का ही झगड़ा चल रहा है। भौतिक-विज्ञान पक्ष वालों का दावा है कि स्थूल शरीर में ही सोचने की भी शक्ति है। इसलिये इसी बात की मीमांसा करना पहले आवश्यक हुआ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि मन या माइंड को मान भी लिया जाय तो क्या यह भी सिद्ध है कि यह अभौतिक है। शरीर भौतिक है उसमें रुधिर, अस्थि, मज्जा आदि सब भौतिक हैं। वातसंस्थान और समस्त तन्तु मण्डल भौतिक हैं। स्थूल भूतों से उत्पन्न हुई सूक्ष्म सामर्थ्य भी भौतिक है। इस प्रकार यह सब चीज़ें भौतिक पदार्थों से सम्बन्ध रखती हैं चाहें वह इन्द्रिय-गोचर हों चाहे न हों, चाहे वह सूक्ष्म यंत्रों से मालूम हो

सकती हों या उनसे भी दृष्टि न पड़ती हों और केवल बुद्धि और तर्क से ही उनका अस्तित्व समझ में आता हो।

भौतिकवाद और आत्मवाद में भेद यह है कि जो व्यापार या गुण आत्मा के बताये जाते हैं भौतिकवादी उन सब को भौतिक पदार्थों से उत्पन्न या उन्हीं में समाविष्ट मानते हैं और उनसे इतर किसी अन्य सत्ता को नहीं मानते। अध्यात्मवादी कहते हैं कि आत्मा एक अभौतिक पदार्थ है जो यद्यपि भौतिक पदार्थों को चलाता है तथापि वह न उनसे बना है और न अपने अस्तित्व के लिये उनके आश्रित है। उनका यह भी कहना है कि भौतिक पदार्थों में इतनी योग्यता नहीं है कि वह उन व्यापारों को कर सकें जो आत्मा से सम्बद्ध किये जाते हैं। पिछले अध्यायों में कई स्थानों पर इन बातों का निराकरण किया जा चुका है। यहाँ संक्षेप से क्रमशः उन्हीं या वैसी ही बातों का वर्णन किया जायगा।

पहली बात

तन्तु-गति और मानसिक क्रियाओं का भेद :-

मस्तिष्क के केन्द्रों में जो आणविक (molecular) विक्षोभ होता है उसकी प्रकृति मानसिक तरंगों की प्रकृति के सर्वथा भिन्न है।

Not even the most pronounced materialists would venture to affirm their identity. Minute movements, or chemical and vital changes, in the molecules of the cerebral mass differ totally, as phenomena, from states of sensation, of perception and ideation with their accompanying tones of pleasurable or painful feeling.

(Ladd's Physiological Psychology, p. 479.)

"पक्के से पक्का भौतिकवादी भी इनकी एकता स्वीकार करने का साहस न करेगा। मस्तिष्क के भीतर अणुओं में जो छोटी छोटी गतियाँ और रसायनिक तथा जीवन सम्बन्धी परिवर्तन होते रहते हैं वह इन्द्रिय-संज्ञान, संकल्प तथा उनके सहकारी सुख दुःख की अनुभूति से सर्वथा भिन्न हैं"।

Even less, perhaps, would any one think of identifying the most complicated and ample nerve commotions with those trains of thought which result in solving a mathematical problem, or with those feelings of adoration and affection which some men experience on contemplating the idea of God. (p. 480).

"इससे भी कम समानता उन जटिल और विस्तृत तन्तु-क्षोभों में और उन विचार-शृङ्खलाओं में है जो किसी गणित की समस्या को हल करने में प्रयोग होती हैं या उन भक्ति के भावों में है जो ईश्वर के गुणों का ध्यान करने में उठते हैं"।

तात्पर्य यह है कि जब हम किसी गणित के प्रश्न पर विचार करते हैं या ईश्वर के गुणों की भावना करते हैं तो उस समय जो विचार हमारे मन में उठते हैं उनकी तुलना हमारे मस्तिष्क के कोष्ठों की जटिल से जटिल प्रगतियों से भी नहीं की जा सकती। क्योंकि विचारों की प्रकृति आणविक क्षोभों की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

दूसरी बात

मस्तिष्क से विचार उत्पन्न नहीं हो सकते :—

भौतिकवादियों का कहना है कि मस्तिष्क के कोष्ठ ही विचार तरंगों को उत्पन्न कर देते हैं। परन्तु पहले इस बात का निश्चय होना चाहिये कि 'उत्पन्न' होने से तात्पर्य क्या है? हम कहा करते हैं कि गाय के थनों में से दूध उत्पन्न होता है। क्या इसी प्रकार मस्तिष्क के कोष्ठ विचार उत्पन्न करते हैं? शायद ही कोई भौतिकवादी ऐसा युक्ति-शून्य होगा जो इस बात को स्वीकार कर ले।

कुछ लोग कहते हैं कि—

The brain throws off the mental phenomena as a kind of surplusage—so to speak—of its more legitimate form of activity by way of molecular motions. (Ladd p. 481).

मस्तिष्क का मुख्य काम यह है कि आणविक प्रगतियाँ उत्पन्न किया करे। इन प्रगतियों में जो फ़ाज़िल रह जाता है वही मानसिक व्यापार के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु यह तो व्यर्थ की बिडम्बना है जिसका कुछ भी अर्थ नहीं है।

एक तीसरी बात और मानी जा सकती है। अर्थात् मस्तिष्क के अणुओं की प्रकृति, व्यवस्था तथा परिस्थिति इस प्रकार की है कि उनसे नये सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं सम्बन्धों को मानसिक विचार कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पहली अवस्था से पिछली अवस्था उत्पन्न हुआ करती है अर्थात् अणुओं की पूर्वकालिक परिस्थिति उनकी अनुकालिक परिस्थिति का कारणरूप है।

If, however, such a mechanical theory of the behavior of the brain, regarded as a system of material beings, could be perfectly adjusted to the principle of the conservation and corre-

lation of energy, we do not see how it would enable us to regard the behavior of the mind—the phenomena of mental states—as 'products' of the same antecedent changes. Out of nerve-commotions, as their product, other nerve-commotions come. But how are the phenomena of knowing, feeling and choosing rendered any less incomparable with the molecular changes of nervous matter by speaking of them, too, as *products* of the substance of the train ?" (Ladd p. 482.)

लैड का कहना है कि यदि मस्तिष्क का यह भौतिक यांत्रिक सिद्धान्त सामर्थ्य की अविनाशता के सिद्धान्त से मिलाया जाय तो मानसिक विचारों को एक ही पूर्वकालिक परिवर्त्तनों से उत्पन्न हुआ नहीं मान सकते। तन्तु-विक्षोभ से तो केवल तन्तु विक्षोभ ही उत्पन्न हो सकते हैं। ज्ञान, अनुभूति तथा निर्वाचन की घटनायें आणविक प्रगतियों का कार्य्य मानी नहीं जा सकतीं।

इस पर वैटहम का कथन भी पढ़ने योग्य है :—

"A ray of star light may be traced by physics from its distant source to its effect on an

optic nerve, but, when conciousness apprehends its brightness and colour and feels its beauty, the sensation of light and the knowledge of beauty certainly exist, and yet they are neither mechanical nor physical."

(History of Science its Relations with Philosophy and Religion by Dampier Whetham p. XX.)

"भौतिक शास्त्र इस बात की व्याख्या तो कर सकता है कि किसी तारे से चलकर प्रकाश की किरण किस प्रकार आँख के तन्तु तक आ सकी परन्तु जब उसकी चमक और रंग का भान होता है और उसके सौन्दर्य की अनुभूति होती है तो प्रकाश और सौन्दर्य का संज्ञान वस्तुतः एक अलग सत्ता रखते हैं। यह न तो यांत्रिक क्रियायें हैं न भौतिक व्यापार"।

तीसरी बात

मानसिक विचार सदा तन्तु-सम्बन्धी परिवर्त्तनों के पूर्वकालिक होते हैं :—

भौतिकवादियों की युक्ति यह है कि जब तक मस्तिष्क में विशेष प्रगति उत्पन्न न हों मानसिक विचार भी नहीं उठते। इसलिये मानसिक विचारों को मस्तिष्क की प्रगतियों के आश्रित

समझना चाहिये। परन्तु इसमें दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो यदि मान भी लिया जाय कि मानसिक विचार मस्तिष्क की प्रगतियों के आश्रित हैं तो भी मन की स्वतन्त्र सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता।

Every material mass or atom, is dependent upon the behavior of some other similar mass or atom, for the character of its own changes. But physics does not, on this account deny its reality. (Ladd. p 483.)

"प्रत्येक भौतिक मात्रा या परमाणु अपनी निज प्रगतियों के स्वरूप के लिये उसी प्रकार की मात्रा या परमाणु की प्रकृति के आश्रित है परन्तु इस कारण से भौतिक शास्त्र उसके अस्तित्व का निषेध नहीं करता"।

फिर समझ में नहीं आता कि मानसिक विचारों के मस्तिष्क की प्रगतियों के आश्रित रहने मात्र से मानसिक विचारों के स्वतन्त्र अस्तित्व का क्यों निषेध किया जाय?

परन्तु दूसरी बात और अधिक महत्व की है।

The investigations of physiological psychology furnish abundant proof, on the other hand, that mental phenomena are the regular

antecedents of changes in the cerebral centres, and through these changes, of changes in the other bodily organs. Indeed, the more comprehensive, minute, and profound its investigations are, the more convincing does the evidence to this effect become, (Ladd. 482).

अर्थात्—शरीर—रचनात्मक मनोविज्ञान के अनुसन्धान इस बात का पुष्टिकर प्रमाण हैं कि मानसिक विचार मस्तिष्क के केन्द्रों की प्रगतियों के और उनके द्वारा अन्य शारीरिक प्रगतियों के पूर्वकालिक हैं (अनुकालिक नहीं)। जितना अधिक विस्तृत और गहरा अनुसन्धान किया जाय उतनी ही इस बात की अधिक पुष्टि होती है।

चौथी बात

मन अस्तित्व का अधिक अधिकारी है:—

भौतिकवादियों का दावा है कि—

Nothing can happen by way of conscious sensation, perception, aesthetic, or religious feeling and belief, abstract conception, or so-called free choice which does not find its only

real explanation in the equivalent changing states of the nervous system. (Ladd. p. 483).

अर्थात् इन्द्रिय संस्कार, संज्ञान, सौन्दर्य का भाव, धार्मिक अनुभूति और विचार, कल्पना, स्वतंत्र निर्वाचन शक्ति आदि जितने मानसिक व्यापार कहे जाते हैं उन सब की वास्तविक व्याख्या वात-संस्थान की समानान्तर प्रगतियों से हो जाती है।

इस पर लैड महोदय दो बातें कहते हैं।

Our first impression on considering the forgoing theory is one of surprise at its audacity.

अर्थात् प्रथम तो भौतिक वादियों का ऐसा कहना आश्चर्य-जनक धृष्टता है, क्योंकि बहुत सी मनो-वैज्ञानिक बातों की इनके द्वारा व्याख्या हो ही नहीं सकतीं।

दूसरे—

The independent development of the mind—its life and growth as a non-material entity, under forms and laws of unfolding that are unique, constitutional, wholly peculiar to itself—is also a legitimate conclusion of the same science. (Ladd. p. 484).

अर्थात् शरीर-रचनात्मक मनोविज्ञान के अनुसन्धान का यह निश्चयात्मक सिद्धान्त है कि मन का विकास स्वतंत्र रूप से

होता है, और उसके नियम भी वही नहीं है जो भौतिक पदार्थों के विकास के हैं किन्तु उन नियमों में एक विशेषता पाई जाती है।

इसलिये यह कहना कि अभौतिक मन कोई अलग सत्ता नहीं है, ठीक नहीं है।

पाँचवीं बात

मानसिक जीवन में कई ऐसी बातें हैं जिनका शरीर की किसी अवस्था से सम्बन्ध नहीं है:—

प्राय: यह समझा जाता है कि ज्ञान-तन्तु और प्रेरणा-तन्तुओं के संचालन से ही सब मानसिक व्यापार होता है। परन्तु यह बात नहीं है। कई ऐसे मानसिक व्यापार हैं जो इन तन्तुओं की प्रगतियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

(१) जब हम लोहे का एक टुकड़ा हाथ पर रक्खें तो एक नियत मात्रा दबाव की प्रतीत होती है और जब उसके ऊपर एक दूसरा टुकड़ा रख दें तो दबाव का आधिक्य अनुभव होता है। यह टुकड़ा अनुभव नहीं है। टुकड़ा और चीज़ है और अनुभव और चीज़। परन्तु दबाव के अनुभव के साथ यह अनुभव भी होता है कि कोई और चीज़ हाथ पर आ गई है।

यह "चीज़ के अस्तित्व का अनुभव" "दबाव के अस्तित्व के अनुभव" से अलग व्यापार है। इस प्रकार दो मानसिक, व्यापार हुये एक तो 'दबाव के अस्तित्व का अनुभव' दूसरा 'लोहे के टुकड़े के अस्तित्व का अनुभव'। पहले अनुभव के समानान्तर तो शारीरिक क्रिया है अर्थात् जब ज्ञान-तन्तुओं पर दबाव पड़ता है तो दबाव का अनुभव होता है। परन्तु लोहे के टुकड़े के अस्तित्व का अनुभव किसी अन्य तन्तुओं के व्यापार से नहीं होता। इसको मनका विशेष व्यापार ही कह सकते हैं।

Certain fundamental assumptions, or belief enter into all perceptions by the senses. No perception is a mere combination of sense complexes, representable in terms of correlated changes of stimuli, and of nerve-commotions. Perception is a knowledge of "Things". No "Thing" is known as a mere grouping sensation—complexes. (Ladd p. 485).

अर्थात् हमको जो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान होता है उसमें केवल इन्द्रिय संस्कार ही नहीं होते। वस्तु का ज्ञान संस्कारों का योग मात्र नहीं है और न उसकी केवल तन्तुओं की गतियों से ही व्याख्या हो सकती है। ज्ञान पदार्थों का ज्ञान है। केवल संस्कारों के

जोड़ने से ही पदार्थ नहीं बन जाता । यह 'पदार्थ के ज्ञान' की योग्यता मन की अपनी योग्यता है। इसी से मन का विकास होता है। जिन द्रव्यों का अस्तित्व हम मानते हैं उनके विषय में ऐसा नहीं मानते कि गुण ही द्रव्य हैं किन्तु द्रव्यों में गुण है। यह भावना मन के विशेष कार्य्य से होती है। शरीर में कोई ऐसी क्रिया नहीं है जिससे यह भावना उत्पन्न हो सके।

(२) मन के उच्च विकास का भी यही हाल है। जब हमको किसी पुरानी घटना की याद रहती है तो इस स्मृति के साथ साथ वात-संस्थान का कुछ व्यापार भी होता है परन्तु यह पहचान करना कि यह वही वस्तु है जिसे हमने गत वर्ष देखा था वात-संस्थान की किसी क्रिया के कारण नहीं हो सकता, इन वर्तमान और भूतकालिक अनुभवों को मिलाने के लिये तो अवश्य एक आत्मा चाहिये, क्योंकि स्मृति केवल दो कालों में होने वाले अलग अलग अनुभवों का नाम नहीं है। इसके साथ एक और व्यापार शामिल है अर्थात् हमको यह भी अनुभव है कि यह दो अनुभव "हमी" को हुये।

(३) अनुमान प्रमाण के समानान्तर कोई मस्तिष्क की क्रिया नहीं हो सकती और न भौतिकवादियों के पास इसका कोई प्रमाण है। कल्पना कीजिये कि एक पागल आदमी है अर्थात् उसके मन में विकार है। एक भौतिकवादी यह कहेगा

कि मानसिक विकार मस्तिष्क के विकार के कारण हैं। हम पूछते हैं कि क्या तुमने इस पागल के मस्तिष्क को देखा है। उसको कहना पड़ेगा कि "नहीं"। फिर उसने कैसे जाना कि कि उसके मस्तिष्क के भीतर भी विकार है? कहा जा सकता है कि लाशों को चीर कर देखा है। उसी से "अनुमान" किया है। परन्तु 'अनुमान' करना तो शारीरिक क्रिया नहीं है। यह तो शुद्ध अभौतिक मानसिक क्रिया है। समस्त भौतिक विज्ञान केवल भौतिक नियमों का ही नाम नहीं है किन्तु उन भौतिक नियमों के ज्ञान का नाम है जो शास्त्र के रूप में आते हैं। यह 'शास्त्र' या 'विज्ञान' बिना आत्मा के बन नहीं सकता।

(४) कल्पना कीजिये कि एक भौतिकवादी सामने आता है और कहता है कि भौतिक शरीर से इतर कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको "सोचने वाला अभौतिक आत्मा" कह सकें। हम उससे कहेंगे कि यदि तुम्हारा कहना यथार्थ नहीं तो तुम्हारा पक्ष गिर ही गया। परन्तु यदि तुम्हारा कहना यथार्थ है तो भी तुम्हारे पक्ष की पुष्टि नहीं होती क्योंकि केवल भौतिक मस्तिष्क ही तुम जैसे वाद-विवाद करने वाले व्यक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता। तुम्हारी यह धारणा कि तुम्हारा पक्ष ठीक है कोई शारीरिक क्रिया नहीं। यह शुद्ध

आत्मिक क्रिया है। लैड ने एक जगह बहुत अच्छा लिखा है कि—

Surely the souls we know we are should receive as much consideration as the elements of that pulpy mass we call our brains. (p. 483).

अर्थात् जितना आदर उस मांस के लोथड़े का किया जाता है जिसको मस्तिष्क कहते हैं उतना हमें आत्माओं का भी तो करना चाहिये क्योंकि हमको अपने आत्मा होने की अनुभूति है।

यदि मांस का एक टुकड़ा पड़ा हो और कोई उसके अस्तित्व से इन्कार करे तो वह टुकड़ा उठकर वाद-विवाद न करेगा। परन्तु यदि कोई आदमी खड़ा हो और दूसरा आदमी कहे कि "यह नहीं है" तो वह आदमी अवश्य ही वाद-विवाद करने लगेगा। यह क्यों? इसलिये कि उस मांस के लोथड़े को अपने अस्तित्व का ज्ञान नहीं और मनुष्य को है। यह ज्ञान शारीरिक व्यापार कैसे हो सकता है। जो भौतिक विज्ञानवेत्ता समस्त भूतों का अस्तित्व मान कर अपने आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते वह पंचदशी में बताये हुये उन दस आदमियों के तुल्य हैं जो अन्य नौ को गिन कर अपने को नहीं गिनते थे और रोते थे कि हाय हममें

से एक आदमी नदी में डूब गया। भेद केवल इतना है कि उनको दसवें की तलाश थी और इनको अपनी तलाश भी नहीं। इन्होंने स्वयं ही समझ रक्खा है कि सब कुछ है। हम नहीं हैं।

छठी बात

प्रबल मानसिक विचार शारीरिक क्रियाओं को रोक सकते हैं :—

स्टौट महोदय ने इसके लिये क्रैनमर का उदाहरण दिया है। क्रैनमर एक प्रोटेस्टेंट पादरी था जिसको महारानी मेरी के राज में इङ्गलैण्ड में जीवित जला दिया गया था। पहले उससे कहा गया कि यदि तुम अपना धर्म बदल लो तो तुमको क्षमा कर दिया जायगा। उसने अपने जीवन के लोभ में प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। परन्तु पीछे से उसको बड़ा अनुताप हुआ और उसने उस प्रतिज्ञा को वापिस ले लिया। इसके फल स्वरूप उसको जलती हुई आग पर बाँध दिया गया। जब वह जलाने के लिये लाया गया तो उसने अपना दाहिना हाथ स्वयं आग में डाल दिया और कहने लगा, "मेरे इस हाथ ने मुझे पतित होने में सहायता दी इसलिये इसी को सब से पहले जलना चाहिये"। हाथ

जलता रहा परन्तु क्रैनमर की ओर से कोई यत्न उसके हटाने का न किया गया। साधारणतया आग पर हाथ पड़ते ही स्वाभाविक प्रेरणा द्वारा ही हाथ को हट जाना चाहिये था जैसा कि प्रत्येक नर नारी का अनुभव है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मिक प्राबल्य ने शरीर के साधारण व्यापार को रोक लिया।

इस प्रकार के वीर पुरुषों के उदाहरण से इतिहास भरे पड़े हैं। प्रत्येक युग और देश में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे भौतिकवाद की किसी प्रकार भी पुष्टि नहीं होती। क्रैनमर का पहले डर कर प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करना, फिर अनुताप करना, फिर प्रतिज्ञा को लौटाना और अपने हाथ को प्रथम आग में जलाना यह सब बातें एक ही ओर संकेत करती हैं अर्थात् आत्मा अभौतिक है। और शरीर उसका उपकरण मात्र है।

सोलहवां अध्याय

भौतिकवादियों की असफलता

प्राचीन काल के लोकायतिक मतवादियों ने केवल मद्य आदि के नशे तथा अग्नि जल आदि के स्थूल कार्यों को देखकर ही कल्पना करली थी कि भूतों के परस्पर मेल से ही चेतनता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु यूरोप के विज्ञानवेत्ताओं ने शरीर के प्रत्येक आन्तरिक अंग का सूक्ष्म अन्वीक्षण करके मन की प्रत्येक गति को शारीरिक गतियों के आधार पर सिद्ध करने की कोशिश की।

कुछ लोगों का ख़्याल था कि शरीर में बहुत सी ऐसी जटिल वस्तुयें पाई जाती हैं जो जीवन शक्ति के विना नहीं बन सकतीं और जिनकी केवल रसायन शास्त्र द्वारा व्याख्या नहीं हो सकती। इसके विरुद्ध १९ वीं शताब्दी के रसायन शास्त्र वाले यही यत्न करते रहे कि इन चीज़ों को जीवित शरीरों के बाहर भी बनाकर दिखादें। सब से पहले तो परीक्षण करके यह पता लगाया गया कि जीवित शरीरों के यह पदार्थ कार्बन से बनते हैं। कार्बन के परमाणुओं में कुछ ऐसी विचित्र शक्ति है कि वह

आपस में मिलकर या अन्य पदार्थों के परमाणुओं से मिलकर एक नई वस्तु बना देते हैं। जब यह पता चल गया तो भौतिक-वादियों को मानो विजय प्राप्त हो गयी। अब आत्मा या जीव मानने की क्या आवश्यकता? कार्बन से ही सब काम चल जायगा? परन्तु क्या कार्बन उन चीज़ों को जीवित शरीर के बाहर भी बना सकता है जिनको वह भीतर ही बनाता है? यदि बाहर यह चीज़ें नहीं बन सकतीं तो अवश्य ही मानना चाहिये कि चाहें कार्बन में इस प्रकार की शक्ति हो तथापि इसको उन चीज़ों के बनाने में जीवनशक्ति का आश्रय लेना चाहिये।

परन्तु रसायनज्ञों ने एक पग आगे बढ़ाया। १८२८ ई० में फ्रीडरिक वोह्लर (Friedrich Wohler) ने मूत्रिया या यूरिया नामी एक ऐसी चीज़ बना डाली जो केवल शरीर के पदार्थों में ही पाई जाती है। इससे लोगों को आशा बंधी। अब यह प्रश्न हुआ कि कार्बनिक वस्तुओं के तत्वों का ठीक ठीक परिमाण मालूम हो जाय तो उसी परिमाण से मिलाकर वस्तुयें बन सकेंगी। १८३० ई० में जस्टस लीबिग (Justus Leibig) ने ऐसी रीतियाँ निकालीं जिनसे कार्बनिक पदार्थों के तत्वों का ठीक ठीक परिमाण ज्ञात होने लगा।

इन परीक्षणों ने एक नई खोज में सहायता दी। कुछ ऐसी चीज़ों का पता चला जिनमें तत्वों का परिमाण तो सम था

परन्तु उन चीज़ों के भौतिक और रासायनिक गुण सर्वथा भिन्न थे। जैसे मूत्रिया और अमोनियम श्यामेत (Ammonium cyanate) में। इसको समरूपता (Isomeris) कहते हैं। यह एक कठिनाई थी जिसकी व्याख्या आवश्यक थी क्योंकि यदि कुछ तत्त्व एक ही परिमाण में मिलाये जायं तो भिन्न भिन्न गुण वाले पदार्थ क्यों बनें। बर्ज़ीलियस (Berzelius) ने परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध किया कि इस भिन्नता का कारण आणविक क्रम (Molecular arrangement) है।

अब अन्य कार्बनिक पदार्थ भी बनाये जाने लगे। १८८७ ई० में एमिल फिशर ने (Emil Fischer) ने फलोज (Fructose) और द्राक्षोज (Glucose) बना डाला, और लोग समझने लगे कि शनैः शनैः वैज्ञानिक परीक्षणालयों में पशु पक्षी और मनुष्य भी बनाये जाने लगेंगे।

परन्तु यह एक मीठा स्वप्न था। मनुष्य की इन परीक्षण सम्बन्धी प्रवृत्तियों ने मनुष्य जाति की ज्ञान राशि को तो बहुत बढ़ा दिया। भिन्न भिन्न प्रकार की ऐसी वस्तुयें मालूम हो गई जिनसे चिकित्सा करने में बड़ी सहायता मिली। आजकल रसायनज्ञ लोग निरन्तर कार्बनिक चीज़ों के बनाने में लगे हुये हैं और बहुत सी चीज़ें बनाली गई हैं। परन्तु किसी प्राणी के

बनाने में सफलता नहीं हुई। शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं में जो प्रसिद्ध हैं वे जीवन-शक्ति को अब भी माने चले जाते हैं।

विकैट (Bichat) ने जो १७७१-१८०२ तक हुआ यह सिद्ध किया था कि हमारे शरीर में बहुत से छोटे छोटे जीवित शरीर हैं जो हमारे शरीर के बनाने में मदद देते हैं। उसका कथन था कि जीवन शक्ति और भौतिकी तथा रसायन में युद्ध हुआ करता है और मृत्यु के पश्चात् भौतिकी और रसायन का इतना राज हो जाता है कि शरीर नष्ट हो जाता है।*

एक दूसरे फरासीसी शरीर-वैज्ञनिक मैजेण्डी (Majendie) ने जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हुआ यह बतलाया कि 'some phenomena of living bodies were due to an inexplicable vital principle.'

कि "जीवित शरीरों की कुछ घटनाये' एक ऐसे जीवन नियम के कारण हैं जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती"।

* He held that there is in life a conflict between vital forces and those of physics and chemistry, which after death resume their undivided sway and destroy the body.

(Whetham's History of Science p. 274.)

क्यूवियर (Cuvier) महाशय भी ऐसा ही मानते थे।

शरीर विज्ञान के अन्वेषणों ने तो एक प्रकार से काया ही पलट दी है। एक हैं प्रेरकाणु या एंज़ाइम (Enzymes) और दूसरे कीटाणु (Bacteria)। १८७८ ई० में कूहनी (Kuhne) ने प्रेरकाणुओं का पता लगाया। यह वह अणु हैं जो रसायनिक क्रियाओं में शीघ्रता उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण के लिये यदि किसी कार्बनिक पदार्थ को केवल भौतिक पदार्थों द्वारा परीक्षणालयों में तैय्यार किया जाय तो बहुत देर लगती है और यदि प्रेरकाणु प्रविष्ट कर दिये जायें तो कार्य्य बहुत शीघ्रता से होने लगता है। यह प्रेरकाणु शरीरों में पाये जाते हैं।

१८३८ ई० में लाटूर (Latour) और श्वैन (Schwann) ने यह मालूम किया कि चीज़ों में जो जोश या सड़ान उत्पन्न होती है वह कीटाणुओं के कारण है। यदि ताप के आधिक्य से इन कीटाणुओं को मार दिया जाय तो सड़ान नहीं उत्पन्न हो सकती। १८५५ ई० में पास्टर (Pasteur) ने यह सिद्ध किया कि भिन्न भिन्न रोगों के भिन्न भिन्न कीटाणु होते हैं। १८८२ ई० में कोक (Koch) ने बतलाया कि क्षयीरोग के विशेष कीटाणु होते हैं। १८८० ई० में लैवरन (Laveran) नामी एक फ्रांसीसी युद्ध डाक्टर ने मैलेरिया रोग का कारण एक प्रकार

के कीटाणु बताये थे। पांच वर्ष पीछे मैनसन (Manson) और रौस (Ross) ने सिद्ध किया कि यह कीटाणु मच्छरों के शरीर में रहते हैं और इसी से मैलेरिया ज्वर फैलता है। यदि दलदलों को सुखाकर इन मच्छरों को नष्ट कर दिया जाय तो मैलेरिया का रोग नहीं रहता।

The first thorough study of an ultra-microsocopic virus was made by Loffler and Frosch in 1893. They showed that the lymph from an animal suffering from foot-and-mouth disease, when passed through a filter which would stop ordinary bacteria, would still infect a number of other animals in series. They inferred that they had to deal with a reproducing micro-organism and not with an inanimate poison. It is still uncertain whether these ultra-microscopic, fitlerable viruses, which cause many discases in animals and plants, are particulate bacteria. If so, they must be so small that they approach molecular dismensions. It has been suggested that they may represent a new type of non-cellular living matter. (Whetham's History of Science p. 285).

"१८९३ ई० में लौफ्लर और फ्रौश ने अत्यन्त सूक्ष्म विषाणुओं का विशेष अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि यदि किसी पैर और मुंह पके पशु का लिम्फ ऐसे छन्ने में छाना जाय जिसमें साधारण कीटाणु ऊपर रह जायं फिर भी उस छने हुये लिम्फ में ऐसे गुण रह जाते हैं जिनसे निरन्तर अन्य पशुओं को वही रोग उत्पन्न हो जाता है। इससे उन्होंने यह अनुमान निकाला कि यह निर्जीव विष नहीं है किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणु हैं जिनकी सन्तान-वृद्धि होती रहती है। अभी यह निश्चय नहीं हो सका कि यह अत्यन्त सूक्ष्म छन्ने में से भी निकल जाने वाले विषाणु जो पशुओं और पौधों में बहुत से रोग उत्पन्न कर देते हैं विशेष कीटाणु ही हैं। यदि यह ठीक है तो वे इतने सूक्ष्म होंगे कि उनका परिमाण आणविक परिमाण के लगभग होगा। यह अनुमान किया जा रहा है कि यह छिद्र-रहित विशेष प्रकार की जीवित वस्तु हैं"।

ऊपर के अन्वेषण हमको किस नतीजे पर पहुँचाते हैं? वैज्ञानिकों का आरम्भिक प्रयत्न यह था कि जीवन-शक्ति का निषेध किया जाय और केवल जड़ पदार्थों की सहायता से जीवन-सम्बन्धी घटनाओं की व्याख्या कर दी जाय। परन्तु ज्यों ज्यों मनुष्य का वैज्ञानिक ज्ञान बढ़ता गया त्यों त्यों इस जीवित पदार्थ से छुटकारा नहीं मिला। पहले तो केवल यही

कहा जाता था कि हमारे शरीर की भिन्न भिन्न क्रियायें हमारे जीव के कारण होती हैं। परन्तु अब वैज्ञानिकों ने बताया कि हमारे शरीर में भी बहुत से अन्य छोटे छोटे शरीर हैं जिनमें जीव रहते हैं। यह जीव अपने शरीर को बनाने के साथ साथ हमारे शरीर के बनाउ बिगाड़ में भी मदद दिया करते हैं। मानो हमारा शरीर क्या हुआ, एक बड़ा नगर हुआ जिसमें असंख्य प्राणी रहते हैं। यह कोरे जड़ नहीं हैं। इनमें चेतनता है। यह चेतनता जड़ पदार्थों से उत्पन्न नहीं हुई, किन्तु इसमें एक विशेष अजड़ या चेतन नियम काम करता है।

आप शायद कहने लगें कि शरीर विज्ञान शरीर में एक शासक जीव की सिद्धि तो नहीं करता। सहस्रों जीवों की सिद्धि कर देता है। परन्तु इस पर हमारा उत्तर यह है कि यदि शरीर विज्ञान के साथ मनोविज्ञान को भी मिलाइये तो अवश्य ही शरीर के शासक एक जीव को मानना पड़ता है जैसा कि हम मनोविज्ञान सम्बन्धी अध्यायों में लिख आये हैं। शरीर में अनेकों ऐसे व्यापार हो रहे हैं जिनकी व्याख्या केवल कीटाणुओं या प्रेरकाणुओं द्वारा न हो सकेगी। यह कीटाणु तो शरीर के छोटे छोटे अवयवों को बनाया या बिगाड़ा करते हैं परन्तु वह उस इच्छा शक्ति या ज्ञान-शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकते जिसके द्वारा हम अपने ज्ञान-तन्तुओं

या प्रेरणा-तन्तुओं से काम लेते हैं। सम्भव है कि इन कीटाणुओं के छोटे छोटे शरीरों में भी अलग अलग ज्ञान-शक्ति और प्रेरणा-शक्ति उसी प्रकार छोटी छोटी कक्षाओं के भीतर काम करती हो जैसी हमारे शरीर में हमारे द्वारा हो रही है। परन्तु जीवन-शक्ति के विशेष अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

एक और बात है। यदि कोई वैज्ञानिक यह सिद्ध कर दे कि हमारे समस्त शारीरिक व्यापार की व्याख्या विना चेतन शक्ति के की जा सकती है तो मैं उससे एक बात पूछूँगा। वह यह कि तुमने इतनी सिद्ध करने को जो चेष्टा की और तुमको इस कार्य्य में जो सफलता प्राप्त हुई यह दोनों बातें विना चेतन सत्ता के सिद्ध नहीं हो सकतीं। भौतिकवाद स्वयं एक वाद है। "वाद" शब्द उन समस्त घटनाओं का बोध कराता है जिनमें निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण, निर्वाचन आदि सहस्रों क्रियायें समाविष्ट हैं। यह सब विना चेतन के कैसे हो सकेंगी? यदि संसार में केवल एक ही सायंटिष्ट (वैज्ञानिक) रहजाय और वह समस्त विद्वानों के मस्तिष्कों के व्यापार को चेतनता रहित जड़ शक्ति से सम्बद्ध कर दे तो भी उसे अपने मस्तिष्क के व्यापार का कारण बताना होगा और मुझे विश्वास है कि वह इसको विना चेतनशक्ति का अस्तित्व माने सिद्ध न कर सकेगा।

सत्रहवाँ अध्याय

स्वप्न और सुषुप्ति

प्राचीन शास्त्रों में प्राणी की तीन अवस्थायें मानी गई हैं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। हम सभी को इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव है। इसके लक्षण क्या हैं? यह अवस्था भेद किस कारण से होता है? इस विषय में संभव है कि लोगों में मत भेद या विषम ज्ञान हो परन्तु क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित सभी को प्रतिदिन इसका अनुभव होता रहता है।

चलिये। जाग्रत से आरंभ करें।

माण्डूक्य उपनिषत् में जाग्रत के यह लक्षण दिये हैं:—

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥

पहली अवस्था जाग्रत है। इसके सम्बन्ध में पाँच बातें कही गई हैं:—

(१) बहिष्प्रज्ञः अर्थात् बाहरी ज्ञान वाला।

(२) सप्ताङ्गः अर्थात् सात अंगों वाला।

(३) एकोनविंशति मुखः अर्थात् १९ मुखों वाला ।

(४) स्थूलभुक् अर्थात् स्थूल चीज़ों को भोगने वाला ।

(५) वैश्वानरः अर्थात् सब प्राणियों से सम्बन्ध जोड़ने वाला ।

इसी उपनिषद् में स्वप्न अवस्था का इस प्रकार वर्णन है:—

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीय पादः ।

(१) अन्तः प्रज्ञः अर्थात् भीतरी ज्ञान वाला ।

(२) सप्ताङ्गः अर्थात् सात अंगों वाला ।

(३) एकोनविंशति मुखः अर्थात् १९ मुखों वाला ।

(४) प्रविविक्तभुक्—वासनामात्र को भोगने वाला ।

(५) तैजसः—तेज वाला ।

सुषुप्ति के विषय में कहा है:—

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम् ॥

"जिस अवस्था में सोया हुआ प्राणी न कुछ कामना करता है न कोई स्वप्न देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं"।

स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं में जीव सात अंगों वाला और उन्नीस मुखों वाला बताया गया है। सुषुप्ति में

इनका उल्लेख नहीं। 'सप्ताङ्ग' का क्या अर्थ है यह मेरी समझ में नहीं आया। भिन्न भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न भिन्न मत प्रकट किये हैं। कोई कहता है कि सात अङ्गों से दो आँख, दो कान दो नाक और एक वाणी का तात्पर्य है। किसी ने सिर और प्राण को भी शामिल किया है। असली बात क्या है यह कहना कठिन है।

उन्नीस मुख यह हैं पाँच ज्ञान-इन्द्रियां, पाँच कर्म-इन्द्रियां, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इनको शायद मुख इसलिये कहा गया है कि जिस प्रकार मुंह से भोजन करते हैं उसी प्रकार यह उन्नीस जीवके भोगने के साधन हैं। जीव भोक्ता या भोगने वाला है, और यह उन्नीस भोगने के उपकरण हैं। परन्तु भोग्य क्या है इसमें भेद है। जाग्रत अवस्था में जीव को स्थूल-भुक् कहा गया है और स्वप्न में प्रविविक्त-भुक्। जाग्रत अवस्था में स्थूल जगत् भोग्य है और स्वप्न अवस्था में प्रविविक्त जगत्। 'प्रविविक्त' शब्द 'विविच्' धातु से बना है। 'विविच' का अर्थ है अलग करना (to abstract) इसी से विवेक बनता है। 'प्रविविक्त' जगत् वह है जिस को आत्मा ने अपनी विवेचन शक्ति द्वारा असली जगत् से अलग कर लिया है (Abstracted or drawnout)। तात्पर्य यह है कि जाग्रत में तो प्राणी का संसर्ग बाह्य संसार से होता है। परन्तु स्वप्न

में उस संसार से कोई संसर्ग नहीं रहता। स्वप्न का संसार ही और है। वह "विविक्त संसार" है अर्थात् उस संसार को जीव ने अपनी विवेचन शक्ति से रचा है। स्वप्न में पदार्थ न होते हुये भी दीखते हैं जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है:—

स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो * मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति।

(बृह० ४—३—९)

अर्थात् जब वह सोता है तो इस अर्थात् जाग्रत लोक की मात्रा को लेकर अपने शरीर को छोड़ कर चीज़ों को स्वयं बना कर अपनी ही ज्योति के आश्रय से सोता है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्राऽनन्दा मुदः

---

* सर्वा वा भूतभौतिक मात्रा अस्य संसर्गकारणभूता विद्यन्त इति सर्ववान सर्ववानेव सर्ववांस्तस्य सर्वावतो मात्रामेकदेशमवयवमपादायापच्छिद्याऽऽदाय गृहीत्वा·········

(शांकर भाष्य)

प्रमुदो भवन्त्यथाऽनन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता ।

"वहाँ न रथ होते हैं न घोड़े आदि न मार्ग। फिर भी रथों को, घोड़े आदि को, मार्गों को बना लेता है। वहाँ आमोद प्रमोद के साधन नहीं होते लेकिन वह आनन्द प्रमोद के साधनों को बना लेता है। वहाँ नदी तालाब आदि नहीं बहते, परन्तु वह बहने वाले नदी तालाब आदि को बना लेता है"।

जागृत अवस्था में प्राणी को बहिष्प्रज्ञ कहा है और स्वप्न में अन्त:प्रज्ञ। जागृत में इसका सम्बन्ध बाहरी जगत् से होता है। वह बाहरी पदार्थों को जानता है। स्वप्न में बाहरी पदार्थ नहीं होते उनके संस्कार होते हैं। यह बाहरी संस्कार ही तो "प्रविविक्त" हैं। जब हमारी आँख किसी फूल के संसर्ग में आती हैं तो आँख फूल को तो अपने भीतर ला नहीं सकती समस्त फूल आँख में कैसे समा सकता है? आँख केवल रूप सम्बन्धी संस्कार को ले आती है। यही प्रविवेचन है। यह प्रविविक्त संस्कार सोते समय स्वप्न के रूप में फिर सामने आ जाता है और हमको ऐसा प्रतीत होता है मानो हम वस्तविक फूल को देख रहे हैं।

इसी सम्बन्ध में आगे चल कर उसी उपनिषद् में लिखा है:—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ॥

(बृह०—४। ३। ११)

इस पर श्रीशंकराचार्य्य जी का भाष्य इस प्रकार है :—

स्वप्नेन स्वप्नभावेन शारीरं शरीरमभिहत्य निश्चेष्टमापाद्यासुप्तः स्वयमलुप्तदृगादिशक्तिस्वाभाव्यात् सुप्तान् वासनाकारोद्भूतानन्तः करणवृत्त्याश्रयान बाह्योऽध्यात्मिकान् सर्वानेव भावान् स्वेन रूपेण प्रत्यस्तमितान् सुप्तानभिचाकशीत्यलुप्तवाऽऽत्मदृष्ट्या पश्यत्यवभासयतीत्यर्थः ॥

अर्थात् स्वप्न में बाह्य शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। बाह्य शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। परन्तु आत्मा के वे उन्नीस मुँह जो जागृत अवस्था में स्थूल जगत् का भोग कर रहे थे लुप्त नहीं हो जाते। वे अलुप्त रहते हैं। बाहरी गोलकों के निश्चेष्ट हो जाने से भीतरी शक्तियाँ निश्चेष्ट नहीं हो जातीं। वे सचेष्ट रहती हैं। और इन्हीं सचेष्ट शक्तियों द्वारा वह उस संस्कार रूपी जगत् को देखता है। इनको शंकराचार्य ने "वासनाकारोद्भूतान्" अर्थात् संस्कार रूपी और "अन्तः-

करण वृत्त्याश्रयान्" और भीतरी वृत्ति के आश्रय वाला कहा है।

सुषुप्ति अवस्था क्या है? 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' दोनों शब्द संस्कृत के एक ही धातु अर्थात् 'स्वप्' से बने हैं जिनका अर्थ है "सोना"। 'स्वप्' में 'नक्' प्रत्यय लगाने से 'स्वप्न' बनता है और "क्तिन्" प्रत्यय तथा 'सु' उपसर्ग लगाने से 'सुषुप्ति' बनता है। इस प्रकार धात्वर्थ समान होते हुये भी पारिभाषिक अर्थों में भेद हो गया है। स्वप्न वह अवस्था है जिसमें हम बाहरी जगत् के संस्कार मात्रों को शरीर के निश्चेष्ट होने पर भीतरी वृत्ति के द्वारा देखते हैं। परन्तु सुषुप्ति में न कुछ कामना करते हैं और न उन वासनाओं को ही देखते हैं। सुषुप्ति के विषय में माण्डूक्य उपनिषद् में आगे चलकर लिखा है कि—

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीय पादः ॥

अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में जीव की वृत्तियाँ एक हो जाती हैं। वह न तो बाहर के पदार्थों से संसर्ग रखती हैं और न उन पदार्थों के संस्कारों से। वह प्रज्ञानघन होता है। अर्थात् उसका ज्ञान व्यक्तित्व तक सीमित नहीं रहता। उसकी भावना

मात्र रहती है। वह आनन्द वाला होता है और आनन्द को ही भोगता है। स्थूलभुक् और प्रविविक्तभुक् होने के लिये तो उन्नीस मुखों की आवश्यकता थी, आनन्द के लिये केवल चेतनता मात्र की आवश्यकता होती है। अन्य कोई मुख नहीं चाहिये। इसीलिये इसको प्राज्ञ कहा है अर्थात् उच्चकोटि का ज्ञान उसको प्राप्त हो जाता है। प्रज्ञानघन होने से ही वह प्राज्ञ कहलाता है।

प्रज्ञानघन का अर्थ समझने के लिये हमको जागृत अवस्था और स्वप्न अवस्था के ज्ञान की सुषुप्ति अवस्था के ज्ञान से तुलना करनी चाहिये। श्री शंकराचार्य जी ने प्रज्ञानघन का अर्थ अविवेक किया है। वह लिखते हैं कि—

स्वप्न जाग्रन मनः स्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूता· नीव सेयमवस्थऽविवेकरूपत्वात् प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसाऽविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत् प्रज्ञानघन एव।

अर्थात् स्वप्न और जाग्रत् के मन की गतियाँ घनी हो जाती हैं। यह अवस्था विवेक-शून्य होने से प्रज्ञानघन कहलाती है। जैसे रात में अँधेरे के कारण सब काले बादल के समान अंधकार ही अंधकार प्रतीत होता है—उसी को प्रज्ञानघन कहते हैं।

परन्तु हमको यहाँ प्रज्ञानघन का यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। यह तो शंकराचार्य्य जी भी मानते हैं कि प्रज्ञानघन का अर्थ है "प्रज्ञानानि घनीभूतानि" अर्थात् प्रज्ञान घना हो जाता है। परन्तु 'घन' का अर्थ रात के अंधेरे के समान काला बादल या काले बादल के समान विवेक शून्य मानना उनको ही बात को काट देता है क्योंकि आगे 'प्राज्ञ' का अर्थ करते हुये वह कहते हैं:—

भूतभविष्यज् ज्ञातृत्वं सर्व विषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः ॥

अर्थात् भूत और भविष्यत् सभी का, सब विषय का ज्ञान वाला होने की शक्ति होने के कारण उसको प्राज्ञ कहते हैं। यह प्राज्ञ अविवेक रूप तो हो नहीं सकता। हमारा कहना है कि 'घनीभूत' प्रज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो अत्यन्त सूक्ष्म होते होते ज्ञेय वस्तु की अपेक्षा से अलग होकर केवल निरपेक्ष रह जाय। सुषुप्ति अवस्था में जीव का ज्ञान भी उसी निरपेक्ष अवस्था को प्राप्त हो जाता है। उस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के त्रित्व की कुछ भी भावना नहीं होती, जैसी कि स्वप्न और जागृत में होती है। इसको एक उदाहरण से जान सकते हैं। शीशे के सफ़ेद गिलास में लाल शर्बत भरने से

लाल दिखाई देता है और हरा भरने से हरा। उस समय गिलास का वही रंग होता है जो उसके भीतर भरी हुई चीज़ का। परन्तु यदि गिलास को सर्वथा ख़ाली कर दिया जाय तो उसका निरपेक्ष स्वरूप जाना जा सकता है। यह एक एकाङ्गी उदाहरण मात्र है परन्तु कुछ कुछ निरपेक्ष प्रज्ञान या घनीभूत-प्रज्ञान के समझने के लिये पर्य्याप्त है। इसकी अधिक व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि यद्यपि स्वप्न और जागृत अवस्थाओं में समानता होने के कारण स्वप्न को जागृत के भावों की तुलना करके शब्दों में वर्णन कर सकते हैं तथापि सुषुप्ति अवस्था अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उस अवस्था का जागृत अवस्था से कुछ भी सादृश्य नहीं है और उस अवस्था को जागृत की तराज़ू में तोला नहीं जा सकता। हम स्वप्न के लिये तो कह सकते हैं कि जिस प्रकार हमारे सामने कुर्सी रक्खी हुई है उसी प्रकार स्वप्न में भी दिखाई पड़ती है और हमारे मन की जो वृत्तियाँ सामने रक्खी हुई कुर्सी के कारण जागृत हो रही हैं उसीके समान वृत्तियाँ स्वप्न में भी जागृत हो जाती हैं परन्तु सुषुप्ति की कोई किंचन मात्र भी समानता जागृत से नहीं है अतः शब्दों में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सुषुप्ति की समाप्ति पर जब जागृत अवस्था आती है तब हमको ऐसा भान होता है कि बड़े आनन्द से

सोये। परन्तु यह आनन्द का भान भी जागृत का भान है। उससे थोड़ी देर पहले क्या अवस्था थी यह जानी नहीं जा सकती। परन्तु यह तो सभी को अनुभूति होती है कि कोई उत्तम अवस्था थी अवश्य जिसके विषय में अब कुछ नहीं कह सकते। अन्यथा ऐसा भान क्यों होता कि बड़े आनन्द से सोये।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि इन तीन अवस्थाओं का जीव के अस्तित्व पर क्या प्रकाश पड़ता है। भौतिकवादी इसकी व्याख्या किस प्रकार करते हैं।

हम प्राय: देखते हैं कि डाक्टर लोग अपनी इच्छानुसार स्वप्न और सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं को उत्पन्न कर सकते हैं। जब किसी रोगी को नींद नहीं आती तो अफ़ीम आदि का पुट देकर नींद उत्पन्न करदी जाती है। क्लोरोफ़ार्म देने पर सुषुप्ति की सी ही अवस्था हो जाती है। इससे भौतिकवादी यह नतीजा निकालते हैं कि शरीर में विकार उत्पन्न होने से ही स्वप्न और सुषुप्ति आ जाती है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति यह तीन अवस्थायें इतनी अलग अलग नहीं हैं जितनी समझी जाती हैं। इनके बीच में कोई ऐसी दीवार खड़ी नहीं है जिससे एक दूसरे को सर्वथा भिन्न कह सकें। अपितु अवान्तर दशायें इस प्रकार आती रहती हैं कि जागृत से सुषुप्ति

तक एक क्रमबद्ध शृङ्खला बन जाती है। कई अवान्तर दशाओं के लिये यह कहना कठिन है कि यह जागृत अवस्था है या स्वप्न। यदि हम जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति को तीन मिले हुये कमरों से उपमा दें तो यों कहना चाहिये कि इनके बीच में बड़े चौड़े दरवाज़े हैं। जागृत के कमरे से स्वप्न के कमरे में जाने से पहले इन दरवाज़ों की दहलीज़ों में होकर गुज़रना पड़ता है। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं:—जागृत के कमरे से चलिये:—

(१) हमारी आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ खुली हुई हैं। यह बाहर की चीज़ों का अनुभव कर रही हैं। हम रूप, शब्द आदि सुन रहे हैं। हम देख रहे हैं कि एक पुरुष बैठा हुआ हारमोनियम बजा रहा है और हारमोनियम की आवाज़ हमारे कानों में आरही है।

(२) हारमोनियम बन्द हो गया। परन्तु उसकी आवाज़ अभी हमारे कानों में गूंज रही है। या किसी विशेष दृश्य को देख रहे थे। वह दृश्य तो चला गया परन्तु अभी उसका चित्र आँखों के सामने है। जैसे हम रेल पर अपने किसी परम मित्र को पहुँचाने गये, रेल चल पड़ी, मित्र चला गया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है मानों वह मित्र अभी खड़ासा है।

(३) जिस दृश्य को देख या शब्द को सुन रहे थे उसके हट जाने के बाद हम उन पर विचार कर रहे हैं। हमारी

इन्द्रियां इतनी शिथिल हैं कि आँख के सामने से एक आदमी निकल गया या किसी ने हमको नाम लेकर पुकारा लेकिन हम को कुछ भी प्रतीत नहीं हुआ। हम सोते नहीं थे। आँख कान खुले हुये थे। परन्तु उन्होंने रूप या शब्द का ग्रहण नहीं किया। हम सोचने में मस्त हैं।

(४) हमको नींद आ रही है। अर्थात् अभी हम जागते हैं परन्तु जी चाहता है कि सो जायं। आँखें झपकती सी जाती हैं।

(५) हमको नींद आ रही है और हम सोना भी चाहते हैं। परन्तु मस्तिष्क की एक ऐसी विचित्र दशा हो रही है कि नींद नहीं आती। हम चारपाई पर करवट बदल रहे हैं चाहे तो किसी मानसिक व्यथा या चिन्ता के कारण या शारीरिक गर्मी सर्दी या पीड़ा के कारण।

(६) हम सोने लगे। देखने वाले समझते हैं कि हम सो गये। परन्तु हम उनकी बातें सुन रहे हैं। यदि उस समय हम बात कर सकते तो कहते कि न तो हम सोते ही हैं न जागते।

(७) हम सो गये। परन्तु स्वप्न देखने लगे। यह स्वप्न कई प्रकार के हैं। एक तो ऐसा स्वप्न देखा कि जागने पर शरीर पर पड़ा हुआ कोई प्रभाव प्रतीत नहीं होता।

हमने यात्रा भी की, खेले कूदे भी, दुनिया भर की सैर की। परन्तु हमारे पास बैठे या पड़े हुये आदमी को कुछ न मालूम पड़ा।

(८) हम ने स्वप्न ऐसा देखा कि मुँह से बड़बड़ाने लगे और पास वाले मनुष्य ने कहा, क्यों जी तुमने अमुक बात क्यों कही। हमने आँख खोलकर कहा, "हम स्वप्न देख रहे थे"। यह ऐसी अवस्था है कि अन्य इन्द्रियाँ ऐसी शिथिल हैं कि बाहर के संस्कार नहीं ले सकतीं। परन्तु वाणी काम कर रही है।

(९) हम स्वप्न देख रहे थे। किसी ने ज़ोर से पुकारा हम जाग पड़े।

(१०) हम घोर निद्रा को प्राप्त हो गये। अभी आध घण्टा ही हुआ है। एक आदमी ज़ोर ज़ोर से पुकारता है। कई आवाज़ें दीं। हम नहीं जागे।

(११) चार पाँच घंटे सो लिये। मीठी नींद आ रही थी। हम बिल्कुल बेख़बर थे। ज़रा किसी के पैर की आहट हुई, हम जाग पड़े।

(१२) हमको चार बजे प्रातःकाल की गाड़ी से जाना था। हम गहरी नींद सो रहे थे। चार बजने के क़रीब स्वयं जाग पड़े।

(१३) तातील का दिन है। पड़े सो रहे हैं। सूरज निकल आया। परन्तु उठने का नाम नहीं।

इन सब दशाओं में थोड़ा थोड़ा भेद है। न तो जागृत अवस्था में हमारी सभी इन्द्रियाँ बाहर के विषयों को ग्रहण करती हैं और न सुषुप्ति या स्वप्न में बाहर के विषयों से सर्वथा अलग हो जाती हैं। यदि जागृत अवस्था वह अवस्था होती जिसमें हमारी इन्द्रियाँ बाहर के विषयों को अवश्य ही ग्रहण करतीं तो ऊपर लिखी हुई तीसरी अवस्था को क्या कहते। क्योंकि जब हम किसी ध्यान में मस्त हैं तो आँख खुली होने पर भी नहीं देख सकते। इसको स्वप्न या सुषुप्ति तो कह नहीं सकते। और यदि घोर निद्रा को यह कहा जाय कि इसमें किसी इन्द्रिय का बाहर से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता तो किसी के ज़ोर से पुकारने या लक्कलकाने से हम क्यों जग पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त यदि सभी सुषुप्तियाँ एकसी हों तो किसी में थोड़ी सी आवाज़ से ही जग जाना और किसी में बहुत सी आवाज़ों के बाद जागना क्यों होता है। पाठकों को बहुधा यह अनुभव हुआ होगा कि रात को आप सो रहे हैं। किसी ने सड़क पर आवाज़ दी। हमने न सुना। परन्तु यदि हमारा नाम पुकार कर आवाज़ दी गई तो हम जाग पड़े। क्यों ? उस समय हमारे कान क्या कर रहे थे ? क्या सुन

रहे थे ? नहीं, क्योंकि हम सो रहे थे। क्या नहीं सुन रहे थे ? नहीं, क्योंकि यदि न सुनते तो हम जागते कैसे ? फिर जब हमारा नाम लेकर पुकारा गया तभी हम क्यों जागे ? शब्द तो वही थे। केवल अर्थों का भेद था। कल्पना कीजिये कि आप का नाम देवी प्रसाद है। जब तक कोई "शंभुनाथ! शंभुनाथ !" कहकर पुकारता रहा तब तक आप क्यों न जागे और 'देवीप्रसाद' कहते ही क्यों जाग पड़े ? जैसी आवाज़ 'शंभुनाथ' शब्द की आपके कान तक गई वैसी ही 'देवीप्रसाद' शब्द की। फिर देवीप्रसाद शब्द में क्या विशेषता थी कि सोते हुये को जगा दिया। शायद आप कहेंगे कि 'देवीप्रसाद' शब्द आपका नाम था। उससे आप को बहुत दिनों का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। इसलिये सुनते ही आपने उस पर अधिक ध्यान दिया। परन्तु दूसरे शब्दों में इसका अर्थ तो यह हुआ कि आप ध्वनि को सुन रहे थे केवल कम ध्यान दे रहे थे। 'शंभुनाथ' और 'देवीप्रसाद' दोनों ध्वनियाँ एक ही प्रकार से आप के कानों में पड़ रही थीं और आपको कुछ कुछ सुनाई दे रही थीं। केवल 'देवीप्रसाद' ध्वनि ने आपको ध्यान देने के लिये आकर्षित कर दिया। अर्थात् जहाँ दोनों ध्वनियों में बाहरी आकर्षण समान था वहाँ पिछली ध्वनि में भीतरी प्रोत्साहन विशेष हुआ। इसी प्रकार जब तातील के दिन आप देर तक

सोते रहे तो मानों भीतर से आपकी निर्वाचित शक्ति कह रही थी कि आज काम कम है देर तक सोने में भी कोई हर्ज न होगा।

इन सब अवस्थाओं पर विचार करने से दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि कोई निर्वचन करने वाली सत्ता है जो ऊपर लिखी हुई सभी दशाओं में काम करती रहती है। दूसरे यह कि इस निर्वचन करने वाली सत्ता का शरीर से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। वस्तुत: यदि उस सत्ता का शरीर से कुछ सम्बन्ध न होता तो यह अवस्थायें भी उत्पन्न न होतीं। यह अवस्थायें न तो केवल शरीर की ही हैं और न केवल उस निर्वचन करने वाली शक्ति की ही। यह शक्ति शारीरिक नहीं है। किन्तु शारीरिक व्यापारों से ऊपर एक सत्ता है जो शारीरिक प्रभावों का किसी न किसी मात्रा में बाध करती रहती है। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये कि आपको नींद आने लगी, और आप चारपाई पर जा लेटे। वह नींद आपकी शारीरिक थकावट को प्रकट करती है। आप काम करते करते इतने थक गये हैं कि अब आगे काम करना कठिन हो गया है। साधारण परिस्थिति में आप चारपाई पर जाते ही सो जाते और शायद कई घंटों तक सोते रहते। परन्तु उसी समय या तो आप को स्वयं किसी दुर्घटना की याद आगई या किसी ने आपके परम मित्र के रोग या मृत्यु का समाचार

सुना दिया। उस समय क्या हुआ? नींद उचट गई और रात भर आँख न लगी। क्यों? क्या यह नींद का न आना शारीरिक व्यापार था? हाँ! क्या इसका कारण शारीरिक घटना थी? नहीं! शरीर की व्यवस्था सोने के पक्ष में थी। दुर्घटना का ज्ञान शरीर से युद्ध कर रहा था। चिंता का कारण शारीरिक हो सकता है परन्तु चिन्ता स्वयं शारीरिक नहीं है। चिंता शरीर को नहीं होती। शरीर के कारण आत्मा को होती है।

डाक्टर लोग क्लोरोफार्म देकर कृत्रिम सुषुप्ति ला सकते हैं। अर्थात् वह शरीर में कुछ ऐसा परिवर्त्तन कर सकते हैं जैसा नींद के समय होता है। यह कृत्रिम सुषुप्ति सामान्य सुषुप्ति से कहीं अधिक गहरी होती है क्योंकि सामान्य सुषुप्ति शरीर के लकलकाने से ही समाप्त हो जाती है। परन्तु कृत्रिम सुषुप्ति में अंगों का विच्छेद करने पर भी पीड़ा प्रतीत नहीं होती। परन्तु इससे यह क्यों समझना चाहिये कि इस शरीर के भीतर ऐसी कोई सत्ता काम नहीं कर रही जो अभौतिक हो। क्लोरोफार्म बाह्य साधनों और उपकरणों को निश्चेष्ट कर देता है। परन्तु जब क्लोरोफ़ार्म के प्रभाव को दूर कर देते हैं तो चेतना का फिर आविर्भाव हो जाता है। यदि क्लोरोफ़ार्म उचित मात्रा से अधिक या देर तक लगाया जाय तो

मृत्यु हो जाती है और चेतना फिर लौट नहीं सकती। यदि चेतना कोई अभौतिक वस्तु न होती तो मृत्यु के प्रश्चात् भी लौट सकती। जब डाक्टर लोग क्लोरोफ़ार्म देते हैं तो निरन्तर रोगी का निरीक्षण करते रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि क्लोरोफ़ार्म द्वारा कुछ उपकरण निश्चेष्ट हो चुके हैं तथापि अन्य उपकरणों से निरन्तर काम लिया जा रहा है। यही काम चेतना के अस्तित्व का प्रमाण है।

अठारहवां अध्याय

तीन शरीर और पांच कोश

गत अध्यायों में यह दिखाने का यत्न किया गया है कि जिसको हम साधारण बोल चाल में जीवन या जिन्दगी कहते हैं और जिससे शिक्षित और अशिक्षित सभी पुरुष अभिज्ञ हैं उसका आदि स्रोत या आधार एक ऐसी सत्ता है जिसका नाम जीव या जीवात्मा है। यह आत्मा अभौतिक है। भौतिक नहीं। जिन भूतों से शरीर बना है वह अलग अलग या मिलकर चेतनता उत्पन्न नहीं कर सकते, और न भौतिक नियमों के आधार पर जीवन की जटिल समस्या की व्याख्या हो सकती है। प्रिंसिपल रिचार्डसन (Lewis Fry Richardson F. R. S. Principal of the Technical College, Paisley) ने ठीक कहा है :—

"Do you expect that ultimately all experience will be explained in terms of those abstracts from experience which we call physics and che-

mistry ? To this I reply "No." All experience is much wider than the abstracts named."

(The Religion of Scientists p. 35).

"क्या तुम आशा रखते हो कि समस्त अनुभव की मौलिक व्याख्या अनुभव के उन अंशों के शब्दों में हो सकेगी जिनको हम भौतिक विज्ञान और रसायन कहते हैं ? मेरा उत्तर यह है कि "नहीं"। समस्त अनुभव का विस्तार इन ऊपर दिये हुये अंशों से कहीं अधिक है"।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि जीव को 'अभौतिक' कहने से कुछ समझ में नहीं आता। निषेधात्मक व्याख्या का होना न होना बराबर है। यदि घोड़े के यह लक्षण किये जायँ कि "वह गधा नहीं है" तो इससे क्या समझ में आयेगा। माना कि जीवात्मा अभौतिक है और उसमें भौतिकत्व का निषेध है तथापि प्रश्न होता है कि यह है क्या ? इसके लिये हम ऊपर बता चुके हैं कि जीव वह सत्ता है जिसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाया जाय, अर्थात् जिसमें जानने, करने और भोगने के लक्षण हों। यह लक्षण तो निषेधात्मक नहीं हैं। ज्ञान, क्रिया और भोग को तो सभी समझ सकते हैं। यह तीनों चीजें भौतिक पदार्थों में पाई नहीं जातीं। ज्ञान और भोग के विषय में तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। रह गयी क्रिया। यह क्रिया

भी भौतिक पदार्थों में जहाँ कहीं पाई जाती है वह उनकी वास्तविक नहीं होती, किन्तु किसी चेतन पदार्थ से आती है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। क्या चेतन बिना जड़ या भौतिक पदार्थ के ज्ञान, क्रिया और भोग कर सकता है? हम जिस चीज़ को जानते हैं वह भौतिक पदार्थ हैं। हम जो क्रिया करते हैं वह भौतिक पदार्थों के द्वारा या उन पर, और जो कुछ भोगते हैं वह भी तो भौतिक पदार्थों में ही समाविष्ट हैं। यदि विना जड़ पदार्थों के ज्ञान, क्रिया और भोग संभव ही नहीं हैं तो इनको अलग चेतन सत्ता से सम्बद्ध क्यों किया जाय? इसका उत्तर यह है कि विषय और विषयी दो अलग पदार्थ हैं। वे एक नहीं हो सकते। यदि मैं किसी पहाड़ को देखता हूँ और यदि पहाड़ न होता तो मैं किसको देखता, तो इस का यह अर्थ कदापि नहीं कि पहाड़ ही सब कुछ है मैं देखने-वाला कुछ नहीं। वस्तुतः हमारा साधारण ज्ञान भौतिक पदार्थों का ही है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं कि ज्ञान का विषय भौतिक पदार्थ ही है। ज्ञान, अनुभव, स्मृति आदि सभी अभौतिक हैं। जो नियम भौतिकी घटनाओं में ओत-प्रोत हैं और जिनका उल्लंघन घटनायें कभी नहीं कर सकतीं वह नियम भी अभौतिक हैं। हमको बहुत सी ऐसी चीज़ों का ज्ञान होता है जो भौतिक हो ही नहीं सकता।

यही भोग का हाल है। दुःख और दुःख का साधन एक नहीं। और न सुख और सुख का साधन एक बात है। मैं मीठा दूध पीता हूँ। कभी कभी कहता हूँ कि दूध इतना मीठा हो गया कि पिया नहीं जाता, स्वाद रहित हो गया। इसका क्या अर्थ है? यही न कि शकर तो मीठी है परन्तु उसका अच्छा या बुरा लगना शकर से बाहर एक सत्ता में है। क्रिया के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। शरीर केवल क्रिया का उपकरण है। करने वाला तो कोई और ही है। इस सम्बन्ध में लोग कुछ प्रश्न किया करते हैं, जैसे—

जीवात्मा सोता है या शरीर? 'मैं सोता हूँ' का क्या अर्थ?
जीवात्मा अन्धा है या शरीर? 'मैं अन्धा हूँ' का क्या अर्थ?
जीवात्मा लंगड़ा है या शरीर? 'मैं लंगड़ा हूँ' का क्या अर्थ?
जीवात्मा दुःखी है या शरीर? 'मैं दुःखी हूँ' का क्या अर्थ?

इस प्रकार के बहुत से प्रश्न किये जाते हैं, और भिन्न भिन्न लोगों ने इनके भिन्न भिन्न उत्तर दिये हैं। कुछ का कहना है कि आत्मा अभौतिक होने से लंगड़ा या अन्धा नहीं हो सकता। सोना, जागना, खाना, पीना, रोना, हँसना यह सब शरीर के धर्म हैं, जीवात्मा के नहीं।

परन्तु यह उत्तर सर्वथा संतोष-जनक नहीं हैं। जो उत्तर देते हैं वह उनको भली भाँति समझते नहीं। "मैं

अन्धा हूँ" शब्द का क्या अर्थ है ? यही न कि "मैं नेत्र हीन हूँ"। जब मैं कहता हूँ कि मैं निर्धन हूँ तो इसका अर्थ यह है कि मैं एक ऐसी सत्ता हूँ जिसके पास धन नहीं है। इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ कि अन्धा या नेत्र हीन हूँ तो मेरा तात्पर्य स्वयं अपने से है। यदि जीवात्मा चेतन न होता तो नेत्ररूपी उपकरणों की आवश्यकता न होती और न जीवात्मा नेत्रों के अभाव का अनुभव करके कहता कि मैं अन्धा हूँ। "मैं दुःखी हूँ" का यह अर्थ तो हो सकता है कि शरीर या अन्य भौतिक वस्तुयें मेरे दुःख का कारण बनी हुई हैं। परन्तु यदि मैं न होता तो यह दुःख किसको देतीं ? सोने और जागने का भी यही तात्पर्य है। यह व्यापार जीवात्मा के द्वारा ही होते हैं। केवल इनके करने में आवश्यकता भौतिक उपकरणों की पड़ती है। यह सर्वथा भौतिक व्यापार नहीं हैं।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि जीवात्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध है। गीता (अ० २। २२) में लिखा है कि—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

अर्थात् जिस प्रकार हम अपने कोट को उतार कर दूसरा कोट पहन लेते हैं उसी प्रकार जीवात्मा मृत्यु के समय इस

शरीररूपी कोट को उतार कर दूसरा शरीररूपी कोट पहन लेता है।

कठोपनिषत् में कहा है :—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(कठोपनिषत् १।३।३-४)

अर्थात् शरीर रथ है, बुद्धि कोचवान है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। जीवात्मा रथ का मालिक या सवार है।

परन्तु गीता की कोट की उपमा और कठोपनिषत् की रथ की उपमा केवल एक अंशीय हैं, और इनकी उपयोगिता प्रसंग के देखने से ही प्रतीत होती है। जब हम किसी वस्तु के लिये उपमा तलाश करते हैं तो उस समय हमारे मस्तिष्क में जो प्रसंग होता है उसी को स्पष्ट करने के लिये उपमा देते हैं, वह उपमा दूसरे प्रसंग में काम नहीं दे सकती। जैसे यदि किसी राजा की वीरता की उपमा देनी हो तो उसे शेर कहेंगे और न्याय या विवेचन शक्ति की तो उसे हंस कहेंगे। प्रसंग

का ध्यान छोड़ते ही उपमायें निरर्थक हो जायंगी। राजा न तो शेर है न हंस। युद्ध के समय उसमें हंस का एक भी गुण विद्यमान नहीं और न न्याय के समय शेर का कोई गुण। इसी प्रकार गीता और उपनिषत् की दो उपमायें भिन्न भिन्न प्रसंगों को दृष्टि में रख कर बनाई गई हैं। गीता में प्रसंग यह था कि शरीर त्याग पर अत्यन्त दुःखी न होना चाहिये, यह शरीर तो फिर भी मिल सकेगा। इसलिये फटे कोट की उपमा दी गई। कठोपनिषत् में इन्द्रियों को वश में रखने और उनसे यथोचित कार्य्य लेने का प्रसंग था। इसलिये रथ और घोड़ों की उपमा दी गई। परन्तु हमारे वर्तमान प्रसंग में दोनों उपमायें विषम पड़ती हैं। कुर्ते और शरीर तथा रथी और रथ के सवार का इतना घनिष्ट सम्बन्ध नहीं जितना शरीर और जीव का। कुर्ता शरीर से अलग होने पर भी कुर्ता है। रथ उस समय भी रथ है जब उसमें कोई सवार बैठा नहीं। परन्तु जीव से अलग होने पर शरीर नहीं रहता। कुर्ते के आपस में जुड़े रखने के लिये शरीर की आवश्यकता नहीं। रथ के पहिये जोड़ने के लिये सवार की आवश्यकता नहीं। परन्तु शरीर की उत्पत्ति, वृद्धि तथा स्थिति के लिये जीव की आवश्यकता है। कोट का बटन टाँकने के लिये कोट को अलग उतार कर टांकते हैं। परन्तु क्या उसी

प्रकार शरीर को जीव से अलग करके उसमें नाक, कान या कोई अंग जोड़ सकते हैं? कदापि नहीं। डाक्टर की चीर फाड़ भी तभी तक काम देती है जब तक जीव विद्यमान है। मुर्दे के फोड़े फुंसी चीरफाड़ कर चंगे नहीं किये जा सकते। जिस प्रकार शरीर जीव के साथ साथ बढ़ता है उसी प्रकार रथ या कोट नहीं बढ़ता। शरीर जीव को बनाया नहीं मिलता किन्तु बनाना पड़ता है। इसको कुछ कुछ एक उदाहरण से समझ सकते हैं। एक गन्ना लो। उसका रस निकालो। एक गन्ने में एक गिलास रस निकलेगा। यदि कोई पूछे कि यह रस इस गन्ने में किसने और कब डाला? तो इसका क्या उत्तर होगा? रस गन्ने में ऊपर से डाला नहीं जाता किन्तु गन्ने के साथ उसकी भी वृद्धि होती है। इसी प्रकार जीव के कारण ही शरीर में वह सब संवृद्ध-यात्मक व्यवहार होते रहते हैं जिनसे शरीर अति छोटी अवस्था से बड़ी अवस्था को प्राप्त होता है। मुर्दे के मुंह में दूध डालने से दूध का रस नहीं बनता किन्तु जीवित बालक दूध को पचाकर अपने शरीर को बढ़ाता रहता है।

शास्त्रों में तीन शरीर माने गये हैं। पहला कारण शरीर। यह प्रकृति की सूक्ष्मतम अवस्था है जिसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। प्रकृति के विकृत रूप को ही सृष्टि कहते हैं। इस विकृत रूप के भीतर प्रकृति का मौलिक रूप

भी ओतप्रोत रहता है। यह रूप ही जीव का कारण शरीर है। यह शरीर सब जीवों का सामान्य है। इसको जीव का शरीर इसलिये कहते हैं कि जीव इससे भी सूक्ष्म होने के कारण उसमें व्यापक रहता है। इससे जीव का कभी छुटकारा नहीं हो सकता। परन्तु इससे जीव को बन्धन प्राप्त नहीं होता। इसको जीव का निवासस्थान तो कह सकते हैं परन्तु क़ैदखाना नहीं। यह प्रकृति सर्वत्र व्यापक होने से जीव के व्यवहार में रुकावट नहीं डाल सकती। मोटे उदाहरण से समझ सकते हैं कि जैसे आकाश पक्षियों की उड़ान का निवासस्थान है परन्तु रुकावट नहीं। घर की दीवारें रुकावट हैं। इसी प्रकार प्रकृति का मौलिक रूप जिसमें अभी सत, रज और तम के विकार उठने आरम्भ नहीं हुये जीव का निवासस्थान है।

दूसरा सूक्ष्म शरीर। यह कारण शरीर की अपेक्षा स्थूल परन्तु जिसको हम भौतिक शरीर कहते हैं उसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। चूंकि हमारी सब इन्द्रियां और सब यन्त्र स्थूल हैं इसलिये यह सूक्ष्म शरीर अतीन्द्रिय और अति-यन्त्र है। अर्थात् इसको हम किसी इन्द्रिय या यन्त्र से देख नहीं सकते। परन्तु अन्तर्मुखी वृत्ति से इसका भान हो सकता है। मैं दूसरों के सूक्ष्म शरीर को नहीं देख सकता क्योंकि जिन इन्द्रियों या उप-करणों से मैं अपने बाहर की चीजें देखता हूं उनसे सूक्ष्म शरीर

अगोचर और अग्राह्य है। परन्तु मैं स्वयं अपने अन्तः करण से उसका भान कर सकता हूँ। यह कैसे? जरा कोशिश कीजिये। मुझ में यह शक्ति है कि नाक रहते हुये भी मैं नाक से अपना ध्यान हटालूं और नाक के विषय में कुछ न सोचूं। मुझमें यह शक्ति है कि उस अवस्था में नाक से कोई काम न लूं और मेरी नाक के पास रक्खे हुए फूल की सुगन्धि मुझ तक न पहुँचे। इस प्रकार की स्थूल शरीर के भिन्न भिन्न अंगों से व्यतिरेक करने की शक्ति भिन्न भिन्न मात्रा में सभी को होती है। स्वप्न में समस्त स्थूल शरीर का व्यतिरेक हो जाता है कल्पना करने की दशा में भी कुछ कुछ ऐसा ही होता है। परन्तु इन दोनों अवस्थाओं में हम अपने आन्तरिक अस्तित्व को अनुभव करते हैं। स्मृति, कल्पना, पुराने संस्कार आदि जो ऐसी अवस्था में भिन्न भिन्न रूप में उठते हैं वह स्थूल शरीर के व्यापार नहीं हैं। वस्तुतः यह सूक्ष्म शरीर के व्यापार हैं।

तीसरा स्थूल शरीर है। इसमें त्वचा, हड्डी, रूप आदि से लेकर वे छोटे छोटे तन्तु भी सम्मिलित हैं जो केवल अन्वीक्षण यन्त्र से ही देखे जा सकते हैं या जिनके अस्तित्व का उनके व्यापार के कारण ही प्रमाण मिलता है। इसमें मस्तिष्क और मास्तिष्क सम्बन्धी सम्पूर्ण बैटरी सम्मिलित है। जागृत अवस्था में हम इस शरीर से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

यहाँ एक बात याद रखनी चाहिये कि जब हमारा सम्बन्ध स्थूल शरीर से होता है तो सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध टूट नहीं जाता और न कारण शरीर से। क्योंकि स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर विद्यमान है और सूक्ष्म के भीतर कारण शरीर।

इन तीनों शरीरों को एक और रीति से भी प्रकट किया गया है, जिनको कोश कहते हैं। अर्थात् यह तीनों शरीर मिलकर पांच कोशों में विभक्त किये गये। इनके नाम हैं:—

(१) अन्नमय कोश
(२) प्राणमय कोश
(३) मनोमय कोश
(४) विज्ञानमय कोश
(५) आनन्दमय कोश

तैत्तिरीय उपनिषत् में इन कोशों का वर्णन इस प्रकार किया है:—

(१) स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

(२) तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैषपूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव॥ तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः।

(३) तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनामयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः।

(४) तस्माद्व वा एतस्मान् मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैषपूर्णः। स वा एष पुरुष विध एव। तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः।

(५) तस्माद्व वा एतस्माद्व विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। तेनैषपूर्णः। स वा एष पुरुष विध एव। तस्य पुरुष विधताम् अन्वयं विधः।

अर्थात्

(१) ऊपरी कोश अन्नमय है।

(२) इससे अलग कोश प्राणमय है। अन्नमय कोश प्राणमय कोश से भरपूर है। यह प्राणमय कोश पुरुष के ही समान है। यह प्राणमय पुरुष वैसा ही है जैसा अन्न-मय पुरुष है।

(३) इस प्राणमय कोश से अलग मनोमय कोश है। प्राण-मय कोश मनोमय कोश से भरपूर है। यह मनोमय

कोश पुरुष के ही समान है। यह मनोमय पुरुष वैसा ही है जैसा प्राणमय पुरुष है।

(४) इस मनोमय कोश से अलग विज्ञानमय कोश है। मनोमय कोश विज्ञानमय कोश से भरपूर है। यह विज्ञानमय कोश पुरुष के ही समान है। यह विज्ञान-मय पुरुष वैसा ही है जैसा मनोमय पुरुष है।

(५) इस विज्ञानमय कोष से अलग आनन्दमय कोश है। विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोष से भर पूर है। यह आनन्दमय कोश पुरुष के ही समान है। यह आनन्द-मय पुरुष वैसा ही है जैसा विज्ञानमय पुरुष है।

यहाँ तीन बातें बताईं :—

(१) यह पाँच कोश एक दूसरे से इतर हैं। एक नहीं।

(२) एक कोश दूसरे कोश से भर पूर है। अर्थात् जिसको अन्नमय कोश कहते हैं उसमें प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश भी शामिल हैं। कोई अन्नमय कोश ऐसा नहीं है जिसमें अन्य चार कोश न हों। इसी प्रकार प्राणमय कोश में अन्य तीन कोश शामिल हैं। मनोमय कोश में अन्य दो, विज्ञानमय कोश में अन्य एक अर्थात् आनन्दमय।

(३) यह पाँचों कोश एक दूसरे से अलग होते हुये भी एक दूसरे के समान हैं। अर्थात् एक कोश दूसरे कोश का अन्वय या अनुसरण करता है। यह 'अन्वय' बड़े काम की चीज़ है और पाठकगण को इस पर पूरा ध्यान देना चाहिये। हम आगे चलकर यथासमय बतायेंगे कि एक कोश दूसरे कोश का अन्वय किस प्रकार करता है।

तीन शरीरों, तीन अवस्थाओं और पाँच कोशों का सम्बन्ध इस प्रकार बताया गया है :—

अवस्था	शरीर	कोश
१ जागृत	१ स्थूल शरीर	१ अन्नमय कोश
		२ प्राणमय कोश
२ स्वप्न	२ सूक्ष्म शरीर	३ मनोमय कोश
		४ विज्ञानमय कोश
३ सुषुप्ति	३ कारण शरीर	५ आनन्दमय कोश

पंचदशी के पंचकोश-विवेक प्रकरण में इसी विषय को यों वर्णन किया है :—

देहादभ्यंतरः प्राणः प्राणादभ्यंतरं मनः।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परंपरा ॥

(३।२)

अर्थात् देह के भीतर प्राण, प्राण के भीतर मन, मन के भीतर कर्ता, कर्त्ता के भीतर भोक्ता। यह परम्परा हुई।

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज् जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो················

(३।३)

अर्थात् पिता के खाये अन्न से उत्पन्न हुये वीर्य से पैदा हुई और अन्न से ही बढ़ने वाली देह अन्नमय कोश है।

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो ········

(३।५)

देह में पूर्ण बल देने वाला, इन्द्रियों का प्रेरक वायु प्राणमय कोश है।

अहंतां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रांतो नासावात्मा मनोमयः ॥

(३।६)

जो देह में 'मैं हूँ' ऐसा भाव रखता है और घर आदि में ममता रखता है और अनेक कामनाओं की अवस्था से घूमता है वह मनोमय कोश है। यह आत्मा नहीं है (अर्थात् आत्मा इससे भिन्न इसके भीतर व्यापक है)।

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्द भाक्।
(३।७)

जो सषुप्ति में विलीन हो जाय और जागने पर नाखून के किनारों तक व्यापक रहे और चेतन अर्थात् चेतना युक्त है वह विज्ञानमय कोश है। आत्मा इससे अलग पदार्थ है।

काचिदंतर्मुखावृत्तिरानंदप्रतिबिंबभाक्।
पुण्यभोगे भोगशांते निद्रारूपेण लीयते॥
(३।९)

एक भीतर की ओर मुख करने वाली वृत्ति आनन्दमय कोश है जिसमें पिछले पुण्य के भोग से आनन्द का अनुभव होता है या निद्रा के रूप में लय हो जाती है।

पंचदशी में पंचकोशों का सम्बन्ध इतना अच्छा नहीं है जितना तैत्तिरीय उपनिषद् में। विज्ञानमय और आनन्दमय के

लिये 'कर्ता' और 'भोक्ता' शब्द भी उचित प्रतीत नहीं होते। क्योंकि विज्ञानमय में कर्तृत्व का भाव बहुत कम होता है। उपनिषद् में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं है।

स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहा है और उसको जागृत अवस्था के साथ सम्बद्ध किया है। परन्तु स्थूल शरीर का जितना व्यापार है वह सूक्ष्म शरीर के बिना नहीं हो सकता। हम जागृत अवस्था में ज्ञान प्राप्त करते, अनेक प्रकार के भावों से समन्वित होते और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। यह सब अन्नमय कोश का ही व्यापार नहीं है। अन्नमय कोश को धारण करने के लिये जिन जिन व्यापारों की आवश्यकता होती है वे भी सूक्ष्म शरीर द्वारा ही होते हैं। इसी प्रकार स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था में हमारा सम्बन्ध अन्नमय कोश से टूट नहीं जाता। रात को खाना खाकर गहरी नींद सो जाइये। प्रातः काल अनुभव होगा कि जो खाना रात को खाया वह सब पच कर रक्त बन गया। यदि उस समय स्थूल शरीर का व्यापार बन्द हो जाता तो हमारे पेट का भोजन वैसा ही बना रहता। स्थूल शरीर संबन्धी कई व्यापार तो सुषुप्ति अवस्था में अधिक वेग से होने लगते हैं। जैसे कई प्रकार के शारीरिक रोगों की चिकित्सा ही यह है कि रोगी को गहरी नींद आ जाय। गहरी नींद में घावों के भरने की शक्ति अधिक आजाती है। शिर में

पीड़ा हो और किसी प्रकार नींद आजाय तो सिर की पीड़ा बन्द हो जाती है। गहरी नींद के पीछे उठने से शरीर में ताज़गी मालूम होती है। इससे उपनिषद् के उस संकेत की पुष्टि होती है जिसमें ऊपरी कोशों को भीतरी कोशों से पूर्ण बताया है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि खाल, हड्डी, रक्त, मज्जा आदि से लेकर अत्यन्त बारीक ज्ञानात्मक तथा प्रेरणात्मक तन्तु-जाल की गणना स्थूल शरीर में है। इसी को अन्नमय कोश कह सकते हैं। यह कोश अन्न का बना हुआ है। जो अन्न हम खाते हैं वह जल तथा वायु आदि के सहारे भिन्न भिन्न रसों में परिवर्तित होता रहता है। वैद्यक शास्त्रों में इसके सात परिणाम बताये हैं। सातवाँ वीर्य है। वीर्य्य का अति सूक्ष्म भाग 'ओज' है। इस ओज से वह बारीक तन्तु बनते हैं जिनको वात संस्थान (Nervous system) कहते हैं। यह वात संस्थान अन्नमय कोश और प्राणमय कोश के मध्य का सीमान्त प्रान्त (borderland) है। वह बारीक तन्तु जाल तो अवश्य अन्नमय है। इसमें उत्तम खाद्य पदार्थों के खाने से शक्ति आती है। निकृष्ट भोजन खाने या उत्तम भोजन न खाने से यह तन्तु दुर्बल हो जाते हैं। इसका मोटा प्रमाण वह पौष्टिक पदार्थ हैं जिनको अंगरेज़ी में नरवाइन टोनिक (Nervine

Tonic) कहा करते हैं। परन्तु इन बारीक तन्तुओं द्वारा जो शक्ति काम करती है वह सूक्ष्म शरीर से आती है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर भी सबल और दुर्बल होता है। उसी के बल से स्थूल शरीर काम करता है।

सूक्ष्म शरीर के तीन कोश बताये गये। एक प्राणमय, दूसरा मनोमय, तीसरा विज्ञानमय। यह कोश तो हैं परन्तु इस प्रकार नहीं जैसे प्याज के छिलके—एक के ऊपर दूसरा। एक अति-सूक्ष्म शरीर के यह तीन भाग किस प्रकार हैं यह कहना कठिन है। स्थूल जगत् से इस प्रकार की उपमा मिलना कठिन है जिससे इन कोशों का सम्बन्ध ठीक प्रकार से समझ में आजाय। परन्तु इन कोशों का जो प्रभाव पड़ता है उससे इनके कामों के विषय में कुछ ज्ञान हो सकता है। प्राणमय कोश प्रेरणात्मक या क्रियात्मक विभाग हैं। समस्त क्रिया-शीलता इसी कोश से आरंभ होती है। इसको इच्छा-शक्ति (Will power) का केन्द्र कह सकते हैं। प्राण का अर्थ श्वास-प्रश्वास नहीं है। इस सम्बन्ध में कहीं कहीं जो वायु या वात शब्द का प्रयोग आया है उसको भी हवा (Air) के अर्थ में नहीं लेना चाहिये। प्राय: लोग उसी को प्राण कहते हैं जो वायु श्वास के साथ बाहर निकलता या भीतर जाता है। परन्तु यह वायु प्राण नहीं है। प्राण वह शक्ति विशेष है

जिससे श्वास प्रश्वास ही नहीं किन्तु निमेष, उन्मेष तथा शरीर की समस्त क्रियायें होती हैं। प्राणमय कोश के दुर्बल हो जाने से सुस्ती आती है। जिनका प्राण प्रबल है वह क्रिया-शीलता से परिपूर्ण रहते हैं।

मनोमय कोश उस कोश का नाम है जिसके द्वारा आत्मा में अनेक भाव (Emotions) जैसे भय, शोक, विषाद, प्रीति इत्यादि उठते हैं। जितनी क्रिया-शीलता है उस सब की पीठ पर यह भाव स्थित रहते हैं। इन्हीं भावों से प्रेरणायें उत्पन्न होती हैं। मनोमय और प्राणमय के बीच में कोई बड़ी दीवार नहीं है। जिस प्रकार गहरे नीले रंग और श्वेत रंग के बीच में ऐसे रंग आ सकते हैं जिनको नीला और श्वेत दोनों ही कह सकते हैं, इसी प्रकार बहुत से सूक्ष्म भाव हैं जिनके लिये यह कहना कठिन है कि यह प्राणमय कोश से संबन्ध रखते हैं या मनोमय से। कहीं कहीं तो भेद इतना स्थूल है कि आप झट समझ जायंगे। जैसे किसी को भय हुआ और वह भाग निकला। यहाँ भय का सम्बन्ध मनोमय कोश से है और भागने का प्राणमय से। परन्तु कहीं कहीं भेद इतना सूक्ष्म है कि उसका विश्लेषण करने में कठिनाई पड़ती है और भिन्न भिन्न मनोवैज्ञानिक इनको भिन्न भिन्न कोटियों में रख सकते हैं।

विज्ञानमय कोश में विज्ञान-विभाग समझना चाहिये। जिसको हम मस्तिष्क कहते हैं वह तो संस्कार ही बाहर से ले जाता है। परन्तु इन संस्कारों को ज्ञान में परिवर्तित करने का काम विज्ञानमय कोश का है। संस्कार स्थूल शरीर पर पड़ते हैं तो बाहर ही रह जाते हैं। विज्ञानमय कोश उन संस्कारों से वह ज्ञान ले लेता है जो बिना संस्कारों के भी विद्यमान रह सकता है। हमने गत अध्यायों में जो समानान्तर-वाद और प्रतिक्रियावाद रूपी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का वर्णन किया था उस सम्बन्ध में पाठकों को याद होगा कि बहुत से मानसिक व्यापारों की मस्तिष्क की गतियों से अनुकूलता नहीं मिलती। मस्तिष्क की गतियाँ स्थूल शरीर के व्यापार हैं। मानसिक व्यापार मस्तिष्क की गतियों के अतिरिक्त उनसे बढ़ चढ़कर कुछ व्यापार हैं जिनकी अनुकूलता मस्तिष्क के व्यापारों में मिलना असंभव है। जो मनोवैज्ञानिक केवल स्थूल शरीर का अन्वीक्षण करके ही समस्त मनोवैज्ञानिक व्यापारों की व्याख्या करना चाहते हैं उनके मार्ग में बहुत से कंटक हैं। वस्तुतः वह असम्भव बातों को संभव बनाना चाहते हैं। विज्ञानमय कोश के व्यापार ही इस समस्या को हल कर सकते हैं। विज्ञानमय कोश की जांच वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में नहीं हो सकती। जितने यंत्र बनेंगे चाहे वह कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों वह सब

स्थूल जगत् से संबंध रक्खेंगे। इस लिये उनसे विज्ञानमय कोश का कुछ भी पता नहीं लग सकता। विज्ञानमय कोश स्थूल भूतों का बना हुआ है ही नहीं। परन्तु विज्ञानमय कोश के व्यापार स्मृति तथा स्वप्न की अवस्था में तो स्पष्ट ही दीखते हैं ज्ञान-सम्बन्धी अन्य व्यापारों में भी हमको इनका संकेत मिलता है।

आनन्दमय कोश सब से भीतरी कोश है। इसको कारण-शरीर ही कहना चाहिये। यह सब जीवों का एक सा है। जागृत और स्वप्न अवस्था में प्राणियों की दशा भिन्न भिन्न होती है परन्तु, सुषुप्ति अवस्था में इनमें कोई भेद नहीं होता। जो शरीर या 'परिस्थितियाँ एक प्राणी और दूसरे प्राणी के बीच में भेद डालती थीं वह दूर हो जाती हैं। आनन्दमय कोश वस्तुतः मनोमय कोश नहीं है। मनोमय में सुख दुःख दोनों होते हैं। आनन्दमय में न सुख होता है न दुःख। इनसे भिन्न एक अनिर्वचनीय अवस्था होती है जिसको आनन्द कह सकते हैं। इस अवस्था का अनुभव तो हम सब को नित्यप्रति होता है परन्तु जब हम सुषुप्ति से जागृत अवस्था में आजाते हैं तो हमारे पास उसको स्मरण करने अथवा उसको फिर वापिस ले आने या उसकी व्याख्या करने की सामग्री विद्यमान नहीं होती।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि सूक्ष्म शरीर प्राकृतिक और जड़ है अथवा चेतन। इसका उत्तर यह है कि सूक्ष्म शरीर है तो जड़ और प्राकृतिक। परन्तु उस अर्थ में नहीं जिसमें आज कल प्राकृतिक वस्तुयें समझी जाती हैं। इसको समझने के लिये उस क्रम पर विचार करना होगा जिसके अनुसार प्रकृति से जगत् बनता है। जब तक प्रकृति किसी विकार को प्राप्त नहीं होती और सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का भेद उत्पन्न नहीं होता उस समय उसको प्रकृति या प्रधान कहते हैं। इसीको सांख्य ने सत, रज और तम की साम्य अवस्था कहा है। साम्य अवस्था का अर्थ है वह अवस्था जिसमें किसी प्रकार की विषमता न पाई जाय। कुम्हार मिट्टी से घड़े, शकोरे आदि बनाता है। यह भिन्न भिन्न होते हैं। अर्थात् इनमें विषमता होती है। शकोरा घड़ा नहीं है और घड़ा शकोरा नहीं है। परन्तु जिस समय यह सब मिट्टी रूप कारण की अवस्था में थे उस समय यह कहना चाहिये कि घड़े, शकोरे आदि की साम्य-अवस्था थी। कारण अवस्था ही साम्य-अवस्था है। जिस सोने से कड़ा, अंगूठी आदि बनते हैं वह अपने प्राकृतिक या मौलिक रूप में कड़े, अँगूठी आदि की साम्य अवस्था हैं। जब विकार उत्पन्न होगा तो विषमता आजायगी। यही जगत् के बनने का अर्थ है। सांख्य ने प्रकृति को सत, रज, तम

की साम्यावस्था इसलिये कहा है कि प्रकृति के लक्षण उन शब्दों द्वारा करने थे जो विकृत जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। भौतिक प्रकृति अवस्था में तो कोई शब्द होते नहीं। सब शब्द विकृत अवस्था के हैं। अतः साम्यावस्था कहकर लक्षण करने पड़े।

अच्छा जब विकार आरंभ हुआ तो स्थूल जगत् के बनने से पूर्व तन्मात्रायें बनेंगी। यह तन्मात्रायें स्थूल तत्व नहीं हैं और न वैज्ञानिक यंत्रों से जानी जा सकती हैं। जब पहले तन्मात्रायें बन जाती हैं तो उन्हीं का घनीभूत भाग स्थूल तत्व हैं जिनको पृथ्वी, जल, अग्नि आदि तत्वों के नाम से पुकारा है। यहाँ सृष्टि-क्रम का प्रसंग नहीं है। अतः इस पर अधिक विचार नहीं किया जा सकता। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि मौलिक प्रकृति से स्थूल जगत् तक आने में एक सूक्ष्म अवस्था से गुज़रना पड़ता है। यह बात एक प्रकार से समझ में आ सकती है। इस स्थूल जगत् में भी अत्यन्त सूक्ष्म से लेकर अत्यन्त स्थूल तक भिन्न भिन्न श्रेणियां हैं। सभी चीज़ों की स्थूलता बराबर तो है नहीं। जिस प्रकार इस स्थूल जगत् में बहुत बड़ा तारतम्य है उसी प्रकार स्थूल जगत् के अत्यन्त सूक्ष्म भाग से भी सूक्ष्म सूक्ष्म तत्व हैं जिनके बनाने के पीछे स्थूल जगत् बनता है। हमारा सूक्ष्म शरीर इन्हीं सूक्ष्म

तत्वों का बना हुआ होता है। और कारण शरीर प्रकृति का मौलिक रूप है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है। जब प्रकृति की मौलिक अवस्था इस समय है ही नहीं तो कारण शरीर कहाँ से आया। कारण शरीर को तो प्रलय की अवस्था में ही होना चाहिये। जब सोने से आभूषण बन गये तो फिर सोना कहाँ रहा? परन्तु यहाँ एक बात याद रखनी चाहिये। सोने की उपमा में एक विषमता है जिसके कारण यह भ्रम पैदा हो जाता है। जब सुनार सोने से जेवर बनाता है तो सोना शेष नहीं रहता। परन्तु प्रकृति से सृष्टि ठीक उसी प्रकार नहीं बनती किन्तु शनैः शनैः घनी होती जाती है। और प्रकृति अनन्त और विकृत जगत् सान्त होने के कारण प्रकृति उस विकृत जगत् की तह में भी व्यापक रहती है। इसी प्रकार सूक्ष्म तत्व घने होकर स्थूल तत्वों में उपस्थित रहते हैं। इसके लिये मुझे ठीक ठीक उपमा नहीं मिल सकी। हाँ एक उदाहरण से कुछ कुछ काम निकल आता है। जब मट्ठे को बिलोते हैं तो घी की फुटकें तैरती हुई दिखाई देती हैं। यह फुटकें मट्ठे का घनीभूत भाग है। परन्तु मट्ठा इनके भीतर विद्यमान रहता है। जब उस सब को आग पर तपाइये तो घी की फुटकें फिर मट्ठे के रूप में बदल जाती हैं। इसी प्रकार घनीकरण और अघनीकरण का

व्यापार निरन्तर जारी रहता है। इस प्रकार स्थूल शरीर स्थूल भूतों का बना हुआ है और इसके भीतर सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म तत्वों का तथा कारण शरीर मौलिक प्रकृति का।

कुछ लोगों ने यह कल्पना करली है कि जिस प्रकार स्थूल जगत् में स्थूल सूर्य्य, स्थूल चंद्र, स्थूल पहाड़, स्थूल नदियों इत्यादि हैं इसी प्रकार इस स्थूल जगत् के भीतर एक सूक्ष्म जगत् है जिसमें सूक्ष्म सूर्य्य, सूक्ष्म चंद्र, सूक्ष्म पहाड़ और सूक्ष्म नदियाँ आदि हैं। इस कल्पना ने लोगों को बहुत से विचित्र सिद्धान्तों से गढ़ने में सहायता दी है। परन्तु हम इन लोगों से सह-मत नहीं हैं। यह उनकी कल्पना मात्र है। वस्तुतः पहाड़, नदी, सूर्य्य आदि पदार्थ तो तभी बनते हैं जब सूक्ष्म तत्वों से स्थूल तत्व बन जाते हैं। स्थूल जगत् के समनान्तर सूक्ष्म जगत् नहीं है जिसमें कमरे के स्थान में कमरा, चारपाई के स्थान में चारपाई, कुर्सी के स्थान में कुर्सी आदि हो। यदि सूक्ष्म तत्वों से जगत् की सब वतुस्यें बन सकतीं तो स्थूल तत्वों तथा उनके द्वारा स्थूल जगत् के बनाने की क्या आवश्यकता होती? मेरे विचार से तो कुछ लोगों ने यह कल्पनायें जादूगरों के गपोड़ों को सिद्ध करने के लिये की हैं। परन्तु जो स्वयं जादूगरी करते हैं वे जानते हैं कि जादूगरी केवल चालाकी का नाम है। इन चालाकियों को सैकड़ों बार पकड़ा जा चुका है। अन्य चमत्कारों का भी यही हाल है।

उन्नीसवां अध्याय

जन्म से पूर्व और मृत्यु के पीछे ।

जन्म क्या है ? जीवात्मा का शरीर धारण करना । मृत्यु क्या है ? जीवात्मा का शरीर को छोड़ना । यहाँ शरीर से किस शरीर से तात्पर्य है क्योंकि शरीर तो तीन हैं ?

कारण शरीर तो कारण शरीर ही है । यह जीवात्मा के साथ एक रस विद्यमान रहता है । प्रकृति अनन्त और व्यापक है अतः जीव भी उस प्राकृतिक मौलिक या कारण शरीर से कभी पृथक् नहीं हो सकता ।

परन्तु शेष दो शरीर कार्य्य शरीर हैं । वह बनते बिगड़ते रहते हैं । उनमें परिवर्त्तन हुआ करता है । जीव इन्हीं शरीरों द्वारा अपने तीन गुण अर्थात् कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व का विकास किया करता है । यह शरीर इस विकास के साधन रूप हैं । यही शरीर जीव के व्यापार के लिये क्षेत्र हैं ।

जीवात्मा शरीर में कब और कैसे आता है ? यह प्रश्न बहुधा किया जाता है । इस प्रश्न का आधार एक भ्रम है ।

यदि वह भ्रम दूर हो जाय तो लोग इस प्रश्न को पूछना भी बन्द करदें। लोग समझते हैं कि पहले जिस प्रकार मकान तैय्यार हो जाता है और पीछे से रहने वाले उसमें घुस बैठते हैं उसी प्रकार पहले शरीर तैय्यार हो जाता है और पीछे से जीवात्मा उसमें प्रवेश कर लेता है। यह बड़ी भारी भूल है। जीवात्मा बने बनाये शरीर में नहीं घुसता किन्तु वह शरीर को बनाता है।

इसको दृष्टान्त से समझ सकते हैं। एक चालीस वर्ष के नौजवान हृष्ट पुष्ट पुरुष के शरीर की ओर देखो। यह शरीर साढ़े पांच फुट के लगभग लम्बा और डेढ़ मन के लग भग भारी है। अगर उससे पूछो कि अड़तीस वर्ष पहले जब तुम दो वर्ष के थे उस समय तुम्हारा शरीर कितना बड़ा था। वह अनुमान से बतायेगा कि उस समय उसका शरीर तीन फुट से कुछ कम और पांच छः सेर का था। आप अब उससे पूछिये कि यह इतना बड़ा शरीर तुमने कब बनाया और तुम उसमें कब आये? तो वह उस प्रश्न पर हँसेगा। क्योंकि वह इस शरीर को बनाने के पश्चात् इसमें नहीं आया किन्तु वही पुराना छोटा सा शरीर बढ़कर इतना बड़ा हो गया है। बस जो हाल इस चौड़े चकले शरीर का है वही उस शरीर का भी था जिसको दो वर्ष का कहते थे। वह शरीर उस शरीर का

बढ़ा हुआ रूप है जो माँ के पेट से निकला था। माँ के पेट में जो शरीर बना वह उस बहुत छोटे शरीर का बढ़ा हुआ रूप था जो पिता के शरीर से माता के गर्भ में आया। और पिता के शरीर में जो अतिसूक्ष्म शरीर था वह भी किसी दूसरे अतिसूक्ष्म रूप का विकसित रूप था जिसको इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के उपकरणों से अगोचर और अग्राह्य समझना चाहिये।

इस प्रकार एक बात तो स्पष्ट हो गई। जिसको हम जन्म कहते हैं वह केवल उस दशा का नाम है जब हम अपनी माता के गर्भ से बाहर आते हैं। वस्तुत: हमारा उस समय का शरीर बहुत पूर्व से बनने लगता है और हम निरन्तर उसमें रहते चले आते हैं। वह हमारे जीवन का आरंभ कदापि नहीं है। केवल वह एक अवस्था का आरंभ है।

अच्छा यह शरीर कब बनना आरंभ हुआ?

ऐतरेय उपनिषद् के दूसरे अध्याय में इस प्रकार कथन किया है:—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज् जनयति तदस्य प्रथमं जन्म।

"पहले यह गर्भ पुरुष के शरीर में होता है, जो वीर्य के रूप में होता है। यह वीर्य सब अङ्गों से खिंचकर बना है। पुरुष इस शरीर को अपने शरीर में रखता है। फिर जब वह इसका सिंचन स्त्री के गर्भ में करता है वह उसका पहला जन्म कहलाता है"।

पुरुष अर्थात् पिता के शरीर में आने से पूर्व यह शरीर किस रूप में था ? उस समय यह सूक्ष्म शरीर था। यह सूक्ष्म शरीर प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश के साथ था। उसके भीतर वह सब शक्तियाँ विद्यमान थीं जिनके द्वारा वह अपना विकास कर सकता था। जब यह सूक्ष्म शरीर पिता के गर्भ में आया तो उसने पिता के समस्त शरीर से उसी प्रकार अपना भोजन खींचना आरंभ किया जैसे चने का बीज खेत में पहुँचकर खेत में उपस्थित खाद्य पदार्थों को खींचकर अपने शरीर के रूप में परिवर्त्तित करने लगता है।

यह विकास केवल शारीरिक ही नहीं होता, किन्तु मानसिक भी होता है। पिता जो भोजन करता है उससे वह न केवल अपना शरीर ही बनाता है किन्तु उस सूक्ष्म शरीर के लिये भी भोजन पहुँचता है जो कि गर्भ के रूप में उसके शरीर में विकसित हो रहा है। इसी प्रकार पिता जो ज्ञान प्राप्त करता, या जो वासनायें (इच्छा; द्वेष, मद, लोभ) आदि

बनाता है उन वासनाओं के संस्कार भी यह सूक्ष्म शरीर ग्रहण करता रहता है। यहाँ दो प्रकार के व्यापारों का मिश्रण होता है। एक सूक्ष्म शरीर में स्वयं बाहर के पदार्थों को खींचकर अपने में मिलाने की शक्ति है। दूसरे बाहर की क्रियाओं का उस पर प्रभाव पड़ता है। चने के बीज में यह शक्ति है कि खेत में से चुन चुन कर अपने अनुकूल पदार्थों को खींच ले। परन्तु यदि खेत में खाद नहीं है या चने के अनुकूल पदार्थ कम हैं तो चने का बीज किसको खींचेगा? इसी प्रकार यह माना कि सूक्ष्म शरीर पहले से कुछ शक्तियाँ लाया था परन्तु पिता जैसे विचार रक्खेगा, जैसा भोजन करेगा, जैसी शारीरिक या मानसिक सामग्री सम्पादित करेगा उसी के अनुसार तो इस शरीर का विकास होगा। पिता के प्राणमय कोश से सूक्ष्म शरीर अपने प्राणमय कोश की वृद्धि करेगा, मनोमय कोश से मनोमय कोश की और विज्ञानमय कोश से विज्ञानमय कोश की। और जब एक निश्चित मात्रा में विकास हो चुकेगा तो पिता इस शरीर को माता के शरीर में पहुँचा देगा जिससे वहाँ अधिक वृद्धि हो सके।

जो सूक्ष्म शरीर माता के गर्भ में आया वह केवल सूक्ष्म शरीर नहीं है। पिता के गर्भ में अन्नमय कोश का बनना आरम्भ हो गया। जब माता के गर्भ में आया तो यह स्थूल

शरीर इतना बढ़ गया कि उसको उपकरणों द्वारा देख सकते थे। माता के गर्भाशय में भी उसने वही काम जारी रक्खा, अर्थात् माता के भिन्न भिन्न कोशों से अपने लिये शारीरिक तथा मानसिक भोजन लेना और अपने भीतर पचाकर अपना विकास करना। इस विकास को डाक्टर लोग भिन्न भिन्न अवस्थाओं में देख सकते हैं और जब बच्चा मा के पेट से बाहर आता है तब तो सभी देखते हैं। अब भी उसका वही व्यापार होता है अर्थात् घर में जो मानसिक, सामाजिक तथा शारीरिक सामग्री हो उसमें से अपने अनुकूल भोजन खींचकर अपना विकास करे। रोटी खाना, पानी पीना, कपड़े पहनना, भाषा बोलना, आदतें सीखना यह सब उसी प्रकार के व्यापार हैं। केवल भेद इतना है कि अब स्थूल होने के कारण सभी देख सकते हैं। पहले किसी को दिखाई नहीं पड़ते थे। बच्चा अपने परिवार या समाज से आदतें किस प्रकार सीखता है, यह तो अब भी सब को स्पष्ट नहीं होता। केवल विलक्षण पुरुष ही जान सकते हैं।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जन्म से पहले जीवात्मा कहाँ था। इस विषय में भिन्न भिन्न लोगों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ लोग तो जीवात्मा को अनादि नहीं मानते। उनके मत में जीवात्मा उत्पन्न होता है। कब और किससे?

इस विषय में वे स्पष्ट नहीं हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि जीवात्मा की उत्पत्ति पिता या माता के शरीर में होती है। शायद माता के शरीर में कहना अधिक उपयुक्त होगा। परन्तु इस मत में कई दोष हैं। शरीर में उत्पत्ति शरीर की ही हो सकती है। हम आरम्भ से यह दिखलाते चले आये हैं कि जीवात्मा शरीर नहीं है किन्तु शरीर से अलग एक चेतन अभौतिक पदार्थ है जिसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व लक्षण पाये जाते हैं। शरीर इन लक्षणों के प्रकाश का केवल उपकरण मात्र है। माता पिता के जीवात्माओं में भी यह तीनों लक्षण अलग अलग पाये जाते हैं। उनके जीवात्मा उनके शरीरों के भीतर तो हैं परन्तु शरीरों से भिन्न चेतन पदार्थ हैं जिनके द्वारा शरीरों में चेतना आती है। यदि यह जीवात्मा माता पिता के या किसी एक के शरीर में से उत्पन्न होते तो जड़ होते, उनमें चेतनता कहाँ से आती? यदि माता पिता के शरीर किसी चेतन जीवात्मा को उत्पन्न कर दें तो फिर माता पिता के जीवों के स्वयं अलग मानने की क्या आवश्यकता रहे? जो शरीर पुत्र के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण हो सकते हैं वहाँ अपने ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण क्यों नहीं हो सकते! इसलिये माता या पिता के शरीर में पुत्र के जीवात्मा की उत्पत्ति मानना किसी प्रकार समीचीन नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक और बात है। सन्तान के बहुत से स्वभाव अपने माता पिता के स्वभावों से मिलते जुलते हैं। परन्तु सम्पूर्ण नहीं। उनमें सन्तान का व्यक्तित्व (Individuality) भी उपस्थित रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि यदि पुत्र बड़ा गणितज्ञ है तो पिता भी बड़ा गणितज्ञ हो। या पिता गायक है तो पुत्र भी गायक ही हो। इस व्यक्तित्व के अनेक दृष्टान्तों से मनुष्य समाज का इतिहास भरा पड़ा है। माता पिता के शरीरों से जीवात्मा की उत्पत्ति मानी जाय तो इन विशेषताओं की व्याख्या हो ही नहीं सकती। आप फिर उस पुराने दृष्टान्त को लीजिये। चने के पेड़ में वही सब अंश हैं जो चने के खेत में उपस्थित थे। परन्तु चना का चनापन अपना है। उन सब अंशों के रहते हुये भी यदि चना बोया न जाता तो चने के पौधे न उगते। इसी प्रकार यदि माता पिता के शरीर में कोई जीव पहले से अपना व्यक्तित्व न लाता तो माता पिता का शरीर स्वयं उस जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता था। यदि जीवात्मा को एक अभौतिक चेतन सत्ता मान लिया जाय जैसा कि मनुष्य के मस्तिष्क सम्बन्धी व्यापारों की मीमांसा से प्रकट होता है तो इसको शरीर से उत्पन्न हुआ नहीं मान सकते। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा का आरंभ इस जीवन से नहीं

होता। किन्तु इसकी इस जीवन से पूर्व विद्यमानता सिद्ध हो जाती है।

एक और बात है। एकही माता पिता के दो बच्चों का मानसिक, वैज्ञानिक और शारीरिक विकास भिन्न भिन्न होता है। वह सब विकास के एक ही तल पर नहीं होते। विकास की यह भिन्नता केवल शारीरिक और सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता द्वारा ही व्याख्यात नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि इस विकास को माता पिता के संसर्ग में आने से बहुत पूर्व तक लेजाना होगा। यदि आप एक विद्यालय की किसी कक्षा में चार लड़के देखें जिनके व्यक्तित्व भिन्न भिन्न हों तो पहले आप उस भिन्नता का कारण अवश्य ही विद्यालय की अवस्था में तलाश करना चाहेंगे। परन्तु यदि आप खोजते जाँयं तो पता चलेगा कि यह भिन्नता वह विद्यालय में आने से पूर्व ही कहीं से लाये थे। अन्यथा इतना भेद न होता क्योंकि चारों का पालन पोषण एकही प्रकार के वायुमण्डल में हुआ। इसी प्रकार प्रत्येक बच्चा अपने व्यक्तित्व को आरंभ से ही प्रकाशित कर देता है। एकही परिस्थिति में पलते हुये भी उनका विकास भिन्न भिन्न लाइनों पर होता है और आगे चलकर यह भिन्नता और भी स्पष्ट हो जाती है।

एक उदाहरण लीजिये। पीपल और बरगद के छोटे छोटे बीजों की तुलना कीजिये। वे दोनों भिन्न भिन्न तो हैं परन्तु उनमें बहुत बड़ा भेद नहीं है। आकृति में, तोल में, परिमाण में थोड़ा ही अन्तर प्रतीत होगा। उन दोनों बीजों को एक ही खेत में कुछ अलग अलग बो दीजिये। खेत की भूमि एक सी है। वायु जल एक सा है, ऋतु एक सी है। परन्तु कुछ वर्ष के पश्चात् एक पीपल का वृक्ष बन जायगा और दूसरा बरगद का। पीपल के बड़े वृक्ष और बरगद के बड़े वृक्ष में बहुत बड़ा अन्तर है। यह अन्तर क्यों हुआ? बीज की भिन्नता के कारण। यों कहना चाहिये कि भिन्नता उन दोनों के मूल में भी थी। यही बढ़ती गई। यदि आप पीपल और बरगद के वृक्षों को देखें तो स्वभावतः यही कहेंगे कि इनके बीज भिन्न भिन्न रहे होंगे तभी तो वृक्ष भिन्न भिन्न होगये। कल्पना कीजिये कि एक माली आप से कहता है कि मैंने तो एक से ही बीज बोये थे। मैं नहीं जानता कि यह दो वृक्ष इतने भिन्न क्यों हो गये। तो क्या आप उस माली का विश्वास करेंगे? क्या आप न कहेंगे कि तुम भूलते हो। अवश्य ही बीजों में कुछ न कुछ भेद रहा होगा? बस यही उदाहरण आप प्राणियों पर घटाइये। जब प्राणियों के जीवन में इतना भेद है तो इसका कारण मौलिक भिन्नता ही हो सकती है। इस भिन्नता को

जन्म के पश्चात् तलाश करना भूल है। इसको तो जन्म से पहले ही मानना पड़ेगा।

यहाँ हमने यह दिखाने का यत्न किया है कि शारीरिक जीवन का आरंभ जीवात्मा का आरम्भ नहीं है।

अब थोड़ा सा मृत्यु के पश्चात् की दशा पर भी विचार आवश्यक है। एक प्रकार से तो प्रतिक्षण मृत्यु होती रहती है क्योंकि हमारे प्यारे शरीर का कोई न कोई अंश हमसे अलग होता रहता है। हम साँस लेते हैं तो भीतर का वायु निकल कर बाहर जाता है। पसीने, मल आदि द्वारा शरीर का बहुत सा भाग निकला करता है। बाल, नाखून आदि को हम स्वयं काट कर फ़ेंक देते हैं। थोड़े दिनों में हमारे शरीर के सभी परमाणु बिल्कुल बदल जाते हैं और पुराना एक परमाणु भी शेष नहीं रह जाता। तथापि यह सब परिवर्त्तन इतने शनैः शनैः होते हैं कि आपको इनका अनुमान नहीं होता और न आप इसको अपने शरीर का वियोग ही मानते हैं। परन्तु हम नित्य प्रति देखते हैं कि एक समय समस्त शरीर पड़ा रह जाता है। इसको मृत्यु कहते हैं। पहले तो शरीर के परमाणु बारी बारी से निकल रहे थे और उनके स्थान पर दूसरे परमाणु आरहे थे। यदि हमने साँस द्वारा वायु को बाहर फेंका तो उसी के स्थान में दूसरे वायु को भीतर भी खींचा। जहाँ गर्मियों में सेरों पसीना हमारे

शरीर से निकल गया वहाँ सेरों पानी हम पी भी गये। इस प्रकार लेखा जोखा बराबर होता रहा परन्तु जिसको साधारण बोलचाल में मृत्यु कहते हैं उसमें शरीर के सभी परमाणुओं ने सन्धि करके एक ही क्षण में हमको छोड़ दिया। अब यह शरीर उसी प्रकार से आदान प्रदान का व्यापार नहीं करता जैसे पहले करता था। न सांस लेता है, न पानी पीता है, न भोजन करता है। इसके अवयव स्वयं ही सड़ने लगते हैं।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या शरीर के बिगड़ते ही जीवात्मा भी नष्ट हो जाता है या जीवात्मा शरीर को छोड़कर बाहर चला जाता है। साधारण जनता का तो यही विचार है कि मृत्यु इसी का नाम है कि जीवात्मा शरीर से निकल कर कहीं चला जाय। परन्तु दार्शनिकों में इस विषय में मत भेद है। जिन्होंने शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के यांत्रिक संगठन (Mechanism) को ही जीवात्मा माना हुआ है उनके मत में तो संगठन के टूटने का नाम ही मृत्यु है और संगठन के टूटते ही जीव का नाश हो जाना चाहिये। घड़ी एक मशीन है। उस मशीन के भिन्न भिन्न अवयवों का एक प्रकार से चलना ही घड़ी का जीवन है। जब तक मशीन ठीक है, घड़ी की सुइयां चल रही हैं। यंत्र के बिगड़ते ही घड़ी भी मर जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि असली घड़ी इस मशीन को छोड़

कर कहीं चली गई। वस्तुत: मशीन के बिगड़ते ही घड़ी का सर्व नाश हो गया। इसी प्रकार यदि शरीर केवल एक मशीन है और उसके अंगों का यांत्रिक संगठन ही जीवन उत्पन्न कर देता है तो मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा का अस्तित्व मानना भूल होगी। फिर तो प्राचीन चारवाकों का यही मत ठीक होगा कि—

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

अर्थात् जो देह जल गई वह फिर कहाँ से आवेगी? मृत्यु के साथ ही हमारा अन्त हो जायगा।

परन्तु यदि यह बात सच है तो बड़े दु:ख की बात है। हम आयु भर जीने का प्रयत्न करते रहे, जीवन की पहेली साधारण पहेली नहीं है। इसकी विचित्रता पर तो विचार कीजिये। मनुष्य जीने के लिये क्या कुछ नहीं करता। जरा मानवी संस्थाओं पर तो विचार कीजिये, असभ्य, अर्द्धसभ्य और सभ्य देशों और जातियों के घोर प्रयत्नों पर दृष्टि डालिये। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं को तो देखिये। कैसा विस्तृत जाल फैला हुआ है। हमारी समस्त शक्तियाँ इन संस्थाओं की संपुष्टि के लिये काम आ रही हैं। मनुष्य इन सब कामों में ऐसा संलग्न है कि उसको अपनी ओर देखने की

भी फ़ुर्सत नहीं है। काम बहुत पड़ा है। जीविका कमानी है। घर बार को देखना है। देश और जाति का विचार करना है। खेलना कूदना और सैर करना है। मुझे अवकाश कहाँ कि आत्म-निरीक्षण जैसी थोथी बात के लिये समय निकाल सकूँ।

यदि इस सब मिश्रित जीवन का यही अन्त होना है कि हम न रहेंगे तो इतने बड़े खेल पर हँसी और खेद दोनों होता है। एक ओर तो विशाल सृष्टि जिसमें मनुष्य के प्रयत्न का भी कुछ कम हाथ नहीं है। दूसरी ओर ऐसा भयानक अन्त कि हम स्वयं न रहेंगे। इसका विचार करते ही हृदय काँपता है। और कुछ काम करने को जी नहीं चाहता। परन्तु मेरे अन्तरात्मा से एक आवाज़ आती है :—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
नैनं क्लेदयन्त्यापः नैनं शोषयति मारुतः॥

(गीता २। २३)

अर्थात् इस आत्मा को कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, कोई आग जला नहीं सकती, कोई जल गला नहीं सकता और न कोई वायु सुखा सकता है।

गीता की यह आवाज़ केवल श्रीकृष्ण की आवाज़ नहीं है। प्रत्येक प्राणी के भीतर से यही आवाज़ निकलती है कि मृत्यु

मेरा अन्त नहीं है यह केवल मेरे शरीर का अन्त है। मैं उस समय भी रहूँगा जब यह शरीर नष्ट हो जायगा न मैं शरीर के साथ उत्पन्न हुआ न मैं शरीर के साथ समाप्त होऊँगा। मेरी आयु शरीर की आयु से कहीं अधिक है।

परन्तु यह तो हुई सर्वसाधारण की धारणा। दार्शनिक लोग क्या कहते हैं और दर्शन शास्त्र को क्या कहना चाहिये। यदि कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व भौतिक शरीर के अवयवों से उत्पन्न नहीं होते तो भौतिक शरीर के साथ इनकी समाप्ति होनी नहीं चाहिये। व्यास मुनि के वेदान्त दर्शन के यह दो सूत्र यही बात बताते हैं :—

चराचर व्यपाश्रयस्तु तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भाव-भावित्वात् ॥

(२।३।१६)

अर्थात् चराचर भूतों में जो जन्म-मरण का व्यवहार देखा जाता है वह जीव के सम्बन्ध में मुख्य नहीं किन्तु गौण है। अमुक मर गया और अमुक उत्पन्न हो गया। यह भाक्त अर्थात् उपचार की भाषा है। (तद्भावभावित्वात्) क्योंकि शरीर के साथ होने से शरीर का भाव आत्मा में भी आ जाता है और जो भाषा शरीर से सम्बन्ध रखती है उसी का प्रयोग आत्मा के लिये भी करना पड़ता है।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यावत्त्वाच्च ताभ्यः ॥

(२ । ३ । १७)

आत्मा मरता या उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि कोई श्रुति ऐसा नहीं बताती। श्रुतियों में तो आत्मा का नित्य होना प्रतिपादित किया गया है।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्-
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(कठोपनिषद् २ । १८)

"न वह उत्पन्न होता है न मरता है। न वह किसी वस्तु का परिवर्तित रूप है और न उससे बदल कर कोई और चीज़ बन जाती है। वह अजन्मा है, नित्य है। सदा रहने वाला और पुराना है। शरीर के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता"।

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।

(छान्दोग्य ६ । ११)

"जीव नहीं मरता। जब जीव शरीर से निकल जाता है तो यह शरीर मर जाता है"।

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं :—

"न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा" ॥

(बृहदारण्यकोपनिषत् ४ । ५ । १४)

"अरे मैं व्यर्थ बात नहीं कहता। यह आत्मा अविनाशी है। उसका खण्डन नहीं हो सकता।"

अखण्ड वस्तु अविनाशी ही हो सकती है। क्योंकि मानवी मस्तिष्क में 'विनाश' शब्द का जो भाव विद्यमान है उसका विश्लेषण करने से पता चलता है कि विनाश का अर्थ है खण्ड खण्ड हो जाना। जो वस्तु अखण्ड है वह खण्ड खण्ड होगी ही कैसे? यदि अखण्ड और अविनाशी है तो मृत्यु के पश्चात् भी इसका अस्तित्व मानना पड़ेगा। स्थूल शरीर के विनाश से आत्मा का विनाश न होना चाहिये।

बीसवां अध्याय

जीवन की प्रयोजनवत्ता

"जीवन से पूर्व और जीवन के पीछे जीवात्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं" इस विषय पर हम एक और दृष्टि से विचार कर सकते हैं।

जब से डार्विन ने विकास वाद का भवन निर्माण करना आरम्भ किया उस समय से दार्शनिक और वैज्ञानिक जगत् में एक बात पर बड़ी ऊहापोह हो रही है। और वह है जीवन की प्रयोजनवत्ता। आप विकासवाद को मानें या न मानें, या उसके कुछ सिद्धान्तों से सहमत हों और अन्य सिद्धान्तों के विरुद्ध। कम से कम आप को एक बात माननी पड़ेगी। वह यह कि जीवन की सम्पूर्ण क्रियायें चाहे वह मानसिक हों चाहे शारीरिक, किसी न किसी प्रयोजन को अवश्य सिद्ध करती हैं। कोई छोटी से छोटी चीज़ और छोटी से छोटी गति भी प्रयोजन शून्य नहीं है।

जीवन क्या वस्तु है? जबसे हम उत्पन्न होते हैं और जब तक हम मरते हैं भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियायें किया

करते हैं। "हम" से हमारा तात्पर्य हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव तथा मन से है। उत्पन्न होते ही हम रो पड़े। रोना क्या है? एक प्रकार की भीतरी प्रेरणा हुई जिससे हमारा मुंह खुल गया और उसमें से एक विशेष प्रकार का शब्द निकलने लगा। यह 'भीतर की प्रेरणा' भी एक क्रिया नहीं है। किन्तु अनेक क्रियाओं का समूह है। क्योंकि जिसको हम "भीतर" कहते हैं वह कोई एक चीज़ नहीं है, किन्तु अवयवों की फ़ौज की फ़ौज है। इन सब ने जब एक विशेष क्रिया की तो हमने उसका नाम "भीतरी प्रेरणा" रक्खा। अब आप सोचिये कि बच्चा क्यों रोता है। कभी कभी मातायें झुंझलाकर कह बैठती हैं कि यह व्यर्थ रो रहा है। अर्थात् उसके रोने का कोई कारण नहीं है और यह सम्भव था या उसके वश में था कि वह न रोता। परन्तु यह तो मनुष्य की निर्बलता है। यह उसकी ऊपरी दृष्टि है। बच्चे का रोना प्रयोजन शून्य नहीं है। जिन विकासवादियों ने 'स्वभाव' का विश्लेषण किया है वह भली भांति जानते हैं कि यदि बच्चा न रोता तो शरीर की वृद्धि में बाधा पड़ती। शरीर के समस्त अङ्गों का सामूहिक व्यापार जिसको 'रोना' कहते हैं शरीर के विकास में एक मुख्य स्थान रखता है। विकास का अर्थ ही यह है कि यह जो शरीर के अवयव हैं वह निष्प्रयोजन नहीं हैं। उनके अपने धर्म हैं

और यह धर्म अन्य धर्मों के आधारभूत हैं। बच्चे के शरीर में बहुत से अवयवों का अभाव होता है। यह अवयव पीछे से उत्पन्न होते हैं जैसे दांत इत्यादि, परन्तु उन अवयवों का अत्यन्ताभाव नहीं होता, प्रागभाव होता है और प्रागभाव का अर्थ ही यह है कि बीजरूप में उनका भाव विद्यमान है। गीता में भी कहा है कि "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" (२। १६) अर्थात् न अभाव से भाव उत्पन्न होता है न भाव से अभाव। जो अवयव आरम्भ में विद्यमान थे उनमें ही आगे उत्पन्न होने वाले अवयवों का बीज भी उपस्थित था अर्थात् प्रयोजन विद्यमान था। यह प्रयोजन ही शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्तन करता रहा। भूख, प्यास आदि आवश्यकतायें, काम क्रोध लोभ मोह आदि व्यसन, इच्छा और द्वेष, शत्रुता और मित्रता, बुराई और भलाई, सुख और दुःख इन सबका एक प्रयोजन है।

फिर एक बात पर और विचार कीजिये। जीवन न केवल शारीरिक व्यापार है, न केवल मानसिक। किन्तु इन सबका संयोग ही जीवन है। शरीर का प्रत्येक अवयव एक दूसरे पर और शरीर और अन्तःकरण अपनी बारी में एक दूसरे पर प्रभाव डाला करते हैं। पारस्परिक प्रतिक्रियायें सदा हुआ करती हैं। यह क्रियायें हमारे भावों को परिष्कृत करने के लिये हैं। भूख लगती है। यह एक कोरा शारीरिक व्यापार समझा

जाता है। परन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। यदि केवल भौतिक शास्त्र की ही दृष्टि से देखा जाय तो भूख की व्याख्या कुछ विशेष धातुओं की कमी से की जा सकती है। अर्थात् अमुक अमुक धातुयें शरीर में कम हो गई और भीतर से मांग आई कि भेजो! परन्तु यदि केवल इतना ही होता तो उसी प्रकार उन धातुओं को मुंह के भीतर डाल देते जैसे इंजन के भीतर कोयला झोंका जाता है। परन्तु यदि ऐसा ही होता तो पाक-शाष्त्र के जटिल नियम क्यों बनाये जाते। आप सोचिये तो सही कि भिन्न भिन्न जातियों, भिन्न भिन्न देशों और युगों में भोजन निर्माण के कैसे कैसे नियम बनाये हैं। यह जो सहभोज किये जाते हैं जिनमें छओ रसों का विशेष प्रकार से सम्पादन होता है, यह पाक विद्या विशारद स्त्री और पुरुष अपनी पाक कला का परिचय देने के लिये प्रतियोगिता सी करते हैं, यह सब क्यों होते यदि भूख की व्याख्या केवल इंजन की उपमा से की जाती सकती। फिर सृष्टि में जो खाद्य पदार्थ हैं उनमें विशेष रस है। इन रसों को चखने के लिये रसना है। रसना न केवल रसों को ही चखती है किन्तु भावों के विकास में भी काम करती है।

इस प्रकार शरीर की क्रियायें न केवल शरीर के ही अवयवों को बनाने में काम आती हैं किन्तु मानसिक विकास का भी कारण होती हैं। यही हाल मानसिक व्यापारों का

है। उनमें भी तारतम्य है, और उन सब व्यापारों का मिलकर एक प्रयोजन है।

इसका एक मोटा दृष्टान्त लीजिये। एक बड़े भवन पर विचार कीजिये। उसमें बीसियों कमरे हैं। कोई शयनागार, कोई भोजनागार, कोई स्नानागार, कोई स्वागतागार आदि आदि। जब इनका बनना आरम्भ हुआ और कल्पना कीजिये कि भिन्न भिन्न कमरों के बनाने का काम भिन्न भिन्न कारीगरों को सौंपा गया तो प्रत्येक कारीगर की दृष्टि में अपना कमरा ही था। उसको दूसरों से कुछ प्रयोजन नहीं था। जब एक एक ईंट गढ़ कर रख रहे थे तो उनकी दृष्टि अपने कमरे से बाहर न जाती थी। जिसको स्नानागार बनाना था वह यही समझता था कि अमुक स्थान पर जल रखने या नल लगाने का प्रबन्ध करूं, अमुक स्थान पर स्नान करने वाले के बैठने का, अमुक स्थान पर साबुन, तेल आदि रखने का। परन्तु यदि वह मनुष्य ऐसा स्नानागार बनादे जिसका मेल शेष कमरों से न मिले तो क्या ऐसे कारीगर को बुद्धिमान् कहेंगे? कदापि नहीं। बुद्धिमान् कारीगर अपने विशेष कमरे पर भी दृष्टि रखता है और यह भी जानता है कि मुझे अपने इस कमरे को समस्त भवन से मिलाना भी है। इसी प्रकार शरीर का प्रत्येक अङ्ग अपने निकटतम प्रयोजन को सिद्ध

करता हुआ समस्त शरीर के प्रयोजन को भी सिद्ध करता है। नाक का काम इतना ही नहीं है कि सुगन्ध और दुर्गन्ध का पता चलाया करे। किन्तु इस काम के अतिरिक्त इसके द्वारा समस्त शरीर का विकास भी उसका काम है। यदि आँख का काम केवल रूप देखना ही होता तो किसी ऽ रे पुरुष के अन्धे-पन से उसके शरीर को हानि नहीं पहुँचनी चाहिये थी। क्योंकि जब आँख ही नहीं तो उसका काम भी नहीं, चलो छुट्टी हुई। परन्तु ऐसा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आँख देखती तो है परन्तु इस देखने के व्यापार में समस्त शरीर का प्रयोजन अभीष्ट है।

इस प्रकार यदि शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों की क्रियाओं की जाँच की जाय तो ज्ञात होगा कि स्थूल दृष्टि से उन क्रियाओं से शारीरिक विकास ही प्रतीत होता है परन्तु आगे चलकर सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक शारीरिक क्रिया मानसिक विकास के लिये है। यहाँ 'मानसिक' शब्द का हम बहुत विस्तृत अर्थ लेते हैं जिसमें वैज्ञानिक, आत्मिक आदि सबका समावेश हो सके। जब शारीरिक विकास बन्द हो जाता है तो मानसिक विकास बन्द नहीं होता किन्तु जारी रहता है। इसके लिये एक और मोटा उदाहरण लीजिये। बच्चे का छोटा सा हाथ होता है और उसमें थोड़ी सी ग्रहण करने की

शक्ति होती है। बच्चा इस हाँथ को पालने में ही हिलाने लगता है। इस व्यापार से हाथ बढ़ता है। उसका शारीरिक परिमाण भी बढ़ता है। और उसमें पकड़ने की शक्ति भी बढ़ती है जब वह युवा होता है तो उसका हाथ बहुत बड़ा हो जाता है और उसमें शक्ति भी बहुत आजाती है। परन्तु अब हाथ का बढ़ना बन्द हो जाता है। यदि हाथ उसी अनुपात से बढ़ता रहता जैसा बचपन में बढ़ा तो चालीस वर्ष के पुरुष का हाथ कई गज़ का होना चाहिये था। इस प्रकार शारीरिक विकास बन्द हो गया। परन्तु मानसिक विकास जारी रहा। पहले तो मनुष्य ने यह कोशिश की कि चाहे हाथ की लम्बाई चौड़ाई उतनी ही रहे लेकिन शक्ति बढ़नी चाहिये। इसके लिये उसने व्यायाम करना आरंभ किया। यह व्यायाम केवल शारीरिक व्यायाम ही नहीं किन्तु मानसिक व्यायाम भी है, क्योंकि मनुष्य सोचता है कि किस प्रकार हाथ में शक्ति आवे। यह सोचने का व्यापार केवल हाथ का व्यापार नहीं किन्तु मन का व्यापार है या यों कहना चाहिये कि मन, बुद्धि और चित्त तीनों का विकास सम्मिलित है। कल्पना कीजिये कि हाथ बहुत पुष्ट हो गया और उसमें वृक्ष को बीच से चीरने या बड़े से बड़े पत्थर को उठाने या मोटर रोकने की शक्ति आगई। परन्तु यहाँ इस विकास की इति श्री नहीं हुई। विकास जारी है।

तलवार, क़लम, लाठी आदि का प्रयोग इसी विकास का चिह्न है। इससे भी आगे चलकर तार, बेतार संदेश, इत्यादि २ उसी विकास का परिष्कृतरूप है अर्थात् मनुष्य चाहता है कि चाहें उसका हाथ छोटा ही रह जाय परन्तु उसमें ग्रहण करने की शक्ति इतनी अधिक होती जाय कि मीलों दूर की चीज़ें भी उसकी पकड़ और पहुँच से दूर न रह सकें। ऐसे उदाहरणों से पुस्तकें भरी जा सकती हैं।

इससे यह नतीजा निकला कि मनुष्य का शरीर और शरीर का प्रत्येक व्यापार पहले तो शारीरिक विकास के लिये और अन्त में मानसिक या आत्मिक विकास के लिये है। इन सब में प्रयोजनवत्ता है। प्रयोजन-शून्य कुछ नहीं।

अब इसकी संगति उस प्रश्न से लगाइये कि जन्म से पूर्व और मृत्यु के पीछे जीव रहता है या नहीं। यदि मृत्यु के पीछे जीव न रहे और शारीरिक जीवन के साथ ही जीव का जीवन भी समाप्त हो जाय तो इस समस्त जीवन यात्रा का प्रयोजन क्या? और सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकार की अन्यान्य संस्थाओं की क्या उपयोगिता? शरीर की प्रयोजन-वत्ता जिसका हमने इस अध्याय में उल्लेख किया है यही बताती है कि जीव के विकास के लिये शरीर का विकास है और यदि शरीर का विकास किसी सीमा पर जाकर रुक

जाता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि जीव का विकास भी रुक गया। शरीर का विकास इसलिये रुकता है कि उसने अपना काम समाप्त कर लिया। मैं यदि मोटर पर बैठकर रेल के स्टेशन पर जाता हूँ और वहाँ मोटर को छोड़ देता हूँ तो इसका इतना ही अर्थ है कि मोटर की यात्रा समाप्त हो गई, मेरी यात्रा जारी है। मोटर की यात्रा भी मेरे ही लिये थी। परन्तु मोटर का काम समाप्त हो गया। अब मेरी यात्रा के दूसरे साधन होंगे।

प्राय: सभी विकासवादी इतनी दूर तक तो हमसे सहमत हैं कि जीवन के भिन्न भिन्न रूप किसी प्रयोजन के लिये हैं। परन्तु वह इस प्रयोजन में जीव को घसीटना नहीं चाहते। डार्विन तथा उनके सहकारियों ने अमीबा से लेकर मनुष्य तक सब योनियों का सिलसिला मिला दिया और छोटी योनियों का प्रयोजन यही बताया कि अगली योनि के विकास में सहायता हो। परन्तु उन्होंने इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी कि अगली योनि के विकास से किसका प्रयोजन अभीष्ट है। उनका कहना है कि हम 'जीव' के झगड़े मे ही क्यों पड़ें ? जीव हो तो भला, न हो तो भला। परन्तु इससे विकास-वाद की उलझनें सुलझती नहीं, किन्तु बढ़ जाती हैं। यदि एक योनि दूसरी योनि के विकास का कारण या साधन होती है तो प्रश्न यह है कि पहली योनि का पिछली योनि में कितना अंश

शेष रहता है। यदि केवल आकृति (Type) ही शेष रह जाती है और कुछ नहीं, तो इससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रयोजन (Purpose) शब्द स्वयं ही किसी चेतन सत्ता का द्योतक है। यदि भवन में रहने वाला कोई चेतन पुरुष नहीं तो भवन का प्रयोजन ही क्या ? और यदि एक भवन को देखकर दूसरे भवन की नई आकृति का विकास हुआ भी तो किसके लिये ? दूसरी बात यह है कि शारीरिक विकास का अन्तिम ध्येय जो मानसिक विकास है उसका क्या अर्थ ?

एक और बात लीजिये। हम मनुष्यों को भिन्न भिन्न अवस्थाओं में मरता पाते हैं। दो मास का बच्चा मरा, छः मास का बालक मरा, १२ वर्ष का लड़का मरा, तीस वर्ष का युवा मरा और साठ वर्ष का बुड्ढा मरा। इन सब का शरीर तो छूट गया। मरते समय यह विकास के एक ही धरातल पर तो थे नहीं, किसी का मन अधिक विकसित था और किसी का कम। इस विकास की अगली श्रेणी क्या होगी ? क्या यह विकास की मात्रायें वहीं भिन्न भिन्न स्टेशनों पर समाप्त हो जायेंगी ? इस बात को मानने के लिये न तो कोई प्रमाण है न हृदय इसको स्वीकार करने को तैय्यार है।

इक्कीसवाँ अध्याय

पुनर्जन्म

गत अध्याय में यह बताया गया है कि शरीर का जन्म और शरीर की मृत्यु जीवात्मा का जन्म और जीवात्मा की मृत्यु नहीं है। जीव शरीर से पहले था और शरीर के पीछे रहेगा। कुछ लोगों को इस बात के मानने में आपत्ति है। वह कहते हैं कि जब जीवात्मा का गुण ज्ञान है तो ज्ञान तो बड़ी आयु में होता है। दो दिन के बालक को कुछ भी ज्ञान नहीं होता। ज्ञान की शनैः शनैः वृद्धि होती जाती है। जब ज्ञान घट बढ़ सकता है और जब शरीर के समान मस्तिष्क या मन का भी विकास होता है तो शरीर के समान जीव को भी आदि क्यों न माना जाय और यह क्यों न समझा जाय कि जीवात्मा शरीर में उसी समय आता या पैदा होता है जब ज्ञान होने लगता है।

परन्तु इसमें थोड़ी सी भूल है। हमने पहले अध्यायों में इस बात के दिखाने का यत्न किया है कि जीव का गुण एक-मात्र ज्ञान नहीं है किन्तु ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व है।

यह तीनों गुण एक दूसरे के साथ इस प्रकार मिले हुये हैं कि कोई केवल अकेला कभी विद्यमान नहीं रहता। अर्थात् मन या अन्तःकरण की कोई अवस्था ऐसी नहीं है जिसको केवल ज्ञातृ-अवस्था या केवल कर्तृ-अवस्था या केवल भोक्तृ-अवस्था कह सकें। यह सम्भव है कि कभी किसी का आविर्भाव हो और किसी का तिरोभाव। परन्तु सर्वथा अभाव किसी का नहीं होता। बच्चा कितना ही छोटा क्यों न हो उसमें कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य होता है। वह जानता अवश्य है। विकासवादी वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि नवजात बच्चे के स्वभाव से भी ज्ञात होता है कि वह पिछला कुछ अनुभव लाया है। हेनरी ड्रमंड (Henry Drummond) की पुस्तक मनुष्य का उत्थान (The Ascent of Man) से एक उद्धरण यहाँ अनुपयुक्त होगा।

Dr. Robinson has records of upwards of sixty cases in which the children were under a month old, and in at least half of those the experiment was tried within an hour of birth. In every instance, with only two exceptions, the child was able to hang on to the finger or a small stick, three quarters of an inch in diameter, by its

hands ; like an acrobat from a horizontal bar, and sustain the whole weight of its body for at least ten seconds. In twelve cases, in infants under an hour old, half a minute passed before the grasp relaxed, and in three or four, nearly a minute. When about four days old, I found that the strength had increased, and that nearly all, when tried at this age, could sustain their weight for half a minute." (pp. 101-102).

"डाक्टर रौबिंसन ने साठ से ऊपर घटनाओं का उल्लेख किया है जिनमें बच्चे एक महीने से कम की आयु के थे। इनमें से कम से कम आधों की परीक्षा तो जन्म के एक घण्टे के भीतर ही की गई। "केवल दो को छोड़ कर और सब बच्चे उँगली के सहारे या पौन इञ्च मोटी एक छोटी लड़की के सहारे अपने सब बोझ को लिये हुये कम से कम दस सिकण्ड तक इस प्रकार लटकते रहे जैसे एक खेलने वाला हौरीजेण्टल बार पर लटकता है। इनमें से बारह बच्चे जो एक घण्टे से भी कम आयु के थे आधी मिनिट लटकते रहे और तीन या चार एक मिनिट तक। जब चार दिन के लगभग बड़े हुये तो उनकी शक्ति बढ़ गई और यह सब इस आयु में आधी मिनिट तक लटके रह सके"।

इन परीक्षणों से विकासवादी यह नतीजा निकालते हैं कि बन्दर से जो मनुष्य की उत्पत्ति कही जाती है, उसकी इनसे पुष्टि होती है। बच्चे का लकड़ी या उङ्गली के सहारे लटकना बन्दरों के वृक्ष पर लटकने का संस्कार रूप है। हम यहाँ विकासवाद के सिद्धान्त की सारता या असारता पर कुछ कहना नहीं चाहते। परन्तु हम इन परीक्षणों से यह नतीजा निकालते हैं कि बच्चे पुराने संस्कार लाते हैं। यह पुराने संस्कार शरीर के परमाणु नहीं ला सकते। संस्कारों को लाने के लिये तो जीवात्मा ही होना चाहिये। क्योंकि लटकने का स्वभाव, या स्मृति या ज्ञान चाहे प्रकट हो चाहे गुप्त, भौतिक नहीं किन्तु आध्यात्मिक है। इन संस्कारों से जीव का जन्म से पहले का अस्तित्व स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है।

टी० एच० ग्रीन ने जीव के ज्ञातृत्व के विषय में एक विचित्र बात लिखी है जिससे हमारी धारणा की पुष्टि होती है। उनका आशय यह है कि मनुष्य के अन्तःकरण में जो ज्ञान का परिवर्तन हुआ करता है अर्थात् भिन्न भिन्न ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं इनके अतिरिक्त उसमें एक सामान्य ज्ञान या चेतना शक्ति है जो अनादि है। वह लिखते हैं कि—

What we call our mental history is not a history of this consciousness, which in itself

can have no history, but a history of the process by which the animal organism becomes its vehicle. (Prolegomena of Ethics by T. H. Green pp. 74 to 84).

"अर्थात् जिसको हम अपने मानसिक विकास का इतिहास कहते हैं वह इस सामान्य ज्ञान शक्ति का इतिहास नहीं है परन्तु उस व्यापार का इतिहास है जिसके द्वारा मनुष्य का भौतिक मस्तिष्क इस सामान्य ज्ञान शक्ति का साधन बनता है।"

यहाँ उनकी सब युक्तियाँ दी नहीं जा सकतीं। उनकी पुस्तक के दस पृष्ठ पढ़ने से यह बात भली भाँति समझ में आ सकती है। उन्होंने एक अच्छा दृष्टान्त दिया है। जब हम किसी पुस्तक को पढ़ते हैं तो ज्यों ज्यों पढ़ते जाते हैं उसके शब्द वाक्य आदि का ज्ञान होता जाता है। इस अर्थ में हमारा ज्ञान बढ़ रहा है। परन्तु पुस्तक पढ़ना आरम्भ करने से पूर्व हमारे भीतर कुछ ऐसी ज्ञान शक्ति थी जो कह रही थी कि पुस्तक का कुछ अर्थ होगा। यदि ऐसी चेतना न होती तो हम कभी पुस्तक का आरम्भ भी न कर सकते। यह चेतना पुस्तक पढ़ने का आरम्भ करते समय उत्पन्न नहीं हुई। यह पहले से ही उपस्थित थी। इसी प्रकार जब हम सृष्टि-रूपी पुस्तक (Book of nature) का पाठ करने चले तो पहले से ही

हमारे भीतर यह चेतना थी कि इसका कुछ अर्थ होगा। यह चेतना उस दिन आरम्भ नहीं हुई जिस दिन हमने आँखें खोलीं और संसार की वस्तुओं को पहचानना आरम्भ किया। यह चेतना पहले से ही है। यह अनादि है। प्रोफेसर ए० वुल्फ (Prof. A. Wolf of London University) ने ग्रीन के इस मत का सारांश इन शब्दों में दिया है :—

Human consciousness, according to Green, is essentially self-consciousness. In the case of man even the simplest process of sense perception is not a mere change, but the consciousness of a change. All human experiences, in short, consist not of mere events, physical or mental, but of recognition of such events. What we apprehend, therefore, is never a *bare* fact, but a recognised fact, synthesis of relations in a consciousness which involves a *self* as well as the elements of the objects apprehended, which it holds together in the unity of the act of perception. Thus knowledge always implies the work of the mind or self. This work of the mind,

however, is not capricious or arbitrary. This is attested both by the common distinction between truth and error, between reality and illusion, and by the very existence of the sciences. But all this, according to Green implies that the reality which we know is an intelligible reality, an ideal system, in short, a spiritual world. And such a world can only be explained by reference to a spiritual "principle which renders all relations possible and is itself determined by none of them", an absolute and eternal self-consciousness which apprehends as a whole what man only knows in part. This "principle," this absolute and eternal self-conscionsness, is God. In some measure man partakes of the self-consciousness of God. This participation is the source of morality and religion. It is also the justification of the belief in immortality. For a self-conscious personality cannot be supposed to pass away but must partake of the nature of the Eternal. (An Outline of Modern Knowledge p. 553-554).

"ग्रीन के मत में मानवी चेतना मुख्यत: आत्म-चेतना है। मनुष्य का छोटे से छोटा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान भी केवल घटना ही नहीं है किन्तु उस घटना की चेतना है। सारांश यह है कि समस्त मानवी अनुभव न केवल शारीरिक या मानसिक घटनायें ही हैं किन्तु उन घटनाओं का संज्ञान है। हम जो कुछ जानते हैं वह ज्ञान केवल घटना ही नहीं है किन्तु एक संज्ञात घटना है। अर्थात् चेतना में सम्बन्धों का समष्टीकरण है। इससे दो चीजों का पता चलता है, एक तो आत्मा और दूसरा वह पदार्थ जिनका हमको ज्ञान होता है और जिनका यह आत्मा अपने ज्ञान के व्यापार में समष्टीकरण करता है। यह ज्ञान सर्वदा मन या आत्मा के व्यापार का सूचक है। मन का यह व्यापार असम्बद्ध या नियम-शून्य नहीं है। यह बात सत्य और असत्य, तत्व ज्ञान और भ्रम, तथा भिन्न भिन्न विज्ञानों की विद्यमानता से सिद्ध ही है। ग्रीन का मत है कि जिस तत्व का हमको ज्ञान होता है वह एक ज्ञेय तत्व है। एक वैज्ञानिक संस्था या आत्मिक जगत् है। ऐसे जगत् की व्याख्या एक आध्यात्मिक सत्ता द्वारा ही की जा सकती है जिसके कारण यह सब सम्बन्ध संभव हैं और जो स्वयं इन सम्बन्धों से अलग है। यह एक स्वयंभू और अनादि आत्म-चेतना है जो उन सब वस्तुओं का समस्त ज्ञान रखती है जिस

का आंशिक ज्ञान मनुष्य को होता है। यही स्वयंभू तथा अनादि आत्म-चेतना ईश्वर है। किसी अंश में ईश्वर की आत्म-चेतना का अंश मनुष्य में भी है। यही अंश सदाचार और धार्मिकता का आधार है। इसी से अमरत्व के विश्वास की पुष्टि होती है। क्योंकि जो आत्म-चेतना वाली सत्ता है उसके लिये ऐसा समझना समीचीन नहीं है कि यह नष्ट हो जाय, इसमें अमरत्व का अंश भी आना चाहिये।"

हम इतने बड़े उद्धरण के लिये पाठकों से क्षमा मांगते हैं। बिना इस सब का उल्लेख किये ग्रीन महोदय का यथार्थ मत समझने में भ्रम होने की संभावना थी और अब भी यदि हम अपनी निर्बलता के कारण इसको स्पष्ट न कर सके तो पाठकों को ग्रीन महोदय की पुस्तकों को पढ़ना चाहिये। परन्तु इस सबसे हमारा तात्पर्य केवल यह दिखाना है कि शरीर की उत्पत्ति से बहुत पूर्व हम जीव का अस्तित्व पाते हैं और यह हमारा अन्ध-विश्वास न होगा यदि हम जीव को शरीर के समान नश्वर न मानें।

अब इसके साथ ही एक प्रश्न और उठता है, और इसका उठना स्वाभाविक ही है। वह प्रश्न यह है कि यदि जीव अनादि और अमर है तो क्या इसका दैहिक सम्बन्ध एक आकस्मिक बात है या स्वाभाविक। अनन्त जीवन की अपेक्षा

तीन सौ चार सौ वर्ष के दीर्घ से दीर्घ जीवी प्राणी का जीवन भी क्षणिक प्रतीत होगा। जो लोग आत्मा को अमर मानते हुए केवल एक ही शारीरिक जीवन पर विश्वास रखते हैं वह जीवन की किसी मौलिक समस्या को हल नहीं कर सकते। हममें से कोई कोई तो एक दिन का ही होकर मर जाता है। कोई दो चार वर्ष रहते हैं। बहुत कम ऐसे हैं जो अस्सी वर्ष की अवस्था तक पहुँच पाते हों। यदि यही जीवन एक मात्र दैहिक जीवन है तो प्रश्न होता है कि रेत के समुद्र में एक जल बिन्दु की क्या आवश्यकता? फिर उन धार्मिक लोगों का तो कहना ही क्या जो इस क्षणिक जीवन के कर्तव्य अकर्तव्य सदाचार अनाचार को शेष अनन्त भावी जीवन के सुख दुःख का कारण मान बैठे हैं। अनन्त स्वर्ग, अनन्त नरक का आधार एक सात वर्ष की आयु वाले बालक के भोलेपन से प्रेरित हुए आचार अनाचार को मान बैठना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। यदि मानवी बुद्धि ऐसी वस्तु है जो सत्य असत्य का निर्णय कराने के लिये है तो ऐसी बुद्धि कभी ऐसी अनर्गल बातों को स्वीकार नहीं कर सकती।

वैदिक शास्त्रों ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया है कि एक शरीर के पश्चात् दूसरा शरीर मिलता रहता है। इसी को आवागमन, अथवा पुनर्जन्म का सिद्धान्त कहते

हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु और जन्म दो जीवनों के बीच के द्वार मात्र हैं। एक शरीर को छोड़ा और दूसरा शरीर मिल गया। जिस प्रकार जीवात्मा का निज आत्मिक जीवन अनादि और अनन्त है उसी प्रकार शारीरिक जीवन का प्रवाह अनादि और अनन्त है। जीवात्मा स्वयं तो स्वरूप से अजर और अमर है परन्तु उसका शरीर प्रवाह से अजर और अमर है। प्रत्येक शरीर का आदि और अन्त है परन्तु इस प्रवाह या सिलसिले का आदि और अन्त नहीं है।

कुछ लोगों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान्य नहीं है। वह कहते हैं कि इसका कोई प्रमाण नहीं। परन्तु यदि कोई ऐसा मनुष्य है जिसको यह विश्वास है कि मैं कभी बालक था और अब वही 'मैं' युवा हूँ। तो जो कुछ प्रमाण उसके इस निज अनन्यत्व (Identity) के लिये हैं वही प्रमाण जीवात्मा के एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश होने के लिये भी हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जैसे ह्यूम, जिन्होंने इस अनन्यत्व का खण्डन किया है। उसने सर्वसाधारण में प्रचलित अनन्यत्व के अर्थों का विश्लेषण करके यह दिखाया है कि हमारे बालकपन और वृद्धावस्था में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसको "अनन्य" या 'वही' कह सकें क्योंकि दशायें इतनी

परिवर्तित होती रहती हैं कि बुड्ढे देवदत्त में बालक देवदत्त की कोई बात भी शेष नहीं रहती, न शरीर, न रूप, न स्वभाव, न ज्ञान, न इच्छायें, न प्रवृत्तियाँ, न वृत्तियाँ। परन्तु ह्यूम भी एक बात का खण्डन नहीं कर सका। अर्थात् वह यह नहीं कह सका कि अनन्यत्व का भाव भी नहीं है। माना कि बुड्ढे देवदत्त का वही शरीर नहीं है जो बालक देवदत्त का था। माना कि उसके ज्ञान आदि भी वही नहीं हैं। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि बुड्ढे देवदत्त में यह भाव उपस्थित है कि मैं वही हूँ जो पचास वर्ष पहले सड़क पर खेला करता था। पाठक वर्ग! यदि आप बुड्ढे हैं और यदि आप अपने बालक-पन के क्रीड़ा-स्थल को देखते हैं तो क्या आप यह नहीं कहते कि मैं पहले यहाँ खेला करता था? यह भाव कहाँ से आया? क्या किसी ने ऊपर से सिखा दिया? क्या यह दार्शनिक भूल भुलैयों के कारण है? क्या किसी भ्रम-मूलक फिलास-फ़र ने ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया? नहीं। यह तो स्वा-भाविक है। और जब तक ह्यूम या उनके साथी सन्देह उत्पन्न न कर दें उस समय तक बना रहेगा। यही नहीं। इससे भी अधिक यह बात है कि सन्देहवादी भी व्यवहार में ऐसा ही मानते हैं। यदि ह्यूम किसी स्थान में सैर को जाते और फिर घर लौटते तो वह भी यही कहते कि मैं इस मकान

का स्वामी हूँ। मैं वही हूँ जिसने यह मकान बनवाया था या अमुक वस्तु ख़रीदी थी इत्यादि।

यह अनन्यत्व का भाव प्राणी के साथ सदा लगा रहता है और यह पुनर्जन्म का सूचक भी है। यही कारण है कि किसी युग में भी लोगों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त से सर्वथा इन्कार नहीं किया। औब्री (Obry) ने अपनी पुस्तक "Du Nirvana, Indien" (डू निर्वाण इण्डियन) में ठीक लिखा है कि—

"This old belief has been held all round the world and was spread in the remote antiquity to such an extent that a learned English churchman has declared it to be fatherless, motherless and without genealogy."

"यह पुराना विश्वास जगत्-व्यापी है और प्राचीन से प्राचीन समय तक पाया जाता है। यहाँ तक कि इङ्गलैण्ड के एक पादरी को कहना पड़ा कि इस विश्वास के माता पिता और पूर्वजों का पता नहीं चलता अर्थात् यह सिद्धान्त आदि काल से ही प्रचलित है"।

वस्तुत: यह सिद्धान्त मुसल्मान, ईसाइयों और यहूदियों को छोड़कर और सब में प्रचलित था। पुराने मिश्री इसको मानते थे। फीसागोरस और प्लैटो भी इसी मत के थे।

अमेरिका के प्राचीन निवासी जिनको रैड-इण्डियन कहते हैं और आस्ट्रेलिया वालों में भी यह सिद्धान्त मान्य था। अमेरिका का एक लेखक लिखता है :—

What resists this belief is Judaism together with the two religions which have sprung from it, because they teach the creation of man out of nothing and they have the hard task of linking on to this belief an endless existence *a parte post.* They certainly have succeeded with fire and sword, in driving out of Europe and a part of Asia that consoling primitive belief of mankind, it is still doubtful for how long. Yet how difficult it was is shown by the oldest church histories. Most of the heretics were attached to this belief. For example Semonests, Basilidians, Valentinians, Marcionists, Gnostics, and Manicheans. The Jews themselves have in part fallen into it, as Tertullian and Justinus informs us. In the Talmud it is related that Abel's soul passed into the body of Seth, and then into that of Moses. Even the passage of the Bible, Mathew XVI (13-15) only

obtains a rational meaning if we understand it as spoken under the assumption of the dogma of metempsychosis."

(Short views on Great Questions).

"इस सिद्धान्त के विरुद्ध केवल यहूदी धर्म और दो वे धर्म हैं जो यहूदी धर्म से निकले हैं। क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि मनुष्य की उत्पत्ति अभाव से हुई है। विचित्र बात यह है कि साथ ही साथ वे यह भी मानते हैं कि जीवात्मा अमर और अविनाशी है। इसमें सन्देह नहीं कि वे अग्नि और तलवार के बल से यूरोप तथा एशिया के एक भाग से मनुष्य जाति के इस आदिम और शान्ति-प्रद सिद्धान्त को बहिष्कृत करने में सफल हुये हैं। यह संदिग्ध बात है कि वह कितने दिन तक सफल रहेंगे। परन्तु इसमें इनको कितनी कठिनता हुई इसकी प्राचीन ईसाई धर्म के इतिहास से भली भाँति साक्षी मिल जाती है क्योंकि बहुत से विरोधी इस (पुनर्जन्म के) सिद्धान्त को मानते थे। उदाहरण के लिये साईमोनेस्ट, बेसीलीडियन, वैलेण्टीनियन, मार्शनिस्ट, नौस्टिक (ज्ञेयवादी) तथा मैनीचियन, (यह उन ईसाई सम्प्रदायों के नाम हैं जो पुनर्जन्म को मानते थे)? टर्टूलियन और जस्टीनस का कथन है कि यहूदी लोग भी किसी अंश तक इस

सिद्धान्त को मानते थे। टालमड पुस्तक में (यह यहूदियों का प्राचीन धर्म ग्रन्थ है) लिखा है कि हाबील का आत्मा सेठ के शरीर में गया और फिर मूसा के शरीर में। मत्ती की इंजील के १६ वें अध्याय की १३ से १५ तक की आयतों का बुद्धि पूर्वक अर्थ तभी लगाया जा सकता है जब पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान लिया जाय।"

पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने में सब से बड़ी आपत्ति तो स्मृति का अभाव है। लोग पूछते हैं कि यदि हम पिछली किसी योनि से आये हैं तो याद क्यों नहीं। प्रथम तो याद का अभाव क्यों? दूसरे विस्मृति अर्थात् भूल जाने की उपयुक्तता क्या?

यह आपत्ति इतनी भयंकर नहीं है जितनी समझी जाती है। पहली बात तो यह है कि स्मृति का भाव अवश्य ही अस्तित्व के भाव का सूचक है परन्तु स्मृति का अभाव अस्तित्व के अभाव का सूचक नहीं। किसी वस्तु के ज्ञान का भाव उसके अस्तित्व को सिद्ध करता है परन्तु ज्ञान का अभाव उस वस्तु के अभाव को सिद्ध नहीं करता।

मैं रामदत्त को जानता हूँ।

इसलिये रामदत्त है।

यह युक्ति ठीक है क्योंकि यदि रामदत्त न होता तो मैं उसे कैसे जानता?

परन्तु

मैं रामदत्त को नहीं जानता।

इसलिये रामदत्त है ही नहीं।

यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि बहुत सी वस्तुयें हैं परन्तु मैं उनको नहीं जानता। बहुत सी बातें हैं जिनकी मुझको कुछ याद नहीं, परन्तु उनसे मेरा संबन्ध था। मुझे उनका ज्ञान था। भूल और विस्मृति शब्द बने ही उन बातों के लिये हैं जो पहले याद थीं अब नहीं हैं। "मैं भूल गया" का क्या अर्थ है? यही न कि पहले मुझे अमुक वस्तु का ज्ञान था अब नहीं रहा। इसलिये विस्मृति भी एक प्रकार से अस्तित्व ही सिद्ध करती है, नास्तित्व नहीं। मनुष्य भूलता भी उसी चीज़ को है जिसको पहले याद करता है। इसलिये स्मृति का अभाव कभी किसी के अभाव का हेतु नहीं।

शायद आप कहें कि स्मृति का अर्थ यहाँ ज्ञान से है। अर्थात् जब हम कहते हैं कि पिछले जन्म की हमको याद नहीं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि पिछले जन्म का हमको ज्ञान नहीं। इस विषय में हम अभी ऊपर लिख चुके हैं कि हमारा अज्ञान हमारी किसी पिछली अवस्था या किसी अन्य वस्तु की किसी अवस्था के अभाव का हेतु नहीं। यदि उन्हीं वस्तुओं का अस्तित्व होता जो हमारे ज्ञान में हैं तो ज्ञान की वृद्धि का

तात्पर्य वस्तुओं की वृद्धि होता और भिन्न भिन्न पुरुषों के अनुसार भिन्न भिन्न संसार होते। तथा कभी हम यह न कह सकते कि अभी हमको अमुक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना शेष है। जब हम कहते हैं कि "अफ्रीका के बहुत से प्रदेश अभी जानने को शेष है" तो इसका यही तात्पर्य है कि प्रदेशों का अस्तित्व तो है परन्तु हमको उसका ज्ञान नहीं। अपने जीवन की पिछली सहस्रों घटनाओं का हमको या तो ज्ञान न था या नहीं रहा। फिर भी हम मानते हैं कि वे घटनायें हुईं अवश्य। उदाहरण के लिये यदि पूछा जाय कि दो वर्ष पूर्व अमुक दिन आपके पेट ने खाना पचाने का काम किया था या नहीं तो आप इसका क्या उत्तर देंगे? यही कि अवश्य। परन्तु क्या उस समय आपको इसका ज्ञान था और क्या इस समय आपको इसका ज्ञान है?

शायद आप कहें कि यदि किसी वस्तु के ज्ञान का अभाव उसके अभाव का सूचक नहीं तो क्या उसके ज्ञान का अभाव उसके भाव का सूचक है? अर्थात् यदि हमको किसी पुरुष या वस्तु का ज्ञान नहीं तो हम उसके अस्तित्व को मान ही क्यों लें? क्योंकि ज्ञान का अभाव दोनों दशाओं में हो सकता है अर्थात् जब वस्तु न हो और जब वस्तु हो।

यह ठीक है। हमारा तात्पर्य नहीं कि बिना प्रमाण के ही पिछले या अगले जन्म को मान लो। हमारा तात्पर्य यह है

कि स्मृति के न होने का पचड़ा क्यों लगाते हो ? जब ज्ञान का अभाव, अस्तित्व के भाव और अभाव दोनों का सूचक हो सकता है, जब अस्तित्व के भाव में भी ज्ञान का अभाव संभव है तो ज्ञान के अभाव को वस्तु के अभाव का हेतु क्यों माना जाय और विस्मृति की आपत्ति क्यों खड़ी की जाय। पिछले और अगले जन्म के अस्तित्व के अन्य प्रमाण तो पुष्कल हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि विस्मृति की उपयोगिता क्या ? हम जीवन की प्रयोजन-वत्ता का उल्लेख करते हुये बता चुके हैं कि हमारी कोई वृत्ति भी प्रयोजन-शून्य नहीं है। फिर विस्मृति ही क्यों हो ? यदि विस्मृति का कुछ भी प्रयोजन न होता तो विस्मृति होती ही क्यों। मनोविज्ञान-वेत्ता जानते हैं कि विस्मृति भी उपयोगी है। यदि विस्मृति न हो तो ज्ञान की वृद्धि भी न हो। यदि कोई ज्ञान हमको उतना ही स्पष्ट रहे जितना प्राप्ति के समय होता है तो दूसरा ज्ञान कभी प्राप्त भी न हो सके क्योंकि एक ही समय में दो ज्ञान नहीं हो सकते। कितनी वस्तुयें हैं जिनके भूलने में ही हमारा कल्याण है। जब किसी माता का पुत्र मर जाता है तो मा विह्वल हो जाती है। परन्तु शीघ्र ही विस्मृति शोक को कम करने लगती है। दो चार या दस वर्ष के पीछे न पुत्र की आकृति याद रहती है न उसकी बात चीत। कुछ थोड़ा सा धुंधला भान

रह जाता है। वह भी हर समय नहीं। यदि कहीं हमको प्रत्येक संस्कार का उतना ही ज्ञान सदा रहता तो हमारा जीवन कठिन हो जाता और हम कोई काम नहीं कर सकते। इसी प्रकार यदि हमको अपने पिछले जन्मों की पूरी याद रहती तो हमको अपने पुराने मित्रों की मित्रता और पुराने शत्रुओं की शत्रुता सदा क्लेश दिया करती और हम कोई काम करने में सफल न होते।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि जब हम किसी बच्चे की अवस्था का निरीक्षण करते हैं तो पता चलता है कि वह अवस्था अभी वर्तमान में ही कहीं से नहीं कूद पड़ी। उसका पिछला इतिहास है। हमारे हर वर्तमान में भूतकाल का इतिहास छिपा हुआ है। और उसमें भविष्य के लिये बीज उपस्थिति है। वर्तमान क्या है? भूत और भविष्यत् का मिलाप! बच्चे की प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार उसके पिछले जीवन का इतिहास बताती है जिस प्रकार किसी मद्यपान की प्रवृत्ति रखने वाले को देखकर उसके पिछले इतिहास का पता लगता है। न्याय दर्शन में इस विषय का एक उदाहरण दिया है:—

प्रेत्याहाराभ्यास कृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥

(न्याय दर्शन ३।१।२२)

इस पर वात्स्यायन मुनि भाष्य करते हैं:—

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते, स च नान्तरेणाहाराभ्यासम्। कया युक्त्या? दृश्यते हि शरीरिणां क्षुधापीड्यमानानामाहाराभ्यासकृतात् स्मरणानुबन्धादाहाराभिलाषः, न च पूर्व शरीरमन्तरेणासौ जातमात्रस्योपपद्यते; तेनानुमीयते भूतपूर्व शरीरं, यत्रानेनाहारोऽभ्यस्त इति। स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात् प्रेत्य शरीरान्तरमापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाभ्यस्तमाहारमनुस्मरन् स्तन्यमभिलषति। तस्मान्न देहभेदादात्मा भिद्यते, भवत्येवोर्ध्वं देह भेदादिति।

अर्थात् प्रत्येक बच्चा जन्मते समय ही भोजन माँगता है। यह भोजन की अभिलाषा बिना पूर्व जन्म में भोजन के अभ्यास के नहीं हो सकती। इससे प्रतीत होता है कि पहले जन्म में भोजन करता रहा। उसी की स्मृति अब भी भोजन करने के लिये प्रेरणा करती है।

बच्चा जब माता के स्तन की अभिलाषा करता है तो वह युक्ति या तर्क से काम नहीं लेता। वह यह नहीं सोचता कि यदि मैं न खाऊँगा तो शरीर निर्बल हो जायगा। उसकी भीतर से प्रवृत्ति ही इस प्रकार की बन गई है कि उसे भोजन की इच्छा

होती है। यह प्रवृत्ति कैसे बनी? अवश्य ही पूर्व में कुछ न कुछ अभ्यास किया होगा। यही अभ्यास पूर्वजन्म का सूचक है।

हम ड्रमण्ड की पुस्तक से बच्चे की लटकने की प्रवृत्ति के उदाहरण दे चुके हैं। ऐसी ही अनेक प्रवृत्तियाँ बच्चों में पाई जाती हैं। फिर भिन्न भिन्न बच्चों में भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ विकास के भिन्न भिन्न तलों पर मिलती हैं। कुछ बच्चे आरंभ से ही शाँति प्रिय, कुछ लड़ाकू, कुछ बुद्धिमान्, कुछ बुद्धिहीन, कुछ गणित के प्रेमी, कुछ संगीत में प्रवीण पाये जाते हैं। यह क्यों होता है? इसका और मुख्य कारण नहीं सिवाय इसके कि उन्होंने पूर्व जन्म में एक विशेष प्रवृत्ति का विशेष परिमाण में विकास कर लिया। अब उसके आगे उन्नति करनी है। प्राय: यह प्रवृत्तिया सुप्त सी रहती हैं और थोड़े से ही संकेत से जाग्रत हो जाती हैं। मास्टर मदन जैसे कई बच्चे चार पांच वर्ष की अवस्था में संगीत के बड़े भारी पण्डित सिद्ध हुये। रामानुजम् महाशय बिना सीखे हुए ही गणित में ऐसे प्रवीण थे कि बड़े बड़े गणितज्ञ दांत में उँगली दबाते थे। यह गणित या संगीत का ज्ञान उन्होंने इस जन्म में प्राप्त नहीं किया। पिछले जन्म से ही आया होगा, आरम्भ में यह ज्ञान सुप्त सा था। किसी अवसर पर जाग्रत हो गया।

बाइसवाँ अध्याय

पशु और जीव

चार्ल्स ब्रैडला लिखता है :—

"The Orthodox contend that what they call the elementary substances taken separately, do not think, therefere, man without a soul cannot think; and that as man does think, he must have a soul. This argument if valid at all, goes much too far; a trout thinks, a carp thinks, a rat thinks, a dog thinks, a horse thinks, and, by parity of reasoning, all these animals should have immortal souls."

('Has man a Soul' by C. Bradlaugh, p. 5).

"धार्मिक लोग कहते हैं कि जिन तत्वों से शरीर बना है वे अलग अलग सोच नहीं सकते। इसलिये मनुष्य भी बिना जीवात्मा के सोच नहीं सकता। चूँकि मनुष्य सोच सकता है इसलिये उसमें जीव है। यदि यह युक्ति ठीक है तो इसे

आगे भी बढ़ना चाहिये। ट्रौट मछली सोच सकती है, कार्प मछली सोच सकती है, चूहा सोच सकता है, कुत्ता सोच सकता है, घोड़ा सोच सकता है। इस युक्ति के अनुसार तो उन पशुओं में भी अमर जीवात्मा होना चाहिये"।

ब्रैडला का तात्पर्य यह है कि यदि ईसाई लोग केवल विचार शक्ति की विद्यमानता के कारण मनुष्य में अमर जीवात्मा मानते हैं तो पशुओं में भी जीव मानना चाहिये। ईसाई लोग पशुओं में जीव नहीं मानते।

ब्रैडला के इस आक्षेप में सत्यता है। हम गत अध्यायों में बता चुके हैं कि विचार शक्ति केवल भौतिक पदार्थों के संयोग से उत्पन्न नहीं हो सकती। इसके लिये चेतन जीवात्मा होना चाहिये।

इसी युक्ति के अनुसार पशुओं में भी जीवात्मा है क्योंकि पशुओं में विचार शक्ति है। भारतवर्षीय लोग सदा से पशुओं में जीवात्मा मानते रहे हैं। इसलिये उन पर असंगति का दोष नहीं लगाया जा सकता। ब्रैडला का आक्षेप केवल ईसाई मुसल्मानों तक ही सीमित है।

हमने गत अध्यायों में जो मनोवैज्ञानिक या अन्य युक्तियाँ जीव की सिद्धि में दी हैं वे सब पशुओं पर घटती हैं। हमने जीवात्मा का लक्षण करते हुये लिखा था कि जीव एक ऐसा

अणु है जिसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाया जाय। पशुओं में यह तीनों लक्षण पाये जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि उनमें जीव है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व से तो कोई इन्कार कर ही नहीं सकता। कुत्ते को मारो तो उसके पीड़ा होती है वह चिल्लाता है। उसे प्यार करो तो जिस प्रकार मनुष्य हर्ष प्रकट करता है कुत्ता भी हर्ष प्रकट करता है। कुत्ता मालिक का काम करने के लिये सदा कटिबद्ध रहता है। रात को आप उसके घर की ओर होकर निकल जाइये। वह देखकर भौंक उठेगा। इस भौंकने में भय, आशंका, स्वामी को जगाने की इच्छा और प्रयत्न सभी शामिल हैं। न्याय के इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न; वैशेषिक के प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न; वेदान्त के कर्तृत्व, भोक्तृत्व यह सब न केवल कुत्ते, बिल्ली और हाथी घोड़े में ही किन्तु चींटी, चींटे, कीट, पतंग आदि में भी पाये जाते हैं। सामान्य ज्ञान जिसका लक्षण है करना, न करना और उलटा करना भी सभी प्राणियों में मिलता है। अब प्रश्न केवल विशेष ज्ञान का है। कुछ लोग कहते हैं कि पशुओं में प्रवृत्तियाँ (Instincts) और परावर्तित क्रियायें (Reflex action) तो पाई जाती है परन्तु तर्क शक्ति (Reasoning) नहीं होती। उनका कहना है कि प्रवृत्तियाँ

और परावर्तित क्रियायें ज्ञान के लक्षण नहीं हैं। ज्ञान केवल तर्क शक्ति से ही सम्बन्ध रखता है। पशुओं की प्रवृत्तियाँ उनकी मानसिक चेतना की सूचक नहीं हैं न उनमें मस्तिष्क होता है। अर्थात् जो कुछ काम पशु करता है वह सोच विचार कर नहीं करता। उसके शरीर की बनावट ही ऐसी है कि वह अन्यथा कर ही नहीं सकता। इसलिये पशुओं में जीवात्मा नहीं माना जा सकता।

यह युक्तियाँ उन लोगों की हैं जो अपने धार्मिक सिद्धान्तों से प्रेरित होकर केवल मनुष्य में ही जीवात्मा मानते हैं जैसे ईसाई और मुसलमान। ब्रैडला का आक्षेप इन्हीं लोगों पर है। परन्तु याद रखना चाहिये कि एक समय ऐसा भी था जब ईसाइयों का एक सम्प्रदाय स्त्रियों में जीव नहीं मानता था। उनका कहना था कि ईश्वर ने आदम के शरीर में तो अपनी रूह फूँकी थी परन्तु हव्वा का शरीर आदम की पसली से बनाया था और उसमें रूह फूँकने का कोई उल्लेख बाइबिल में नहीं आया। इसलिये वह स्त्रियों को जीवात्मा से युक्त नहीं समझते थे। इनको जाने दीजिये, क्योंकि आजकल कोई ऐसे लोगों की बात सुनने को तैय्यार नहीं है।

रहे भौतिकवादी। उनका कहना है कि जिस प्रकार पशुओं के जीवन तथा कामों की व्याख्या उनकी प्रवृत्तियों और

परावर्तित क्रियाओं के आधार पर हो सकती है और उनमें जीवात्मा मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती उसी प्रकार मनुष्यों के जीवन की व्याख्या भी क्यों न की जाय और जीवात्मा के झमेले में क्यों पड़ा जाय। इस पुस्तक में अब तक हमने यही सिद्ध करने का यत्न किया है कि बिना जीवात्मा के मानवी व्यापारों की व्याख्या नहीं हो सकती। इस आधार पर तो यही मानना पड़ेगा कि पशुओं के व्यापारों की व्याख्या भी बिना जीवात्मा के न हो सकेगी।

यहाँ हमको उनसे विवाद नहीं जो मनुष्यों में भी जीवात्मा नहीं मानते। इनसे जो कुछ विवाद था उसका उल्लेख हो चुका। उनसे भी विवाद नहीं जो मनुष्यों तथा पशुओं सभी में जीवात्मा मानते हैं क्योंकि उनसे हमारा मत-भेद नहीं। इस अध्याय में हम उनसे मतभेद प्रकट करना चाहते हैं जो मनुष्यों में तो जीवात्मा मानते हैं परन्तु पशुओं में नहीं।

जहाँ तक शारीरिक क्रियाओं का सम्बन्ध है अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि इनमें तो मनुष्य और पशु समान ही हैं। यह सब लक्षण चेतना के हैं। परन्तु हम यहाँ विशेष कर प्रवृत्तियों और तर्क शक्ति का भेद देखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में इतने प्रश्न हो सकते हैं :—

(१) क्या प्रवृत्तियाँ चेतना-शून्य होती हैं ?

(२) क्या प्रवृत्तियों की व्याख्या भौतिक आधार पर हो सकती है ?

(३) प्रवृत्तियों और तर्क शक्ति में कितना भेद है ? और क्या पशुओं की प्रवृत्तियों में तर्क शक्ति का कोई अंश रहता है या नहीं ?

आइये, पहले तो यह मालूम करें कि प्रवृत्ति (instinct) का क्या अर्थ है ?

डार्विन का कहना है कि—

"An action, which we ourselves should require experience to enable us to perform when performed by an animal, more especially by a very young one, without any experience, and when performed by many individuals in the same way, without their knowing for what purpose it is performed, is usually said to be instinctive." (Origin of Species by Darwin chap VII.)

अर्थात् प्राय: उस कार्य्य का नाम प्रवृति है जिसको यदि हम करते तो अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् करते और जब कोई पशु और विशेष कर पशु का छोटा बच्चा करता है तो बिना

अनुभव के ही करता है और उस जाति के बहुत से व्यक्ति भी इसी प्रकार करते हैं और यह नहीं जानते कि हम किस प्रयोजन के लिये ऐसा कर रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि बया का बच्चा घोंसला बनाता है तो बिना सीखे बनाता है। मनुष्य मकान बनाता है तो सीख कर बनाता है। इसलिये बया का घोंसला बनाना प्रवृत्ति (instinct) है। और हमारा मकान बनाना ज्ञान-युक्त कर्म है। हम जानते हैं कि मकान किस प्रयोजन के लिये बनावें। बया यह नहीं जानती कि घोंसले से क्या लाभ होगा। उसकी आन्तरिक ज्ञान-शून्य प्रेरणा हुई और उसने घोंसला बना डाला।

प्रवृत्ति की यह व्याख्या करने में डार्विन ने एक बात को स्पष्ट नहीं किया। अर्थात् क्या मनुष्य में भी ऐसी ज्ञान-शून्य, तथा तर्क-शून्य प्रवृत्तियाँ नहीं पाई जातीं? पशुओं के प्रत्येक कार्य्य को निष्प्रयोजन और ज्ञान-शून्य कह बैठना भी कुछ आसान काम नहीं है। आज कल पशु शास्त्र एक विशद शास्त्र हो गया है और विकासवाद ने तो एक प्रकार से हमारा दृष्टि-कोण ही पशुओं के विषय में बदल दिया है। यद्यपि सब लोग मानने को तैय्यार नहीं हैं कि मनुष्य जाति के पूर्वज पशु जातियाँ ही थीं परन्तु यह तो अवश्य ही मानना पड़ता है कि पशु हमारे भाई बन्द अवश्य हैं। उनमें भी हमारी सी जान है।

उनके और हमारे व्यवहारों में उतना ही भेद है जितना एक असभ्य जाति के सब से निर्बुद्धि मनुष्य और हक्सले, काण्ट आदि ज्ञानियों में है। प्रत्येक मनुष्य को पशुओं की बुद्धिमत्ता की कहानियाँ मालूम होंगी। भिन्न भिन्न देश के कवियों ने पशुओं की बुद्धि की प्रशंसा में काव्य लिखे हैं। भारतवर्ष में तोतों की कहानियाँ प्रचलित हैं। बाण की कादम्बरी 'तोते' से ही आरंभ होती है। अंगरेज़ी के कवि कूपर (Cowper) ने कुत्ते की बुद्धिमत्ता पर एक छोटा सा पद्य लिखा है। परन्तु इन कहानियों को छोड़िये। डार्विन ने बीगिल की यात्रा (Voyage of the Beagle) में एक केकड़े और नारियल की कहानी लिखी है।

"The crab begins by tearing the husk fibre by fibre, and always from that end under which the three eye-holes are situated; when this is completed, the crab commences hammering with its heavy claws on one of the eye-holes till an opening is made."

अर्थात् केकड़ा नारियल को ले लेता है और उसके छिलके अलग करता है। और सदा उसी सिरे पर जहाँ भीतर तीन छिद्र चिह्न होते हैं। जब छिलका उतार चुकता है तो अपने

भारी पंजों से एक छिद्र-चिह्न को खटखटाता है और उसमें एक सूराख़ कर लेता है।"

डार्विन महोदय लिखते हैं :—

"I think this is as curious a case of instinct as ever I heard of, and likewise of adaptation in structure between two objects apparently so remote as a crab and a co-co-a nut tree."

अर्थात् "प्रवृत्ति का यह एक सबसे विचित्र उदाहरण मेरे सामने आया है और इस बात का भी कि केकड़ा और नारियल जैसे दो देखने में इतने असम्बद्ध पदार्थों की बनावट में ऐसी अच्छी संगति हो।"

केकड़े के इस दृष्टान्त से किसको संदेह हो सकता है कि उस क्षुद्र प्राणी के शरीर में चेतना या सामान्य ज्ञान नहीं है। नारियल का लेना, उसका छिलका उतारना और ऐसी ओर से उतारना जिसके नीचे छिद्रों का चिह्न पाया जा सके, फिर एक छिद्र को खोल कर उसकी गिरी खाना यह बिना निर्वचन शक्ति के कैसे हो सकता है ? इसके अतिरिक्त डार्विन ने एक बात का उल्लेख नहीं किया। हमारा अनुमान है कि वह बात भी अवश्य होती होगी। अर्थात् केकड़ा उसी अवस्था में नारियल के साथ ऐसा व्यवहार करता होगा जब उसे भूख लगती होगी

या वह अपनी सन्तान को चुगा देना चाहता होगा अन्यथा नहीं। डार्विन को अपने विषय के लिये इसके उल्लेख की आवश्यकता न थी। अगर कोई उससे पूछता तो वह इस प्रश्न का वही उत्तर देता जो हमारा अनुमान है। यदि हम इस अनुमान को भी डार्विन के कथन के साथ मिलादें तो क्या कोई कह सकता है कि केवल भौतिक शास्त्र के आधार पर ही इस व्यापार की व्याख्या हो सकेगी। जहाँ निर्वचन शक्ति (Selective faculty) है वहाँ जीव मानना ही पड़ेगा।

श्नीडर (Schneider) ने पशुओं की प्रवृत्तियों को चार कोटियों में विभक्त किया है :—(१) भोजन-प्राप्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ (२) आत्म-रक्षा सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ (३) सन्तान-पालन सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ (४) और प्रजनन-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ।

कुछ लोग समझते हैं कि पशु अपनी भोजन-प्राप्ति के लिये कुछ चालाकी नहीं चलते। जैसे आग जला देती है और पानी बहा ले जाता है उसी प्रकार यह पशु भी अपना शिकार कर लेते हैं। परन्तु जिन्होंने पशुओं के स्वभावों का निरीक्षण किया है वह बताते हैं कि उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी अन्धी नहीं होतीं जितना लोगों ने समझ रक्खा है। डार्विन ने एपीरा (Epeira) नाम की एक बड़ी मकड़ी का उल्लेख किया है। जब वह किसी बड़े कीड़े को पकड़ती है तो बड़ी

प्रवीणता से उसके चारों ओर जाला पूर देती है और साथ ही ऐसे तागे निकालती है कि बिचारे कीड़े के चारों ओर कुकून सा खोल बन जाता है। तब वह अपने शिकार को बड़े ध्यान से देखती है और काट लेती है। काटने के पश्चात् वह हट जाती है और बड़े धैर्य के साथ उस समय का इंतज़ार करती है जब बिष फैल जाता है और कीड़ा मर जाता है। एपीरा के इस व्यवहार की तुलना एक जंगली मनुष्य से कीजिये जो अपना पेट भरने के लिये जंगली जानवरों की तलाश में घात लगाता है।

अपनी रक्षा और अपनी सन्तान के पालन के लिये भिन्न भिन्न पशु पक्षी भिन्न भिन्न साधनों का प्रयोग करते हैं। वह घोंसले बनाते हैं। शत्रु को धोखा देते हैं। शत्रु का सामना करते हैं। अंडों को सुरक्षित स्थान में रखते हैं।

आप शायद यह कहें कि चूंकि इनको सीखना नहीं पड़ता और यह प्रवृत्तियाँ किसी विशेष शिक्षा के बिना ही आ जाती हैं इसलिये यह चेतना-शून्य होती हैं।

यहाँ स्टौट के मनोविज्ञान से एक उद्धरण देना पर्याप्त होगा:—

"Instinctive movements from the outset bring into play whatever mental activity the

animal may be capable of. They do not go on while the animal is pre-engaged with something else. Either they fully occupy attentive consciousness is not concerned with them at all. The last alternative seems *prima facie* improbable and further consideration justifies us in dismissing it altogether".

(Stout's Manual of Psychology p. 336.)

"प्रवृत्ति सम्बन्धी क्रियाओं में पहले से ही वह सब मानसिक व्यापार सम्मिलित रहता है जो पशु की योग्यता के अनुकूल हो। जब तक पशु किसी अन्य कार्य्य में लगा रहता है वह क्रियायें नहीं होतीं। इससे प्रकट होता है कि या तो उनमें ध्यान-युक्त चेतना होती है या चेतना से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरी बात तो ऊपरी दृष्टि से भी संभव नहीं प्रतीत होती और गंभीर विचार हमको आज्ञा देता है कि हम उसको सर्वथा अस्वीकृत कर दें।"

इसका तात्पर्य यह है कि स्टौट महोदय की राय में कोई प्रवृत्ति बिना चेतना (Consciousness) के नहीं हो सकती। इसलिये पशुओं में चेतना का मानना आवश्यक है। स्टौट महोदय ने ध्यान (Attentive forces) पर बड़ा बल दिया है।

यहाँ प्रवृत्तियों (Instincts) और परावर्तित क्रियाओं (Reflex actions) का भेद भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि जिनको तुम प्रवृत्ति कहते हो वह वस्तुतः परावर्तित क्रियायें मात्र हैं।

शायद पाठक वर्ग परावर्तित क्रिया का अर्थ न समझे हों। परावर्तित क्रिया वह क्रिया है जो बिना ध्यान के स्वतः ही हो जाती है। प्राणियों के शरीर में ऐसी क्रियायें बाहरी वस्तुओं की प्रतिक्रियाओं के कारण हुआ करती हैं। वह इस प्रकार की क्रियायें है जैसे घोड़ा दबाते ही बन्दूक़ छूट जाय। लोग प्रवृत्तियों को परावर्तित क्रिया इसलिये कहते हैं कि चेतना माननी न पड़े।

स्टौट महोदय ने इसके विरोध में बहुत अच्छा लिखा है।

"In the *first* place the whole behaviour of the animal throughout the course of an instinctive activity, even on its first occurrence, shows all the outward characteristics of attentive process. It is marked by adaptation of the sense organs for certain stimuli rather than others, and is throughout pervaded by the attitude of waiting, watching and searching for

future impressions. In this respect, it is sharply contrasted with the mere reflex. The reflex reaction occurs when the stimulus is applied as a loaded pistol goes off when the trigger is pulled. It is not prepared for by previous activity. Until the appropriate stimulus occurs the animal remains passive. On the other hand, the bird gathering materials for its nest, ants tending eggs and larvae, a cat or a crab lying in wait for a prey, take the initiative, so to speak, and go out to meet coming impressions. Thus the successive parts of a complex instinctive process, instead of appearing to the observer as a mere sequence of separate reactions each evoked by its own separate stimulus, irresistibly suggest conative unity pervading and connecting them as stages or phases in the development of one continued action.''

(p. 336.)

"प्रथम तो समस्त प्रवृत्ति-जन्य व्यापार में चाहे वह जीवन का सबसे पहला व्यापार ही क्यों न हो, पशु के सम्पूर्ण ढंग से

प्रतीत होता है कि ध्यान के सभी चिह्न विद्यमान हैं। क्योंकि बाह्य नियत प्रभाव ग्रहण करने के लिये वह अमुक इन्द्रिय-गोलक को तैयार करता है और अमुक को नहीं। और आने वाले प्रभावों के लिये प्रतीक्षा करता है, देख भाल रखता है और खोज भी करता है, यह चिह्न परावर्तित क्रिया से सर्वथा भिन्न हैं। परावर्तित क्रिया तो तभी कहलाती है जब पशु ने पहले से कोई तैयारी न की हो और वह सर्वथा निश्चेष्ट हो। जैसे बन्दूक झट से छूट गई। परन्तु जब चिड़िया घोसला बनाने के लिये सामग्री इकट्ठा करती है, चींटियाँ अपने अण्डो बच्चों को पालती हैं, बिल्ली या केकड़ा शिकार की खोज में रहते हैं तो यह पहले से निश्चेष्ट नहीं होते किन्तु आने वाले प्रभावों का स्वागत करने के लिये तैयारी करते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति-जन्य मिश्रित व्यापार के क्रमशः भागों के निरीक्षण से प्रतीत होता है कि हर एक भाग व्यक्तिगत रूप से अलग अलग प्रभावों का प्रतिक्रिया-मात्र नहीं है किन्तु उसमें इच्छाशक्ति द्वारा समष्टीकारण और विकास का निरन्तर व्यापार विद्यमान है"।

इसको कुछ अधिक स्पष्ट कर दें। जितनी परावर्तित क्रियायें (Reflex actions) हैं उनके लिये कोई पहले से तैयारी नहीं करता। ऐसी भिन्न भिन्न क्रियाओं में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। भिन्न भिन्न क्रियायें भिन्न भिन्न

कारणों से उत्पन्न होती हैं। जैसे यदि कोई सिर पर लाठी मारे तो हाथ झट से स्वभावतः बिना चेष्टा किये ही ऊपर को उठ जाता है। उसी के साथ यदि कोई पीठ में नौच ले तो हाथ झट से उधर जाने के लिये उद्यत होगा। हाथ का यह व्यापार परावर्तित क्रिया है। इसके लिये हाथ ने पहले से कोई तैय्यारी नहीं की। और न उसके दो व्यापारों में परस्पर कोई सम्बन्ध है। इसलिये बहुत से मनोवैज्ञानिकों के मत में ऐसे परावर्तित कार्य्यों में चेतना या इच्छा शक्ति पाई नहीं जाती। जैसे घोड़े को दबाने से बन्दूक छूटती है तो बन्दूक से चेतना प्रकट नहीं होती। परन्तु जब चिड़िया घोंसला बनाती है या बिल्ली चूहे की खोज में घरों में फिरा करती है तो उसके समस्त व्यापार से चेतना और इच्छा शक्ति का बोध होता है। क्योंकि जंगल में जाकर तिनके लाना, फिर तिनकों को एक नियत प्रकार से नियत क्रम के अनुसार रखना यह सब व्यापार असम्बद्ध और अलग अलग नहीं हैं। इच्छा शक्ति ने उन सब का एकीकरण किया है।

इनसे सिद्ध होता है कि पशुओं में जीव मानने के लिये वह सब कारण उपस्थित हैं जो मनुष्यों में जीव मानने के लिये हो सकते हैं।

हमने ऊपर प्रवृत्ति की जो व्याख्या डार्विन के शब्दों में दी है उसमें एक शब्द है "इसी प्रकार"। अर्थात् अनेक प्राणियों के व्यापारों में कोई भिन्नता नहीं होती। जैसे सभी घड़ियों की

सुईयाँ कूक देने पर दाहिनी ओर को ही चल पड़ती हैं। ऐसा नहीं होता कि कोई सुई कभी दाहिनी ओर चले कभी बांई ओर। सभी सुइयों के व्यापारों की यह अभिन्नता प्रकट करती है कि सुइयाँ चेतना रहित हैं। परन्तु पशुओं के व्यापारों में भिन्नता भी पाई जाती है। जैसे लौयड मौर्गन (Lloyd Morgan) ने अपनी पुस्तक Animal Life and Intelligence में सिद्ध किया है कि पशु अपने उद्देश की पूर्त्ति के लिये अपने व्यापारों में भिन्नता भी कर देते हैं। डार्विन ने मधु मक्खियों को छत्ता बनाते देखा और मालूम किया कि यदि मोम को जोड़ते समय छत्ता कुछ तिरछा हो जाय तो मक्खियाँ उसको बिगाड़ देती हैं और फिर दुबारा बनाना आरंभ करती हैं ठीक उसी प्रकार जैसे एक कारीगर के ईंटें जोड़ते समय यदि दीवार टेढी हो जाती है तो कारीगर उसको तोड़ देता है और ईंटों को फिर ठीक ठीक रीति से जोड़ता है। यह करने, न करने और अन्यथा करने का व्यापार स्पष्ट रीति से सिद्ध करता है कि पशु पक्षियों में चेतना और इच्छा शक्ति दोनों है। वे निर्वचन करते रहते हैं।* (देखो स्टौट की साइकोलौजी)

---

* इसके लिये निम्न पुस्तकों का अध्ययन उपयोगी होगा।

Lloyd Morgan की Animal Life and Jntelligence. British Journal of Psychology vol. VJJJ. Darwin की Origin of Species.

अब प्रश्न यह है कि प्रवृत्तियाँ घटती बढ़ती हैं या नहीं और उनमें शिक्षा का कुछ प्रभाव पड़ सकता है या नहीं। जेम्स ने अपने मनोविज्ञान में इन दोनों प्रश्नों पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला है। वह कहता है कि—

No matter how well endowed an animal may originaly be in the way of instincts, his resultant actions will be much modified if the instincts combine with experience.

(James Psychology, 396.)

अर्थात् "किसी पशु की प्रवृत्तियाँ कितनी ही प्रौढ़ क्यों न हों अनुभव से उनमें कुछ न कुछ परिवर्त्तन अवश्य हो जायगा।"

वह इस विषय में दो बातें कहता है:—

(*a*) The inhibition of instincts by habits.

(*b*) The transitoriness of instincts.

(p. 399.)

अर्थात् (१) आदतों से प्रवृत्तियाँ रुक सकती हैं और (२) प्रवृत्तियाँ क्षणिक भी होती हैं। जेम्स ने इसके कई उदाहरण दिये हैं:—जैसे

(१) एडीरौनेडैक के जंगल (Adirondack wilderness) के किसानों का अनुभव है कि यदि उनकी गाय भाग

जाय और जंगल में बच्चा दे बैठे तो यह बच्चा आठ दिन में ही हिरन के बराबर तेज हो जाता है और पकड़ाई नहीं देता। यही गाय यदि घर में बच्चा देती तो सीधा साधा होता।

(२) मिस्टर स्पैल्डिङ्ग (Mr. Spalding) का अनुभव है कि यदि मुर्ग़ी का बच्चा ऐसे समय अंडे से निकले जब मुर्ग़ी पास न हो तो वह बच्चा बजाय अपनी माता के किसी के पीछे लग लेता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में कई परीक्षण किये। वे कहते हैं :—

Unreflecting lookers—on, when they saw chickens a day old running after me, and older ones following me for miles; and answering to my whistles, imagined that I must have some occult power over the creatures; whereas I had simply allowed them to follow me from the first.

अर्थात् जब 'अविचारशील लोग देखते थे कि एक दिन का मुर्ग़ी का बच्चा मेरे पीछे दौड़ रहा है और कुछ बड़े, मीलों मेरे पीछे दौड़ते जाते और मेरी सीटी का अनुसरण करते तो यह लोग समझते थे कि मुझमें कुछ दैवी शक्तियाँ हैं। वस्तुतः मैंने केवल आरंभ से ही उनमें यह आदत डाल दी थी।

इस प्रकार के उदाहरण इतने अधिक हैं कि इनसे पुस्तकें भरी जा सकती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तियाँ घटती बढ़ती रहती हैं और इन पर शिक्षा का भी प्रभाव पड़ता है। स्कौटलैण्ड के कुत्ते भेड़ों की उसी प्रकार रखवाली करते हैं जैसे गड़रिया। सरकसों के पशु शिक्षा के बल से अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ भूल जाते हैं और जो पशु स्वभावतः एक दूसरे के शत्रु समझे जाते हैं वे परस्पर मित्रता से रहने लगते हैं। इन सब बातों में पशु और मनुष्य के व्यवहार में बहुत कुछ समानता है। कुछ लोग समझते हैं कि मनुष्य सदा तर्क से काम लेता है। उसमें अन्धी प्रवृत्ति नहीं होती, पशु में अन्धी प्रवृत्ति होती है। परन्तु यह बात नहीं है। मनुष्य में भी अन्धी प्रवृत्तियाँ होती हैं और पशु में भी। जेम्स का कथन है कि—

Man has a far greater variety of impulses than any lower animal ; and any one of these impulses, taken in itself, is as 'blind' as the lowest instinct can be. (p. 395.)

अर्थात् "मनुष्य में पशु से कहीं अधिक प्रवृत्तियाँ हैं और वह इतनी ही अन्धी हैं जितनी किसी पशु की।" परन्तु स्मृति और विचार के पश्चात् इनका अन्धापन नष्ट हो जाता है। पशुओं की प्रवृत्तियों का भी यही हाल है। मुर्गी पहले पहल

अंडा रखती है तो अन्धी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर। परन्तु दुबारा अंडा रखने में स्मृति काम करती है। और वह प्रवृत्ति फिर उतनी अन्धी नहीं रहती।

अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह गया जिस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। प्रश्न यह है कि मनुष्य और पशु की चेतना में कुछ अन्तर है या नहीं और जो तर्क शक्ति मनुष्य में पाई जाती है वह पशु में भी है या नहीं।

पहले तो देखना यह है कि तर्क शक्ति का चिह्न क्या है ? यदि बच्चे को कोई रुपया दे तो वह ले लेगा और यदि कोई कहे कि रुपया दे दो और उसके बदले में जलेबी या सेब या नारंगी ले लो तो वह तुरन्त ही रुपया दे देगा और उस मीठी चीज़ को ले लेगा। इससे प्रकट होता है कि वह तर्क करता है और अपनी बुद्धि के अनुसार नारंगी को रुपये से अधिक मूल्यवान समझता है। आपसे अगर कोई कहे कि रुपया दे दो और एक जलेबी ले लो तो आप न देंगे क्योंकि आप जानते हैं कि जलेबी से रुपया मूल्यवान है। यदि आप किसी जेलखाने में बन्द हों और कई दिन से भोजन न मिला हो और न मिलने की आशा हो, उस समय कोई आकर कहे कि अपनी जेब का एक रुपया दे दो और एक जलेबी ले लो तो आप अवश्य रुपया देकर जलेबी ले लेंगे। यह भी तर्क है

क्योंकि जिस अवस्था में आप हैं उस अवस्था में रुपये से एक जलेबी ही मूल्यवान् है। तर्क का यह अर्थ नहीं है कि आप का निश्चय ठीक ही होगा। चाहे निश्चय ठीक हो चाहे बे ठीक, निश्चय होना चाहिये। संस्कृत का शब्द 'निश्चय' यथार्थ में तर्क का सूचक हैं। 'निश्चय' शब्द का अर्थ है चुनना। यदि कई चीज़ें हों और आप अपनी बुद्धि का प्रयोग करके उनमें से एक को चुन लें, तो यही तर्क है। यहाँ जो तीन व्यापार दिये गये उन तीनों में तर्क उपस्थित था, क्योंकि उनमें निश्चय करना पड़ा।

निश्चय करने का व्यापार कभी तो समय लेता है और कभी इतनी जल्दी हो जाता है कि निश्चय करने वाले को भी पता नहीं चलता कि मस्तिष्क ने निश्चय किया या नहीं किया। जब किसी बच्चे से पूछो कि ८ और ९ कितने होते हैं तो वह उङ्गलियों पर गिनता है और बड़ी देर में उत्तर देता है १७। परन्तु आप तुरन्त ही कह देते हैं १७। क्या बच्चे ने गिना और आपने बिना गिने बताया? नहीं। गिना तो आपने भी परन्तु आप इतनी जल्दी गिन गये कि आपको भी मध्य-वर्ती समय और व्यापार का पता नहीं चला। एक बार एक बच्चे से पूछा गया कि आठ बजने में कै मिनट हैं। पूछने वाला उत्तर की प्रतीक्षा न करके काम में लग गया। बच्चा

घड़ी के खाने गिनता रहा और कई मिनिट के बाद आकर कहने लगा ४५ मिनिट। आप इस उत्तर के लिये आधा सिकण्ड भी न लेते। परन्तु गिनते आप भी अवश्य। इसी प्रकार अभ्यास करते करते निश्चय का व्यापार इतना प्रतीत नहीं होता। जितना अधिक विद्वान् है उतना ही वह बड़े से बड़े कठिन प्रश्न को देखते ही बता देता है। अर्थात् उसकी बुद्धि इतनी तीव्रता से कार्य्य कर जाती है कि देखने वाले को यह सन्देह हो जाता है कि वह सोचने का काम करता भी है या नहीं। एक बैलगाड़ी जितनी दूर एक महीने में जायगी एक मेल ट्रेन एक दिन में उतनी ही जाती है। जिसने मेल ट्रेन की चाल नहीं देखी वह समझेगा कि मेल ट्रेन मार्ग पर चले बिना ही किसी दैवी शक्ति से आ गई। परन्तु यह बात नहीं है। इसी प्रकार अभ्यास के आधिक्य से निश्चय का कष्ट और समय इतना कम हो जाता है कि हमको वह काम अनायास प्रतीत होने लगते हैं। वस्तुतः वह अनायास नहीं है।

एक बार एक सैनिक कटोरे में घी लिये जाता था। किसी शरारती मनुष्य ने पीछे से अचानक पुकार दिया "फौल इन (Fall in)"। सैनिक के हाथ से कटोरा छूट पड़ा और वह उसी आसन से खड़ा हो गया जैसे सेना के साथ

परेड पर खड़ा हुआ करता था। क्योंकि उसको 'फौल इन' शब्द सुनते ही परेड में खड़े होने की आदत पड़ गई थी। जब पहले दिन परेड पर खड़ा हुआ होगा तो विचार शक्ति तथा इच्छा शक्ति दोनों की आवश्यकता पड़ी होगी। अब आदत पड़ते पड़ते यह व्यापार चेष्टा-शून्य और निश्चय-शून्य सा प्रतीत होने लगा। सैनिक के इस व्यापार की तुलना प्रवृत्ति और परावर्तित क्रिया (Reflex action) से कर सकते हैं। वस्तुतः बहुत से ऐसे काम हैं जिनके वर्गीकरण में दक्ष मनोवैज्ञानिकों को भी कठिनाई पड़ती है। किसी किसी व्यापार के लिये यह समझ में नहीं आता कि इसे प्रवृत्ति की कोटि में रक्खा जाय या परावर्तित क्रिया की या तर्क की, क्योंकि उनमें चेष्टा की मात्रा बहुत न्यून प्रतीत होती है और कभी प्रतीत होती ही नहीं।

यह तो सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि तर्क (Reasoning) के बहुत से अभ्यस्त व्यापार ऐसे हैं जो प्रवृत्ति (instinct) तो नहीं हैं परन्तु प्रवृत्ति की सीमा तक लगभग पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार बहुत से प्रवृत्ति-जन्य व्यापार परावर्तित-क्रिया (Reflex action) तो नहीं हैं किन्तु परावर्तित-क्रिया की सीमा तक पहुँच जाते हैं। इस समानता का मुख्य कारण अभ्यास है। इसके सम्बन्ध में मैं यह कहता हूँ कि क्या

अधिक अभ्यास करते करते यह सम्भव नहीं है कि प्रवृत्तियाँ भी आरम्भ में सचष्ट-तर्क रही हों। यदि प्रवृत्तियाँ शरीर पर कुछ प्रभाव डालती हैं तो देर तक रहने वाली प्रवृत्तियाँ वात-संस्थान (Nervous system) को इस प्रकार का कर सकती हैं कि कुछ दिनों के बाद वही व्यापार परावर्तित क्रिया के समान प्रतीत होने लगें।

इनका एक उदाहरण लीजिये। 'भय' की प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुये जेम्स ने श्नीडर (Schneider) का एक कथन दिया है :—

"It is a fact that men, especially in childhood, fear to go into a dark cavern or a gloomy wood. This feeling of fear arises, to be sure, partly from the fact that we easily suspect that dangerous beasts may lurk in these localities a suspicion due to stories we have heard and read. But on the other hand, it is quite sure that this fear at a certain perception is also directly inheritad. Children who have been carefully guarded from all ghost stories are nevertheless terrified and cry if led into a dark place. especially if sounds are made there.

Even an adult can easily observe that uncomfortable timidity steals over him in a lonely wood at night, although he may have the fixed conviction that not the slightest danger is near.

"This feeling of fear occurs in many men even in their own house after dark, although it is much stronger in a dark cavern or forest. The fact of such instinctive fear is easily explicable when we consider that our savage ancestors through innumerable generations were accustomed to meet with dangerous beasts in caverns, especially bears, and were for the most part attacked by such beasts during the night and in the woods; and that thus an inseparable association between the perceptions of darkness, caverns, woods, and fear took place and was inherited."

(Der Menschliche Wille p. 224, quoted in James' Psychology p. 411).

"यह सच है कि मनुष्य और विशेष कर बच्चे अंधेरी खोह या घने जंगल में जाने से डरते हैं। इस भय का यह

भी एक कारण हो सकता है कि हमको संदेह हो जाता है कि ऐसे स्थानों में हिंसक पशु छिपे हों, क्योंकि हमने पुस्तकों में या कहानियों में इस प्रकार की घटनाओं के विषय में पढ़ा या सुना है। परन्तु साथ ही साथ यह भी ठीक है कि नियत वस्तुओं को देखकर डरना सीधा पैतृक भी आता है। वे बच्चे भी जिनको भूत की कहानियाँ सुनने का कोई अवसर नहीं दिया गया अंधेरे में ले जाने से डर पड़ते और चिल्लाने लगते हैं विशेष कर उस समय जब शोर भी होता हो। बड़े पुरुष को भी रात के समय सुनसान जंगल में जाते भय के मारे कंपकंपी सी होने लगती है चाहे उसको कितना ही निश्चय क्यों न हो कि यहाँ कोई डर नहीं है।

"बहुत से पुरुषों को तो ऐसा भय अंधेरा छाजाने पर अपने घर में भी लगता है यद्यपि अंधेरी खोह या जंगल में विशेष मात्रा में। भय की इस प्रवृत्ति की व्याख्या बहुत आसानी से हो सकती है यदि हम याद रक्खें कि बहुत सी पीढ़ियों पूर्व हमारे पूर्वज खोहों में हिंसक जीवों का सामना करने के अभ्यासी थे विशेष कर रीछों के। यह पशु प्रायः रात में उन पर जंगलों में आक्रमण किया करते थे। इसलिये अन्धकार, खोह, जंगल और भय का ऐसा अटूट्य सम्बन्ध जुड़ गया कि यह पैतृक सम्पत्ति के रूप में हम तक आगया"।

इसका सारांश यह निकला कि जिसको हम भय की प्रवृत्ति (Instinct of fear) कहते हैं वह हमारे कई पीढ़ियों पूर्व के पितामहों के लिये प्रवृत्ति नहीं किन्तु तर्क-युक्त अनुभव था। अर्थात् प्रवृत्तियों का निकास तर्क-युक्त चेष्टा में हैं केवल उस निकास तक पहुँचने का यत्न दुस्तर है क्योंकि वह चेष्टायें इस जीवन में नहीं हुईं किन्तु हमारे पूर्वजों के जीवन में हुई होंगीं। और यह भौतिक शरीरों के द्वारा हम तक आ पहुँची हैं।

श्नीडर महाशय ने तो हमारे भय की प्रवृत्ति का निकास हमारे पूर्वज मनुष्यों तक ही पहुँचाया है। विकासवादी बहुत सी प्रवृत्तियों का निकास हमारे पूर्वज पशुओं तक पहुँचा देते हैं। पशुओं की प्रवृत्तियों का निकास भी खोजना ही है। वह जादू से तो उत्पन्न न हो जांयगीं।

अब हम एक प्रश्न करते हैं। जो प्रकृति हम इस जीवन में बनाते हैं वह हम तक भौतिक शरीर द्वारा नहीं किन्तु आत्मा द्वारा आती है। स्मृति से प्रवृत्ति-परिवर्तन के उदाहरण हम इसी अध्याय में दे चुके हैं। स्मृति बिना चेतन आत्मा के कहाँ रहेगी ? फिर इस जीवन से पूर्व की आई हुई प्रवृत्तियों के लिये भी यह क्यों न माना जाय कि यह प्रवृत्तियाँ पूर्व जन्म के सचेष्ट और सतर्क व्यापारों द्वारा बनी हों और वहीं से वही

आत्मा यहाँ तक लाया हो। क्योंकि प्रवृत्तियाँ आत्मा की हैं न कि शरीर की। तात्पर्य यह है कि इन प्रवृत्तियों से पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के सिद्धान्त की भी तो पुष्टि होती है। क्यों न माना जाय कि वही आत्मा जो मनुष्यों के शरीर में मनुष्य बन कर रहता है, पशुओं के शरीर में भी पशु बनकर रह सकता है। और जिन प्रवृत्तियों को वह पाशविक जीवन में बनाता है वह मानुषिक जीवन में आती हैं और जो प्रवृत्तियाँ मानुषिक जीवन में बनाता है वह पाशविक जीवन में पहुँच जाती हैं।

अभी एक प्रश्न रह गया। क्या मनुष्य की तर्क-शक्ति और पशुओं की तर्क-शक्ति में कुछ भेद है?

यह तो निश्चित बात है कि पशुओं पर शिक्षा का प्रभाव पड़ता है और उनकी बुद्धि अवश्य ही विकसित हो जाती है। परन्तु हमारी यह धारणा है कि प्रत्येक प्रकार के विकास के लिये एक सीमा है। विकास के लिये मस्तिष्क और परिस्थिति दोनों चाहिये। यदि मस्तिष्क और परिस्थिति न हों तो केवल शिक्षा काम नहीं कर सकती। बाहरी शिक्षा तभी संभव है जब भीतर बीज-शक्ति उपस्थित हो। भिन्न भिन्न पशुओं के मस्तिष्क की बनावट भिन्न भिन्न होती है। शिक्षा का प्रभाव आत्मा पर मास्तिष्किक यंत्र द्वारा ही पड़ेगा। यदि मास्तिष्किक यंत्र की बनावट इस योग्य नहीं है कि शिक्षा एक सीमा से आगे बढ़

सके तो उसी मस्तिष्क के रहते हुये शिक्षा में उन्नति न होगी। यही कारण है कि शेर आदि पशुओं को सरकस के काम तो सिखाये जा सकते हैं परन्तु उनको सरकस का मैनेजर होना अभी तक सिखाया नहीं जा सका। हाथी विचित्र खेल तो दिखा सकते हैं परन्तु पुस्तक नहीं लिख सकते। यदि मनुष्य चाहे तो एक सीमा के भीतर प्रत्येक पशु पक्षी को कुछ न सिखा सकता है परन्तु प्रत्येक पशु का अपना मस्तिष्क अलग है और इसलिये उसका कार्य क्षेत्र भी वहीं तक सीमित रहेगा।

पुरातत्त्व-वेत्ताओं की खोजों से पता चलता है कि मनुष्य कभी उन्नति और कभी अवनति करता रहा है। और मनुष्य की भिन्न भिन्न जातियाँ कभी आगे कभी पीछे रहती रही हैं। परन्तु पशु कभी मनुष्य से आगे नहीं बढ़े। इसका कारण यह नहीं है कि उनमें आत्मा नहीं था या ऐसा आत्मा था जो एक योनि से दूसरी योनि में नहीं जा सकता था। इसका मुख्य कारण यही है कि उनमें मास्तिष्किक उपकरण ऐसे थे जिनके होते हुये आगे उन्नति करना असंभव था।

वैदिक साहित्य में पशुओं को भोग योनि और मनुष्यों को कर्म योनि तथा भोग योनि माना है। अर्थात् पशुओं में चेतना और बुद्धि तो मानी है परन्तु बुद्धि और तर्क-शक्ति की इतनी मात्रा नहीं मानी जहाँ कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रश्न उठ सके

और उनको आचार तथा अनाचार का उत्तरदाता ठहराया जा सके। इसका तात्पर्य यह है कि पशुओं में भोक्तृत्व, कर्तृत्व, और ज्ञातृत्व होने से उनमें जीवात्मा है। परन्तु जिस प्रकार दो मास के बच्चे को कर्तव्य अकर्तव्य के लिये उत्तरदाता नहीं ठहरा सकते इसी प्रकार पशुओं को भी किसी आचार अनाचार का उत्तरदाता नहीं मान सकते। मनुष्य जीवन में भी बहुत सी अवस्थायें हैं जिनमें उत्तरदातृत्व का प्रश्न नहीं उठता, जैसे यदि कोई मनुष्य स्वप्न में गाली दे, उन्मत्त होने की दशा में किसी को मार दे या बच्चा हो, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि उत्तरदातृत्व मस्तिष्क की विशेष विकसित अवस्था में ही हो सकता है और आचार अनाचार का प्रश्न भी तभी उठता है। पशुओं के मस्तिष्क (या यों कहिये कि मास्तिष्किक यंत्र) भिन्न भिन्न तलों पर होते हुये भी मानवीतल से बहुत नीचे हैं।

तेईसवां अध्याय

मुक्ति

'जीवन की प्रयोजनवत्ता' नामक अध्याय में हम दिखला चुके हैं कि हमारे शरीर तथा मस्तिष्क का प्रत्येक अङ्ग और उन अङ्गों का प्रत्येक व्यवहार उपयोगिता की दृष्टि से होते हैं। उनमें एक प्रकार का प्रयोजन है। प्रत्येक अङ्ग समस्त शरीर की पुष्टि के लिये और समस्त शरीर प्रत्येक अङ्ग की पुष्टि के लिये तथा यह शरीर और उसके अङ्ग प्रत्यंग मिलकर मस्तिष्क के विकास के लिये और मस्तिष्क का विकास उन सब सूक्ष्म शक्तियों के विकास के लिये हैं जिनको या जिनके स्वामी को जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा की उन्नति का अर्थ यह है कि उसमें कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व के जो गुण पाये जाते हैं उनमें विशदता आ जाये।

इसका अर्थ यह हुआ कि जीवात्मा की उन्नति विशेष सामग्री की प्राप्ति में नहीं किन्तु उस सामग्री के प्रयोग करने में है। भोजन की दृष्टि से वह पुरुष भाग्यशाली नहीं है जिसके पास अधिक भोजन हो, किन्तु शक्तिशाली वह है जो

भोजन भी रखता हो और उसका उपयोग भी कर सकता हो। यदि कोई बीमार मनुष्य बहुत से उत्तम उत्तम खाद्य पदार्थ रखता हो और उसका थोड़ा अंश भी न पचा सकता हो तो उसे कभी भाग्यशाली नहीं कह सकते। इसी प्रकार जीवात्मा की उन्नति उसकी निज शक्तियों के विकास में है।

जीवात्मा को जो शरीर तथा संसार की अन्य वस्तुयें दी गई हैं वे सब उसके उपयोग के लिये हैं परन्तु जीवात्मा उनको उपयोग में लाने के लिये कुछ परतन्त्र और कुछ स्वतन्त्र है। स्वतंत्र इस अर्थ में है कि वह उनमें से किसी को चुन कर उनका सदुपयोग, दुरुपयोग, अनुपयोग कर सकता है। परतन्त्र इस अर्थ में है कि वह उस सामग्री के बाहर नहीं जा सकता। यह स्वतन्त्रता (Free will) और परतन्त्रता (Determinism) का मिश्रण बड़ी जटिल समस्या है और दार्शनिकों ने इनकी व्याख्या में बड़े बड़े ग्रन्थ रच डाले हैं। अभी इस बात का निर्णय नहीं हो सका कि स्वतन्त्रता की सीमा कहाँ समाप्त होती है और परतन्त्रता कहाँ तक जाती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों ही अपनी अपनी सीमा तक विद्यमान हैं। एक बार एक मनुष्य ने हज़रत अली से पूछा कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है या परतंत्र। उन्होंने कहा, "दोनों"। उसने पूछा "कैसे" ?

हज़रत अली ने उससे कहा, "एक पैर उठाओ"। उसने उठा लिया। फिर उन्होंने कहा, "दूसरा पैर उठाओ"। उसने कहा, "नहीं उठा सकता"। हज़रत अली ने उत्तर दिया, "बस, यही बात तुम्हारी स्वतंत्रता की है। पहले तुम स्वतंत्र थे कि दाहिना पैर उठाते या बायाँ। परन्तु जब तुम दाहिना पैर उठा चुके तो परतंत्र हो, गये अब बायाँ पैर नहीं उठा सकते"।

यह बड़ा मोटा दृष्टान्त है परन्तु इसमें बहुत बड़ी सचाई है। हम अपने कार्य्यों में सर्वथा परतंत्र नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व की शक्तियों का विकास असंभव हो जाता। हम जड़ हो जाते। एक घोड़े के ऊपर बहुमूल्य रत्न जड़ित पोशाक डाल दीजिये। इससे उसकी उन्नति नहीं होती। परन्तु जब वही घोड़ा युद्ध में अपने स्वामी को ले जाता है तो उसकी विचार शक्ति का विकास होने लगता है, क्योंकि वहाँ वह उसका उपयोग करता है।

हमारे जीवन में स्वतंत्रता परतंत्रता किस प्रकार मिश्रित है इसका एक मोटा दृष्टान्त ले सकते हैं। एक पिता अपने पुत्र को एक स्थान में अकेला छोड़ देता है। उस स्थान में एक विशाल भवन, एक उपवन और खान पान, पठन पाठन आदि की समस्त सामग्री सम्पादित कर देता है। पुत्र उनके उपयोग

करने में स्वतंत्र है। वह जिस चीज़ को चाहे जितना खाय, जिसको चाहे बिगाड़े। उपवन के जिस वृक्ष के तले चाहे बैठे, जिसको चाहे कटवा दे। जिस पुस्तक को चाहे पढ़े, जिसको चाहे न पढ़े। उसको निर्वचन करने की पूरी स्वतंत्रता है। वह सदुपयोग, दुरुपयोग और अनुपयोग तीनों कर सकता है, परन्तु उस सामग्री की सीमा के भीतर भीतर। वह एक विशेष सीमा से बाहर नहीं जा सकता। यही उसकी परतंत्रता है। यहाँ प्रत्येक वस्तु दो प्रकार से कार्य्य कर रही है। एक तो उन नियमों के अनुसार जो उन वस्तुओं की निज रक्षा के लिये बनाये गये हैं दूसरे उन नियमों के अनुसार जो उस पुत्र के काम करने के लिये बने हुये हैं। यह दोनों नियम नियन्ता ने इस चातुर्य से बनाये हैं कि एक दूसरे में बाधा नहीं डालता। जैसे उपवन के वृक्ष हैं। उन वृक्षों के उगने के अपने नियम अलग हैं। उन नियमों से उस पुत्र का कोई सम्बन्ध नहीं। यदि वह सेब के किसी वृक्ष को छूता तक नहीं, तो भी वह वृक्ष अपने नियमों के अनुसार उगेगा और यदि उसको काटदेता है तो भी अपने नियमानुसार। यदि वह घी शकर को मिलाकर हलवा बना लेता है तो उसका यह हस्ताक्षेप घी और शकर के उनके निज नियमों को काटता नहीं। परन्तु उस पुत्र की यह स्व ंत्रता कम और अधिक भी होती रहती है। कल्पना कीजिये कि

उस भवन में कुछ चोर दरवाज़े हैं, जिनका उसको पता नहीं तो वह उनके प्रयोग करने में परतंत्र है। वह उनको जानता ही नहीं। यदि पिता को मालूम हुआ कि पुत्र ने उन सब वस्तुओं का बड़ा सदुपयोग किया और वह अपनी स्वतंत्रता को इस प्रकार काम में लाया कि उसकी शक्तियाँ अधिक उन्नत हो गईं तो पिता ने आगे चलकर इसके पुरस्कार रूप उन चोर दरवाज़ों का पता दे दिया। अब उसकी स्वतंत्रता पहले से बढ़ गई। इसी प्रकार स्वतंत्रता घटती बढ़ती रहती है।

इसका एक और अच्छा दृष्टान्त लीजिये। एक पुस्तकालय है जिसमें पहली कक्षा से लेकर अन्तिम कक्षा तक की पाठ्य पुस्तकें उपस्थित हैं। एक लड़का उसका अध्यक्ष है। यह पुस्तकालय उसी के लिये है। वह इनमें से किसी पुस्तक को पढ़ सकता है। कोई उसका रोक टोक करने वाला नहीं है। पहले वह किस पुस्तक को पढ़ेगा? स्वभावतः उसको पहली कक्षा की पुस्तक पढ़नी चाहिये। यदि वह उस पुस्तक को उठावेगा तो पुस्तक अपने समस्त मर्म को उसके लिये खोल देगी। अगर उसने उसके बजाय बड़ी कक्षा की पुस्तक उठा ली तो वह उस पुस्तक को समझने में स्वतंत्र न रहेगा। वह कुछ न समझेगा और मन में कहेगा कि मैं स्वतंत्र कहाँ हूँ? यह पुस्तक तो मुझे कुछ बताती ही नहीं। यदि वह बुद्धिमान् है

और शनैः शनैः क्रमानुसार पुस्तकों को पढ़ता जाता है तो समस्त पुस्तकों को समझने की स्वतंत्रता उसमें आती जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्यों ज्यों उसकी योग्यता बढ़ती जा रही है त्यों त्यों उसकी स्वतंत्रता भी बढ़ रही है। नियम वही है। उसमें परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु पुत्र ने अपनी उपस्थित स्वतंत्रता का सदुपयोग करके अपनी स्वतंत्रता का क्षेत्र भी विस्तृत बना लिया। यह स्वतंत्रता उसकी अपनी निज परिश्रम की कमाई का फल है। यह फल इस प्रकार दिया गया है कि न तो यही कह सकते हैं कि उसने स्वयं ही यह फल पा लिया क्योंकि पुस्तकालय के नियन्ता के नियम काम कर रहे हैं, और न यही कह सकते हैं कि उसमें उस पुत्र का कोई हाथ नहीं। क्योंकि उसने निर्वचन भी किया और परिश्रम भी।

सृष्टि में जो सामग्री हमको प्राप्त है वह इसी पुस्तकालय के तुल्य है। केवल एक विशेषता है। यहाँ भिन्न भिन्न पुस्तकें नहीं हैं। पुस्तक एक है परन्तु वह भिन्न भिन्न श्रेणियों की योग्यता के अनुसार भिन्न भिन्न प्रतीत होती है। पहली कक्षा वाला उसे पढ़ता है तो उसे उसी के अनुसार ज्ञान होता है। वह समझता है कि इस पुस्तक में बस इतना ही लिखा है अधिक नहीं। परन्तु जितना वह परिश्रम करता है उसको उसी पुस्तक के उसी पृष्ठ से नया ज्ञान मिलता जाता है। यह सृष्टिरूपी

पुस्तक सबके लिये खुली है। एक चींटी इसी को पढ़ती है और उतना ही ज्ञान प्राप्त कर सकती है जितनी उसकी शक्ति है। एक जंगली मनुष्य उसी पुस्तक को पढ़ता है और कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वही जंगली मनुष्य सभ्यता प्राप्त करके फिर उसी पुस्तक को पढ़ता है और उसे वह पुस्तक अद्भुत ज्ञान का भंडार प्रतीत होती है। बच्चा दूध पीता है, थोड़ा ही पी सकता है। अपनी सीमा के भीतर पिये तो उसे आनन्द मिलता है। मात्रा से अधिक होने पर उसे मतली आने लगती है। वही बच्चा अपनी भोक्तृत्व नामक शक्ति को बढ़ाता है और दस सेर तक दूध बड़े स्वाद से पी जाता है। इस प्रकार जीव स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी, और स्वतंत्रता को बढ़ा भी सकता है। जब इस स्वतंत्रता की पराकाष्ठा हो जाती है तो इसी का नाम अपवर्ग या मुक्ति है। क्योंकि परतंत्रता की बेड़ियों से छूट जाता है।

मुक्ति को परमपद कहा है। यह है भी परमपद, परन्तु भौतिक अर्थ में नहीं। यह जीवात्मा की वह अवस्था है जिसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियों की पराकाष्ठा है, जिसमें अन्य सब बन्धन छूट जाते हैं, जिसमें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। परन्तु मुक्ति के विषय में लोगों में एक भ्रम फैला हुआ है। वह समझते हैं कि मुक्ति कोई स्थान

विशेष है जहाँ जीवात्मा को उसके कामों के उपलक्ष में भेज दिया जाता है। या कोई ऐसा पदार्थ है जो उसे मिल जाता है। इसीलिये लोग अपने विकास का सम्बन्ध मुक्ति से नहीं जोड़ते। मुक्ति के लिये मनुष्य उसी प्रकार इधर उधर भटकता फिरता है जिस प्रकार स्कूल के काहिल परीक्षार्थी प्रमाण पत्र (सार्टीफिकेट) के लिये मारे मारे फिरते हैं। कोई प्रश्न पत्र ही बता देता। कोई परीक्षक से सिफ़ारिश ही कर देता। किसी प्रकार पर्य्याप्त अङ्क मिल जाते। यदि उनको मालूम हो जाय कि परीक्षा में उत्तीर्ण होना या डिग्री का मिलना काग़ज़ के सार्टीफिकेट का नाम नहीं किन्तु अपनी आन्तरिक शक्तियों की विकसित अवस्था का नाम है तो वह बहुत से दूषित और हानिकारक व्यापारों से रुक जाते। विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये उचित परिश्रम के अतिरिक्त क्या कुछ नहीं करता और धर्मान्ध पुरुष मुक्ति का सार्टीफिकेट लेने के लिये क्या क्या ढोंग नहीं रचाते? यदि मुक्ति का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाय तो मानव जाति की बहुत सी पीड़ायें कम हो सकती हैं और समय तथा परिश्रम का अपव्यय बच सकता है।

अच्छा! मुक्ति एक परमपद है। इसमें और आप में इतना अन्तर है जितना एक बड़े ऊंचे पहाड़ की चोटी में और उसके सब से निचले भाग में। इस भौतिक उपमा पर ध्यान

दीजिये और इसकी विषमता को छोड़ कर समता से लाभ उठाइये। आप नीचे खड़े हैं। आप ऊपर चोटी पर चढ़ना चाहते हैं। इसके लिये कोई सीधा मार्ग नहीं है। कोई आदमी पहाड़ की चोटी पर सीधा नहीं चढ़ सकता। जब मैं पहाड़ों के मार्गों को देखता हूँ तो मुझे यह प्रतीत होने लगता है मानों प्रकृति देवी ने इन मार्गों को मुक्ति के दृष्टान्तरूप में ही रचा है। जिन्होंने देखा है वह जानते हैं कि पहाड़ी मार्ग नाक की सीध नहीं जाते। यह चक्कर काट कर जाते हैं। १०० फुट ऊंचा चढ़ने के लिये कभी कभी पांच छः मील चलना पड़ता है। छः मील में ३१६८० फुट होते हैं अर्थात् सौ फुट के बजाय ३१६ गुना अधिक चलना पड़ा। यदि मनुष्य सीधा चढ़ सकता तो कितनी बचत होती? परन्तु उसमें इतनी शक्ति नहीं। इस लिये चक्करदार मार्ग बनाये गये जिसमें चढ़ाई कम प्रतीत हो और चढ़ने में सांस न फूले। यह मार्ग इस प्रकार के हैं कि कहीं ऊपर को जाते हैं कहीं नीचे को, कहीं पूर्व को, कहीं पश्चिम को। परन्तु पहाड़ी मार्ग में और मुक्ति के मार्ग में इतना भेद है। यदि आप पहाड़ की नियत ऊँचाई पर चढ़ गये तो उसके सहारे खड़े रह सकते हैं। मुक्ति के मार्ग के जो स्टेशन हैं उन पर ठहरने के लिये भी आप को परिश्रम करना पड़ता है। कल्पना कीजिये कि हर पग पर

ऐसी कलें लगी हुई हैं कि यदि आप कहीं ठहर कर निश्चेष्ट हो जायँ तो आप वहाँ रहने नहीं पाते। वह कल आप को कई फुट नीचे के स्थान में ला डालती है और आप को कई मील यात्रा फिर करनी पड़ती है। लड़के साँप-सीढ़ी (Snake & Ladder) का खेल खेलते हैं। कहीं तों सीढी ऊपर चढ़ा ले जाती है और कहीं साँप को अवसर मिल जाता है और वह घंटों की कमाई को क्षण में नष्ट करके नीचे आ गिराता है। मुक्तिके मार्ग में भी इसी प्रकार की साँप-सीढ़ी हैं। सांप आलस्य और प्रमाद का रूप है और सीढ़ी परिश्रम का। परिश्रम करते जाइये, आप कुछ न कुछ ऊंचा चढ़ेंगे। ज़रा ढील दे दीजिये और झट आ गिरेंगे। इसका एक अच्छा उदाहरण हम स्कूल के विद्यार्थियाँ में पाते हैं। निरन्तर परिश्रम करने वाला विद्यार्थी कहीं का कहीं पहुँच जाता है और जिसने विश्राम किया वह वहीं नहीं रहता जहाँ पहले था। वरन् बहुत पीछे जा पड़ता है। या तो पढ़े या भूले। बीच की तो अवस्था है ही नहीं।

अब इस दृष्टान्त का दार्ष्टान्त लीजिये। कीट पतंग से लेकर मनुष्य की योनि तक यह सब योनियाँ और इन योनियों की मध्यवर्त्ती दशायें जीव के मुक्ति रूपी चोटी तक पहुँचने के लिये मार्ग हैं। यह चक्करदार रास्ते हैं जिन पर होकर गुज़रना है। भिन्न भिन्न प्राणी भिन्न भिन्न स्टेशनों पर हैं। कुछ आगे

बढ़ते हैं और कुछ पीछे खींच लिये जाते हैं। संसार चक्र वस्तुतः यही मार्ग चक्र है। प्राणियों की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ और भिन्न भिन्न चेष्टायें इसी मार्ग में चढ़ने या उतरने में सहायक होती हैं। ईर्ष्या, द्वेष, मद, लोभ, मोह, काम, क्रोध, परोपकार, स्नेह, पराक्रम, उत्साह, वीरता, ज्ञान-प्रियता, और इन भावों से प्रेरित हुई सहस्रों क्रियायें जिनको कोटियों में विभक्त करना भी आसान काम नहीं है, और जिनको कुछ शास्त्रकारों ने सात्विक, राजसिक, तामसिक तथा अन्यान्य अवान्तर कर्मों में विभक्त किया है इसी अवतरण-उत्तरण की चेष्टायें हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, तथा मनुष्यों की यह लाखों योनियाँ अलग अलग तथा असम्बद्ध नहीं हैं। यह एक दूसरे से मिली हुई हैं। मृत्यु और जन्म इन योनियों के बीच के जंक्सन स्टेशन हैं। एक सिलसिला चला गया है। मार्ग की मंजिल एक समाप्त होती है तो दूसरी आरम्भ हो जाती है। जब तक परम पद की प्राप्ति नहीं हो जाती यही उतरना चढ़ना लगा रहता है। यही नहीं कि मृत्यु या जन्म के बाद ही उतार चढ़ाव आरम्भ होता हो, एक जीवन में भी उतार चढ़ाव का क्रम जारी रहता है। हम अपने जीवन में भली भाँति अनुभव कर सकते हैं कि कभी हम चढ़ते मालूम होते हैं कभी उतरते। और बहुत से तो आत्म-परीक्षण भी नहीं करते। वे कभी प्रश्न भी नहीं

करते कि हम चढ़ रहे हैं या उतर रहे हैं। परन्तु उनके जीवन के भिन्न भिन्न कर्म उनको उतार या चढ़ा अवश्य रहे हैं।

यह योनि-परिवर्त्तन कैसे होता है ? इसकी कहानी अगले अध्याय में सुनिये। बड़ी मनोरंजक भी है और उपयोगी भी।

चौबीसवाँ अध्याय

योनि-परिवर्त्तन

पहले तो आप अपने शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों की बनावट पर ही विचार कीजिये। आइये, किसी प्रसिद्ध डाक्टर से पूछें:—

One of the most remarkable things in the world is a human ovum. From a single cell when fertilized, there develop myriads and myriads of cells. These cells quickly begin to differentiate into the various tissues and organs of the body: bone, muscle, nerve; heart, liver, kidney; or into those still more wonderfully complex organs, the eye, the ear, and the brain. Moreover, the later exact color of the eyes, of the skin—white, black, brown, etc,—along with other racial qualities of body and mind, straight or curly hair, Grecian, Roman, Jewish, Negro nose; the oblique, Asiatic eyes, the longer

arms and projecting heel of the negro, the high cheek-bone of the American Indian. There are always symmetrical pairs of eyes, ears, nostrils, arms, legs, brain (in right and left hemispheres) lungs, kidneys, ribs, etc., but only one liver, stomach, pancreas, spleen &c. "Why, in the embryo should the little bud which is to become a human arm always develop at exactly the right place and not grow out on the front of the chest or on the back nearer the spine ?........... why should the two arms (and the two legs) always grow to virtually the same length ? Why should the human body grow for about twenty years and then stop growing ?" The only answer is that in that tiny primordial cell were enshrined all the orderly sequences and potencies of human development.

(William W. Keen, M. D.: "I believe in God and in Evolution" p. 71.)

विलियम डब्ल्यू कीन लिखते हैं, "मनुष्य का डिम्ब संसार की सब से विचित्र चीज़ों में से है। गर्भ स्थिति के पश्चात् एक ही कोष्ठ से लखूखा कोष्ठ बन जाते हैं। इन्हीं

कोष्ठों में शीघ्र रचना भेद होने लगता हैं और शरीर के भिन्न भिन्न तन्तु और अंग बन जाते हैं। जैसे हड्डी, पुट्ठा, नाड़ियाँ, हृदय, यकृत, वृक्क, या इससे भी विचित्र जटिल अंग जैसे आँख, कान और मस्तिष्क। यही नहीं। कुछ दिनों पीछे आँखों का रंग और चमड़े का रंग अलग अलग होने लगते हैं जैसे सफ़ेद, काला, भूरा आदि और उनमें शारीरिक और मानसिक जातीय विशेषतायें भी उत्पन्न होने लगती हैं। जैसे किसी के बाल सीधे किसी के घूंघर वाले। यूनानियों की नाक और प्रकार की होती है, रोमन लोगों की और प्रकार की, युहूदियों की और प्रकार की और नीग्रो की और प्रकार की। एशिया वालों की तिरछी आँखें, नीग्रो लोगों की लम्बी भुजायें और निकली हुई एड़ियाँ, अमेरिका के इण्डियन लोगों की गालों की ऊंची हड्डी। फिर यह भी देखिये कि जिन अंगों में द्वन्द्व होता है वह कितने समीचीन होते हैं जैसे दोनों आँखें एक सी, दोनों कान एक से, दोनों नथने, दोनों भुजायें, दोनों टांगें, मस्तिष्क के दाहिने और बायें गोलार्द्ध, फेंफड़े, वृक्क, पसलियाँ इत्यादि। परन्तु यकृत एक ही, पेट एक ही, क्लोम एक ही, प्लीहा एक ही। प्रश्न यह है कि जिस भाग को पीछे से मनुष्य की भुजा बनना है वह अङ्ग गर्भ में सदा उसी स्थान पर क्यों बनता है और छाती के आगे या रीढ़ के पास पीछे क्यों नहीं बनता। दोनों

भुजायें और दोनों टांगें लगभग एक ही लम्बाई की क्यों होती हैं। मनुष्य का शरीर लगभग बीस वर्ष तक ही क्यों बढ़ता है और फिर क्यों बढ़ना बन्द हो जाता है। इसका यही एक उत्तर है कि उस एक छोटे से मौलिक कोष्ठ में मनुष्य के विकास के सभी भावी क्रम और शक्तियां गुप्त रहती हैं।

अर्थात् वह एक कोष्ठ जिसको गर्भ कहते हैं और जिससे मनुष्य के शरीर की समस्त विशेषतायें उत्पन्न होती हैं उन सबका कोष है। उसमें वे शक्तियाँ गुप्त हैं। यदि एक अङ्गरेज स्त्री और एक नीग्रो स्त्री के मौलिक गर्भ कोष्ठों (Primordial cell) की परीक्षा की जाय तो कोई अन्तर न मिलेगा। परन्तु उसी से उत्पन्न हुये अङ्गरेज और नीग्रो के शरीर, मस्तिष्क, आचार, व्यवहार में बहुत बड़ा भेद प्रतीत होगा। इससे प्रकट है कि वह भेद अव्यक्त रूप में उन कोष्ठों में भी था। मनुष्य के पास उसके जानने के साधन न थे। यही नहीं। यदि एक ही स्त्री के दो गर्भ कोष्ठों की परीक्षा की जाय तो उनमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। परन्तु उनसे उत्पन्न हुये बच्चों में बहुत से चरित्र सम्बन्धी भेद होते हैं। इससे प्रकट होता है कि उन गर्भ कोष्ठों में किसी आहार, व्यवहार आदि कारण से भेद हो गया।

एक और बात पर ध्यान दीजिये। एक स्त्री एक बार एक अंगरेज़ पुरुष से गर्भ धारण करे और दूसरी बार किसी अमेरिकन इण्डियन से। तो इनके बच्चे भिन्न भिन्न होंगे। यदि आप सोचें कि भेद कहाँ और किस समय उत्पन्न हुआ तो आप को कम से कम गर्भ स्थिति के समय तक तो अवश्य ही जाना होगा। अंगरेज़ के बच्चे में अंगरेज़ पिता के और अमेरिकन इण्डियन के बच्चे में अमेरिकन इण्डियन पिता के चरित्रों का अंश मिलेगा। इससे पता चला कि अंगरेज़ का वीर्य अव्यक्त रूप से अंगरेज़ के शारीरिक और मानसिक चरित्रों को इकट्ठा कर लेता है और रेड-इण्डियन का वीर्य रेड इण्डियन के चरित्रों को। और उन्हीं को वह आगे चलकर सन्तान के रूप में व्यक्त कर देता है।

आगे चलिये। यदि एक पुरुष अपना आचार व्यवहार तथा स्वभाव आदि बदल दे तो उसका वीर्य उस नये आचार व्यवहार का फोटो उतार कर रख लेगा और उसको सन्तान के रूप में व्यक्त करेगा।

इससे हम यह नतीजा निकालते हैं कि न केवल मनुष्यों में किन्तु पशुओं में भी व्यक्त से अव्यक्तीकरण और अव्यक्त से व्यक्ती-करण का व्यापार हुआ करता है। जैसे फोटोग्राफ़र बड़ी तसवीर को छोटी करता और छोटी को बड़ी करता है इसी

प्रकार इसको भी समझना चाहिये। यदि आचार, व्यवहार, रहन, सहन, स्वभाव आदि में परिवर्त्तन हुआ तो वीर्य में भी परिवर्त्तन होगा। रज में भी परिवर्त्तन होगा। और दोनों से मिलकर बने हुये गर्भ कोष्ठ में भी परिवर्त्तन होगा। यह परिवर्त्तन अन्वीक्षण यंत्र से भी प्रतीत न होगा। परन्तु ज्यों ज्यों विकास होता जायगा, परिवर्त्तन भी व्यक्त होता जायगा। माता और पिता के आचार व्यवहार का संतान पर प्रभाव इस प्रकार पड़ता है। इसलिये शास्त्र का आदेश है कि जैसी संतान बनाना चाहते हो वैसा तुम स्वयं बनो।

हमने यहाँ किसी प्राणी के आचार विचार की खोज गर्भ-कोष्ठ तक की है, जो स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखती है। परन्तु योनि-परिवर्त्तन के प्रश्न को समझाने के लिये हम अपने पाठकों को और सूक्ष्म मार्ग की सैर कराना चाहते हैं।

जिस प्रकार इतने बड़े शरीर और मस्तिष्क की व्यक्त विशेषताओं को अव्यक्तरूप से गर्भ कोष्ठ में गुप्त कर लिया जाता है उसी प्रकार हमारे जीवन की प्रत्येक घटना जो स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखती है सूक्ष्म शरीर में अव्यक्त रूप से गुप्त रहती है। हमारा ज्ञान, हमारी वृत्तियाँ, हमारा स्वभाव यह सब प्रत्येक क्षण छन छन कर अति सूक्ष्म अवस्था में सूक्ष्म शरीर को बदला करते हैं। जिस प्रकार हमारा भोजन स्थूल

रूप में तो हमारे रुधिर और हड्डियों को बदलता है परन्तु सूक्ष्म रूप से मस्तिष्क के तन्तुओं को भी बदल देता है इसी प्रकार हमारा समस्त जीवन-सम्बन्धी व्यापार संस्कारों के रूप में सूक्ष्म शरीर को बदलता है। आप हमको लड़ते, झगड़ते, ईर्ष्या, द्वेष करते, प्रेम और परोपकार करते देखते हैं। यह सब हमारी प्रवृत्तियों के वृहत् रूप हैं। परन्तु सूक्ष्म शरीर अपने लिये इनका सूक्ष्म फोटो लेकर रखता जाता है। या यों कहिये कि इनकी वासनायें छन छन कर सूक्ष्म शरीर तक पहुँचा करती हैं और सूक्ष्म शरीर में परिवर्त्तन किया करती हैं।

आप पूछेंगे कि इस सूक्ष्म शरीर के परिवर्त्तन से और योनि परिवर्त्तन से क्या सम्बन्ध ? सुनिये और विचार कीजिये।

मनुष्य के भावों और शरीर की बनावट में सम्बन्ध है। उनका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इसको सभी मानते हैं। यदि मनुष्य के भाव बदल जायँ तो आकृति में भी भेद पड़ जायगा। बहुत से लोग आकृति से स्वभाव का पता लगा लेते हैं। यदि कोई मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाय या चिड़चिड़ा होने का अभ्यास करने लगे तो न केवल बाहरी आकृति में ही भेद होगा किन्तु भीतरी आकृति भी बदल जायगी और स्थूल शरीर का परिवर्त्तन छन छन कर सूक्ष्म शरीर तक पहुँचेगा।

मनुष्य के भावों और पशुओं के भावों में बहुत सादृश्य है। मनुष्य भी एक पशु है। कभी वह कुत्ते के समान स्वामि-भक्त, कभी भेड़िये के समान हिंसक, कभी बगले के समान मक्कार, कभी चींटी के समान दूरदर्शी, होता है। पशु भिन्न भिन्न योनियों में भिन्न भिन्न भाव रखते हैं। उनके भावों में अधिक भेद नहीं होता। परन्तु मनुष्य के एक जीवन के भिन्न भिन्न समय के भावों में भी इतना भेद हो जाता है कि हम कह सकते हैं कि मनुष्य के भाव समस्त पशुओं के भाव की प्रदर्शिनी हैं। यदि आप ऐसा मनुष्य खोजना चाहें जिसकी प्रकृति क्रूर से क्रूर शेर के समान हो तो ऐसा मनुष्य मिल सकेगा। जिस क्रूरता से शेर भी अपने शिकार को नहीं मारता उस क्रूरता से मनुष्य मारता है। यदि आप चाहें कि बहुत शान्त मनुष्य मिल जाय तो ऐसा भी मिल सकेगा। सारांश यह है कि पशु पक्षी कीट पतंग आदि सभी प्राणियों के स्वभावों के समान स्वभाव मनुष्य जाति में मिलेंगे। विकासवादी कहा करते हैं कि सब प्राणियों के स्वभावों का इतिहास मनुष्य के जीवन में दुहराया जाता है। परन्तु वह यह नहीं बता सके कि दो भाइयों के जीवन में दो भिन्न भिन्न पशु या पक्षियों के स्वभाव क्यों दुहराये गये। जो क्रम विकास की योनियों का बताया जाता है वह भी शरीर

की बनावट के विचार से। जैसे बन्दर के शरीर को देखकर कहते हैं कि मनुष्य पहले बन्दर था। परन्तु जिस मनुष्य की प्रकृति शेर की प्रकृति से भी अधिक क्रूर है उसका स्वभाव बन्दर के स्वभाव से निकट क्यों कर हुआ? यह तो हो नहीं सकता कि मैं शरीर की अपेक्षा से बन्दर की योनि के निकट होऊँ और स्वभाव की अपेक्षा से शेर की योनि के निकट। मेरी धारणा है कि मनुष्य सब योनियों का केन्द्र है। मनुष्य-योनि से सभी योनियाँ निकट हैं।

इस सम्बन्ध में विकासवादी कितने अनिश्चित हैं यह बात नीचे के उद्धरण से स्पष्ट हो जायगी।

The connection, if any, between man and Ape is simply that the most manlike thing in creation is the Ape, and that, in his Ascent, man probably passed through a stage when he more nearly resembled the Ape than any other known animal. Apart from that accident, Evolution owes no more to the Ape than to any other creature. Man and Ape are alike in being two of the latest terms of an infinite series, each member of which has had a share in making up the genealogical tree. To single out the Ape, there-

fore, and use the hypothetical relationship for rhetorical purposes is, to say the least, unscientific. It is certainly the fact that man is not descended from any existing ape...........For an anthropoid ape could as little develop into a man as could a man pass backwards into an anthropoid ape.

(Drummond's Ascent of man. p. 100).

"यदि नर और बानर में कोई सम्बन्ध है तो केवल इतना कि सृष्टि में नर से समानतम बानर है, और शायद अपने उत्थान के व्यापार में मनुष्य ऐसी अवस्था से गुज़रा जो अन्य प्राणियों की अपेक्षा बानर की अवस्था के अधिक सदृश थी। इस आकस्मिक घटना से विकास बन्दर का उतना ही अधिक ऋणी है जितना अन्य प्राणियों का। वंश-वृक्ष के बनाने में जिस अनन्त सिलसिले ने काम किया है उसकी प्रत्येक कड़ी का ही इसके निर्माण में हाथ है और उसकी सब से पिछली कड़ियाँ नर और वानर हैं। इसलिये केवल वानर को छाँट लेना और इस काल्पनिक सम्बन्ध को मखौल का साधन बनाना वैज्ञानिकों के लिये उचित नहीं है। यह तो ठीक ही है कि नर किसी आजकल के वानर से उत्पन्न नहीं हुआ ...

क्योंकि आजकल का मनुष्य-तुल्य वानर कभी नर नहीं हो सकता और न नर लौटकर वानर हो सकता है"।

तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म शरीर के विचार से योनि परिवर्त्तन तो इसी जन्म में आरम्भ हो जाता है। लोग कहा करते हैं कि अमुक पुरुष ने अपनी आदतों के कारण अपने को पशु बना लिया है। यह केवल आलंकारिक भाषा नहीं है। इसमें सच्चाई है। उसके पाशविक व्यवहारों की वासनाओं ने छन छन कर उसके सूक्ष्म शरीर को मानवी सूक्ष्म शरीर से बदल कर पाशविक सूक्ष्म शरीर बना दिया है। यह सूक्ष्म शरीर जब मृत्यु के पश्चात् इस स्थूल शरीर को छोड़ कर जायगा और अपनी अव्यक्त शक्तियों का व्यक्तीकरण करेगा तो पशु ही बन सकता है अन्य नहीं। इस प्रकार यद्यपि हमारा पूरा पूरा योनि परिवर्त्तन मृत्यु के पश्चात् होगा किन्तु उसका सूत्रपात यहीं से आरंभ हो गया। जिस योनि में हमको मरने के पश्चात् जाना है उसका निर्माण हम अभी कर चुके।

जब यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से निकलता है तो समस्त जीवन भर के संस्कारों की वासनायें अव्यक्तरूप में ले जाता है, और उन वासनाओं को व्यक्त करने के लिये वह ऐसी सामग्री का सम्पादन करता है जिससे उसी योनि को प्राप्त

हो सके। यह बात उसी प्रकार होती है जैसे चने का बीज खेत में से चने का अंश ही ग्रहण करता है गेहूँ का नहीं। प्रकृति का नियम ही यह है कि चाहे खेत में गन्ने के अंश भी विद्यमान हों तो भी चना उन अंशों को कदापि न लेगा। इसी प्रकार हमने जिस योनि का सूत्रपात इस जीवन में किया है दूसरे जन्म में हमारा सूक्ष्म शरीर उसी योनि के स्थान को तलाश करेगा और प्राकृतिक नियमों के अनुसार वहीं पहुंच जायगा।

कुछ लोगों की समझ में यह बात न आयेगी। वह स्वभावतः पूछेंगे कि जब माता पिता गर्भ-स्थिति करते हैं तभी तो शरीर बनता है। उस सूक्ष्म शरीर से जो मृत्यु के पश्चात् किसी स्थूल शरीर को छोड़कर आ रहा है इस गर्भ-स्थिति से क्या सम्बन्ध है? यह दो कार्य्य भिन्न भिन्न हैं। एक जीव के सूक्ष्म शरीर ने कलकत्ते में स्थूल शरीर छोड़ा। स्त्री पुरुष के एक अन्य जोड़े ने बर्लिन में गर्भ-स्थिति के लिये प्रयत्न किया। एक को दूसरे का पता नहीं। फिर यह कैसे संभव होगा कि जो जीवात्मा कलकत्ते में मर गया वही बर्लिन में पैदा हो गया।

परन्तु सृष्टि-क्रम पर विचार करने से यह समझ में आ सकता है। मैं अपने स्कूल में देखता हूँ कि कभी दूरस्थ नगर

से एक अजनबी विद्यार्थी आकर स्कूल में दाखिल हो जाता है। वह वहाँ सर्वथा अज्ञात है। न कोई उसको जानता है न वह किसी को जानता है। परन्तु मुझको दो दिन के भीतर ही पता चल जाता है कि वह अच्छा है या शरीर। प्रायः देखा गया है कि यदि वह खिलाड़ी है तो सातवें दर्जे में पढ़ता हुआ भी पाँचवें और आठवें दर्जे के खिलाड़ियों के साथ मेल कर लेगा। और यदि वह परिश्रमी है तो उसकी मित्रता परिश्रमी लड़कों के साथ हो ही जायगी। यह क्योंकर हुआ? एक अदृष्ट आकर्षण शक्ति द्वारा। उसने अपने समान विद्यार्थियों के लिये विज्ञापन नहीं निकाला, न कार्य्यालय के रजिष्टर देखे। परन्तु दोनों की प्रवृत्तियाँ एक सी थीं अतः दोनों ने एक दूसरे को आकर्षित कर लिया। लोहे को चुम्बक खींचता है। यहाँ आकर्षण दोनों ओर से है। चुम्बक लोहे का आलिङ्गन करने को तैय्यार है और लोहा भी खिंच जाने का अवसर ढूंढ रहा है। ज्योंही अवसर मिला दोनों मिल गये। स्त्री पुरुष के जोड़े कैसे मिल जाते हैं। आरंभ कहाँ से होता है? वस्तुतः दोनों ओर से। प्राकृतिक नियम इस प्रकार का है कि दो समान प्रवृत्ति वाले मिल ही जायँ। चने के खेत में चने के परमाणु आकर्षित होने के लिये तैयार थे। वे इंतज़ार कर रहे थे। ज्योंही चने का बीज पहुँचा दोनों आ मिले।

एक और दृष्टान्त लीजिये। एक नगर में भिन्न भिन्न प्रकार की दुकानें होती हैं। हलवाई लड्डू, बर्फी बनाकर तैयार रखता है। फल वाला अमरूद, नारंगी आदि से दुकान सजाता है। एक यात्री आता है और फलों को ले लेता है। दूसरा यात्री फलों की ओर देखता भी नहीं और हलवाई की दुकान पर मिठाई ले लेता है। ज़रा विचार कीजिये। हलवाई को बर्फी बनाने में कितनी तैयारी करनी पड़ी? वह किसी घोसी को पेशगी रुपया दे रहा है कि घोसी गाय मोल लेकर उसके लिये दूध तैयार करे। किसी शक्कर वाले को शक्कर का ठेका दे रहा है। कल्पना कीजिये कि प्रयाग में रामदत्त हलवाई की दुकान से १६ जून ३३ को बीकानेर के यात्री तुलसीदास ने बर्फी खरीदी। आप समझ सकते हैं कि रामदत्त ने बर्फ़ी बनाने की तैयारी कब से की? छः वर्ष पहले उसने उसी स्थान पर ज़मीन मोल लेकर दुकान बनाई थी। वह समझता था कि बर्फ़ी खाने की प्रवृत्ति वाला आदमी आयेगा और मैं उसके हाथ बर्फ़ी बेचूँगा। तुलसीदास जब बीकानेर से चला तो वह भी जानता था कि कोई बर्फ़ी बनाने की प्रवृत्ति वाला आदमी बर्फ़ी बनाता ही होगा। इस प्रकार रामदत्त और तुलसीदास की प्रवृत्तियों में सादृश्य होने के कारण एक दूसरे को खींच रहे थे। यह आकर्षण प्राकृतिक नियमों के अनुसार हो रहा

था। कोई नियन्ता था जो इस सम्बन्ध के तार को हिला रहा था। वे दोनों जानते भी थे और नहीं भी जानते थे। उनको अनिश्चित ज्ञान था निश्चित ज्ञान न था। रामदत्त जानता था कि संसार में मिठाई खाने की प्रवृत्ति के आदमी हैं। यदि वह ऐसा न जानता तो आयु भर मिठाई के बनाने की शिक्षा ग्रहण करने और सामग्री एकत्रित करने में क्यों लगता। तुलसीदास भी जानता था कि मिठाई बनाने की प्रवृत्ति वाले लोग उपस्थित हैं। उसने मिठाई खाने की प्रवृत्ति एक दिन में उत्पन्न नहीं की। इसके लिये उसको समय लगा। इस प्रकार दोनों को ज्ञान था। परन्तु वह अनिश्चित ज्ञान था। निश्चित रूप से वह नहीं जानते थे कि १६ जून को रामदत्त की दुकान से ही तुलसीदास बर्फ़ी लेगा। इन दोनों में आ-कर्षण था परन्तु उस आकर्षण को सफल करना किसी अन्य नियन्ता के हाथ में था।

इसी प्रकार एक जीव अपने स्थूल शरीर में भिन्न भिन्न गुण कर्म स्वभाव को निर्माण करता हुआ अपनी उपार्जित पूंजी को सूक्ष्म शरीर रूपी बक्स में भर एक स्थान से चलता है। उस सूक्ष्म शरीर को बनाने में उसे समस्त जीवन का समय लग गया। दूसरा जीव एक दूसरे स्थूल शरीर में एक ऐसा वीर्य-रूपी स्थान तैय्यार कर रहा है जहाँ उसी की प्रवृत्ति के

समान सूक्ष्म शरीर आकर अपने विकास की सामग्री ले सके। इन दोनों में आपस में आकर्षण हैं। एक को दूसरे की तलाश है। दोनों को परस्पर मिला देना उस नियन्ता के हाथ में है जो गुप्त रीति से यह प्रबन्ध किया करता है।

नगरों में लोग किराये के मकान बनाया करते हैं। यह मकान भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार बनाये जाते हैं। और किरायेदार अपनी अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार मकान तलाश कर लेते हैं। समाज का संगठन इसी प्रकार चलता है और सृष्टि के संगठन की समाज के संगठन से बहुत कुछ समानता है क्योंकि समाज भी तो सृष्टि का ही अङ्ग है।

बहुत से लोगों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त भूल भुलय्याँ प्रतीत होता है। परन्तु ऐसे लोगों की दृष्टि स्थूल है। वह यह नहीं जानते कि इस प्रकार सृष्टि के समस्त व्यापार ही भूल भुलय्याँ हैं। छोटे बच्चों के लिये तो नगर की चौड़ी चौड़ी सड़कें भी भूल भुलय्याँ ही रहती हैं। वह प्रायः उनके चक्कर में आ जाते हैं। परन्तु जिसने नगर का प्लैन बनाया या जिसने उस प्लैन का अध्ययन किया उसके लिये भूल भुलय्याँ नहीं है। उसके लिये तो समस्त व्यवस्था स्पष्ट है। जो लोग इस सिद्धान्त को भूल भुलय्याँ कह कर टाल देते हैं वह भिन्न भिन्न योनियों का कोई उत्तर नहीं दे सकते। उनको मस्तिष्क

लगाना पसन्द नहीं। उनको तो इतनी ही बात से सन्तोष हो जाता है कि अजी ईश्वर जाने। जिसने सृष्टि रची है वही जानता होगा। मैंने लोगों को अकबर का एक शेर कहते सुना है:—

हरचन्द फिलसफ़ी में चुनाँ ओ चुनीं रही।
लेकिन खुदा की बात जहाँ थी वहीं रही॥

यह एक मखौल है उन लोगों पर जो सृष्टि के भिन्न भिन्न व्यापारों और प्रगतियों की जटिल समस्या पर विचार करना चाहते हैं। परन्तु मखौल करने वाले यह नहीं समझते कि हमारा मस्तिष्क है किस लिये? यदि सृष्टि के व्यापार इतने सरल और स्पष्ट होते कि उनको असभ्य से असभ्य और मूर्ख से मूर्ख भी समझ लेता तो 'मास्तिष्किक विकास' या 'मानसिक उन्नति' आदि शब्द न होते। और मनुष्यों और पशुओं में कोई भेद न होता। पशुओं के व्यापार भी ऐसे जटिल हैं जैसे मनुष्यों के। परन्तु मनुष्य अपने तथा पशुओं दोनों के ही व्यापारों की जटिलता को सुलझाने का प्रयत्न करता है और पशु नहीं। केवल इतने से ही संतोष नहीं कर लेना चाहिये कि ईश्वर जानता होगा। जहाँ ईश्वर की सृष्टि जटिल है वहाँ ईश्वर ने मनुष्य को उस जटिलता के समझने की प्रवृत्ति और योग्यता भी दी है।

पच्चीसवां अध्याय

आधुनिक विकासवाद और योनि-परिवर्त्तन

योनि-परिवर्तन अर्थात् पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी विकासवाद ही है जैसा कि हम पिछले अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं। परन्तु आधुनिक विकासवाद में और इस सिद्धान्त में कुछ भेद है।

आधुनिक विकासवाद ने जिसका कई अर्थों में डार्विन को पिता कहना चाहिये मनुष्य जाति की एक बड़ी सेवा की है। अर्थात् उसने पशु पक्षियों और कीट पतंगों का मनुष्यों से सम्बन्ध जोड़ दिया है। इससे पहले और कोई अब भी पुनर्जन्मवादियों से ठट्ठा किया करते थे। वह कहते थे कि क्या हम पशु थे या पशु हो सकते हैं? यह शाब्दिक घृणा अब कम हो जानी चाहिये क्योंकि डार्विन के कथनानुसार हम यदि पशु नहीं तो पशुओं की सन्तान अवश्य हैं। आजकल के वैज्ञानिक पशुओं को अपना पूर्वज कहते हुये सकुचाते नहीं। "हमारे बागों में रहने वाले पूर्वज" (Our arboreal ancestors) एक प्रचलित वाक्य हो गया है।

आधुनिक विकासवादी योनि-परिवर्त्तन की किस प्रकार व्याख्या करते हैं ? उनका कथन है कि आरम्भिक अमीवा से जिसमें केवल एक कोष्ठ (Cell) होता है भेद करते करते योनि-परिवर्त्तन (Differentiation of species) हो गया। वह किस तरह ? प्राकृतिक निर्वचन (Natural Selection) द्वारा। प्राकृतिक निर्वचन का क्या अर्थ ? इसका सब से उत्तम और सरल विवेचन ड्रमण्ड महोदय लिखित "मनुष्य का उत्थान" में मिलेगा। कल्पना कीजिये कि आप एक घर में रहते हैं। पहले आप अकेले थे, आपकी आवश्यकतायें भी कम थीं। इसलिये आपने केवल एक कमरे का ही घर बनाया। उसी में खाते, उसी में सोते। अब आपने कुछ उन्नति की। आवश्यकतायें बढ़ीं। इनके कारण आपने एक कमरे के दो कमरे कर लिये। या तो बीच में परदा दे दिया या दूसरा कमरा बना लिया। इस प्रकार दस कमरों का घर हो गया। अब आवश्यकतायें घटीं भी और बढ़ीं भी। इस प्रकार कमरों में कमी और बढ़ती होती गई। और आज सैकड़ों प्रकार के मकान दिखाई दे रहे हैं। इसी प्रकार एक कोष्ठ से आवश्यकतानुसार अनेक कोष्ठ होते गये और आवश्यकता की कमी या बढ़ती से कोष्ठों में भी न्यूनाधिक्य होते होते Combination और permutation के हिसाब से

असंख्य योनियाँ बन गईं। यह है विकासवाद की योनि-भेद की व्याख्या।

मनुष्य की रीढ़ की हड्डी से नीचे एक ऐसा स्थान है जो पूँछ की जड़ समझी जाती है। इसी स्थान पर बन्दरों के शरीर में पूँछ होती है। विकासवादी कहते हैं कि जब बन्दर बागों में रहते थे तो उनको उस पूँछ की आवश्यकता पड़ती थी। होते होते यह आवश्यकता कम हो गई। इस प्रकार छोटी पूँछ के बन्दरों की योनि बन गई। यह आवश्यकता सर्वथा नष्ट हो गई तो पूँछ बिल्कुल जाती रही। और वानर से नर हो गया। इसकी व्याख्या के लिये दो दृष्टान्त लीजिये।

कल्पना कीजिये कि मैं तमाखू पीता था। मुझे तमाखू की थैली अपने साथ रखनी पड़ती थी। उसके लिये मैंने अपने कुर्ते में एक जेब बनाई। मेरे सभी साथी उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये कुर्तों में जेब लगाने लगे। होते होते तमाखू पीना छूट गया। कुछ दिनों तो जेब प्रथा और फ़ैशन की रीति से लगती रही। फिर लोगों ने आवश्यक समझ कर बेजेब का कुर्ता बनाना आरम्भ कर दिया। यही हाल पूंछ वाले वानर और बे पूंछ वाले नर का है।

कल्पना कीजिये कि मैं मूर्ति पूजक था। मेरे घर में एक छोटा सा देवालय था जिसमें इष्ट-देव की मूर्त्ति रहा करती थी। मेरी सन्तान भी अपने घरों में एक देवालय बनाने लगी। होते होते मूर्तिपूजा छूट गई। मेरे पौत्रों ने अनावश्यक समझ कर देवालय बनाना छोड़ दिया और बिना देवालय के ही मकान बनाने लग गये। वानर की पूँछ और नर के बे पूँछ होने का यही कारण है।

परन्तु विकासवादी इस युक्ति को भौतिक सीमा तक ही ले जाते हैं, आगे नहीं बढ़ते। पुनर्जन्मवादी इसको आगे बढ़ाते हैं। वह स्थूल शरीर के वीर्य्य-कणों से आरम्भ नहीं करते। वे पीछे चलकर सूक्ष्म शरीर से आरम्भ करते हैं। यदि आवश्यकता और प्रवृति के भेद के कारण शरीर की रचना में भेद होता है तो उस स्थान से होना चाहिये जहाँ प्रवृत्तियों का कोष है। प्रवृत्तियाँ अभौतिक और सूक्ष्म हैं अतः इनका कोष भी अभौतिक और सूक्ष्म होना चाहिये। प्रवृत्तियाँ स्थूल शरीर के ज्ञान-तन्तुओं और क्रिया-तन्तुओं में होकर छनती हैं परन्तु वहाँ रह नहीं जातीं। उनका कोष तो सूक्ष्म शरीर ही है जो स्थूल-इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं। कुर्ते की तमाखू की जेब की आवश्यकता या अनावश्यकता कुर्ते को ज्ञात नहीं। वह तो पहनने वाले को ज्ञात है। जेब की

अनावश्यकता का चिह्न पहनने वाले के मस्तिष्क में मिलेगा, कुर्ते में नहीं। इसी प्रकार प्राकृतिक निर्वचन (Natural Selection) का नियम सूक्ष्म शरीर में मिलेगा क्योंकि प्रेरणा वहीं से आरंभ होगी।

आधुनिक विकासवाद की मुख्य कमी यह है कि वह केवल भौतिक विकास की व्याख्या करता है। उसको आत्म-बाद से कोई प्रयोजन नहीं। यह बात एक प्रयोजन के लिये अच्छी भी थी। अर्थात् डार्विन और उसके अनुयायी एकाग्र चित्त होकर भौतिक नियमों की परीक्षा कर सके, और उस अन्ध विश्वास से बचे रहे जो डार्विन के सहयोगी आत्म-वादियों में फैला हुआ था और जिसके कारण वह "ईश्वर जाने" की रट लगते हुये किसी परीक्षण के करने का उत्साह न लेते थे। परन्तु जब इन विकासवादियों ने जीवन की समस्त जटिल समस्या को केवल भौतिक विज्ञान के आधार पर हल करने का ठेका ले लिया तो उनकी व्याख्या अधूरी रह गई। भौतिकी और रसायन के शुष्क नियम जीवन की समस्या को हल नहीं कर सकते। यह बात हमने इस पुस्तक में कई स्थानों पर सिद्ध की है, और विकास वादियों को भी बहुत जल्द इस बात का अनुभव हो गया था। डार्विन के सहयोगी आल्फ्रेड़ रसैल वालेस ने अपनी पुस्तक "जीवन

जगत्" (The World of life) की भूमिका में स्पष्ट लिखा है:—

"........the most prominent feature of my book is that I enter into a popular, yet critical examination of those underlying fundamental problems which Darwin purposely excluded from his work as being beyond the scope of his enquiry. Such are the nature and causes of life itself; and more especially of its most fundamental and mysterious powers—growth and reproduction "

"मेरी पुस्तक की एक बड़ी विशेषता यह है कि मैंने उन मौलिक नियमों की सरल परन्तु गम्भीर परीक्षा की है जिनको डार्विन ने तो अपने परीक्षण क्षेत्र के बाहर समझ कर जान बूझ अपने ग्रन्थों में नहीं लिखा अर्थात् जीवन का स्वरूप और उसके कारण, और विशेष कर जीवन की रहस्यमय शक्तियाँ जैसे संवृद्धि और सन्तति-प्रजनन।"

वालेस ने यहाँ दो शक्तियों का उल्लेख किया है एक संवृद्धि (Growth) और दूसरी सन्तति-प्रजनन (Reproduction)। प्रत्येक प्राणी में यह दो शक्तियाँ पाई जाती हैं। ड्रमण्ड भी लिखता है कि—

" The functions discharged by all living things, plant and animal, are two in number. The first is Nutrition, the second is Reproduction. The first is the basis of the struggle for life, the second, of the struggle for the life of others. These two functions run their parallel course or spiral course, for they continuously intertwine from the very dawn of life".

(The Ascent of Man p. 17).

"क्या वनस्पति और क्या पशु सभी जीवित शरीरों के दो कर्त्तव्य हैं। पहला संवृद्धि दूसरा सन्तति-प्रजनन। पहला काम अपने जीवन के लिये परिश्रम करने का आधार है दूसरा दूसरों के जीवन के लिये परिश्रम का आधार। यह दोनों कर्त्तव्य जीवन के आरंभ से ही लगातार लिपटे हुए समानान्तर चलते हैं।" यह ठीक भी है। हम जो खाना खाते हैं। उसका अन्त में जाकर वीर्य बनता है। यह वीर्य दो काम करता है। एक तो हमारे शरीर की पुष्टि का साधन होता है, दूसरे हमारी संतति के शरीर की पुष्टि का।

यह हुई भौतिक सीमा। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इस भौतिक शरीर द्वारा दो काम जारी रहेंगे। हमारी प्रगतियाँ

और प्रवृत्तियाँ हमारा सूक्ष्म शरीर भी बनायेंगी और हमारी सन्तान के सूक्ष्म शरीर के लिये उचित और सुसंस्कृत शरीर का का भी सम्पादन करेंगी। हम घर बनाते हैं न केवल अपने लिये, न केवल अपनी सन्तान के लिये। किन्तु दोनों के लिये। आधुनिक विकासवाद पहली बात अर्थात् आत्म-विकास को छोड़ देता है और पिछली बात अर्थात् संतति-विकास को ले लेता है। वह चूंकि शरीर से इतर आत्मा को नहीं मानता इसलिये वह समझता है कि ज्योंही एक शरीर ने सन्तति प्रजनन का कार्य्य कर लिया त्यों ही उसका समस्त कर्त्तव्य पूरा हो गया। वह यह परवाह नहीं करता कि मृत्यु के पश्चात् उस शरीर के भीतर जो आत्मा है उसका क्या होगा। वह इस समस्या को हल करने का यत्न नहीं करता कि हमारा जीवन न केवल सन्तति के लिये है। किन्तु आत्म-विकास के लिये भी। इस लिये उसका दृष्टि-कोण अन्त तक ऐकान्तिक अर्थात् इकतरफा रहता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इन दोनों पक्षों पर भलीभाँति विचार करता है और उसका पूरा हल पेश करता है। इसमें शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास का समावेश है। पुनर्जन्मवादी जानते हैं कि शरीर से शरीर उत्पन्न होता है, शरीर से आत्मा उत्पन्न नहीं होता। इसलिये मेरा शरीर

मेरी सन्तान के लिये शरीर की सामग्री ही सम्पादित कर सकता है परन्तु मेरी सन्तान का आत्मा नहीं बना सकता। यह आत्मा तो अपनी प्रवृत्तियों का विकास करके स्वयं ही कहीं से आयेगा। ड्रमण्डने ऊपर के उद्धरण में दो परिश्रमों या संघर्षों (Struggle) का उल्लेख किया है एक "अपने" जीवन के लिये और दूसरा "अन्यों" के जीवन के लिये। परन्तु न ड्रमण्ड ने और न अन्य विकास वादियों ने यह देखने का यत्न किया कि यह 'अन्य' हैं कौन और कहाँ रहते तथा कहाँ से आते हैं। विकासवादी समझता है कि माता ने जिस बच्चे को जन्म दिया उस बच्चे का अस्तित्व माता से पहले कहीं नहीं था। मानो शरीर तथा आत्मा दोनों उसी माता से उत्पन्न हुये। और न वह यह जानने का यत्न करता है कि बच्चे की उत्पत्ति के बाद माता का अस्तित्व रहेगा या नहीं या मरने के बाद माता रहेगी या नहीं। पुनर्जन्मवादी कहता है कि माता ने अपने शरीर से बच्चे के शरीर-मात्र को उत्पन्न किया है। बच्चे का आत्मा पहले था। उसकी प्रवृत्तियाँ पहले थीं। उन प्रवृत्तियों के विकास के लिये माता ने केवल क्षेत्र तैयार किया है। इसके अतिरिक्त माता अपने अस्तित्व को खो नहीं देती। उसका अपना आत्म-विकास भी जारी रहता है। या यों कहना चाहिये कि सन्तति प्रजनन की क्रिया भी माता

के विकास का एक अंग है। माता जब बच्चे को पालती है और उसके लिये कष्ट सहती है तो इस परोपकार और मातृ-स्नेह से माता का भी आत्म-विकास होता है। शायद यहाँ किसी को ऐसा संदेह हो कि विकासवाद के अनुसार तो हम वीर्य से शरीर का निर्माण देख सकते हैं परन्तु पुनर्जन्मवाद के अनुसार यह समझ में नहीं आता कि स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर कैसे बनेगा और सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर कैसे ? इस का उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि विकास की पुस्तक का आरंभिक पृष्ठ न तो विकासवादियों के लिये ही "हाथ में आंवले" के समान स्पष्ट दीखता है और न पुनर्जन्मवादियों के लिये। परोक्ष विषय तो परोक्ष ही है प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। हाँ हम केवल उस अवस्था से इधर प्रत्यक्ष कर सकते हैं जब अव्यक्त से व्यक्त हो जाता है। यह बात तो सभी को मान्य है कि एक सीमा के आगे विकास क्रिया के परीक्षण के कोई भौतिक साधन नहीं हैं। ड्रमण्ड का उद्धरण इस बात को स्पष्ट कर देगा:—

The emrbryo of the future man begins life, like the primitive savage, in a one-roomed hut, a single simple cell. This cell is round, and almost microscopic in size. When fully formed

it measures only one-tenth of a line in diameter, and with the naked eye can be barely discerned as a very fine point. An outer covering, transparent as glasses, surrounds this little sphere, and, in the interior, embedded in protoplasm, lies a bright globular spot. In form, in size, in composition there is no apparent difference between the human cell and that of any other mammal. The dog, the elephant, the lion, the ape, and a thousand others begin their widely different lives in a house the same as man's. At an earlier stage indeed, before it has taken on its pellucid covering, the cell has *affinities* still more astonishing. For at that remoter period the earleir forms of all living things, both plant and animal are one. It is one of the most astounding facts of modern science that the first embryonic abodes of moss, and fern and pine, of shark, and crab and coral polyp, of lizard, leopard, monkey, and man are so exactly similar *that the highest powers of mind and miscroscope fail*

to trace the smallest distinction between them. (Italics हमारे हैं)

(The Ascent of Man p. 79).

"भावी मनुष्य का गर्भ एक कोष्ठ का होता है जैसे जंगली मनुष्य का घर। यह कोष्ठ अकेला और सरल होता है। वह कोष्ठ गोल और अत्यन्त लघु होता है। पूरा बढ़ जाने पर भी उसका व्यास एक रेखा के दसवें भाग के बराबर होता है। और खाली आंख से कठिनाई से दीखता है जैसा कि एक बहुत सूक्ष्म विन्दु ! इस छोटे गोले के चारों ओर शीशे के समान पारदर्शक खोल होता है। और भीतर गर्भ में एक चमकीला गोल विन्दु होता है। आकृति, परिमाण तथा रचना में मनुष्य के कोष्ठ और किसी अन्य दूध पिलाने वाले जन्तु के कोष्ठ में कोई भेद नहीं होता। कुत्ता, हाथी, शेर, बानर, और सहस्रों ऐसे ही प्राणी जो परस्पर भिन्न भिन्न होते हैं उसी प्रकार के घर से आरंभ करते हैं जैसे मनुष्य। इससे भी पहली अवस्था में जब तक कि इसका यह खोल नहीं बनता, इस कोष्ठ में और भी अधिक आश्चर्य जनक प्रवृत्तियां होती है। क्योंकि उस दूरस्थ युग में वनस्पति और पशु दोनों का जीवन एक सा होता है। आधुनिक विज्ञान की सबसे आश्चर्यजनक खोज यह है कि मौस, फर्न, चीड़ आदि वनस्पतियों के और मच्छ, केकड़ा

और मूँगों के तथा चीता, बन्दर और आदमी के गर्भ की आरम्भिक अवस्थायें इतनी समान होती हैं कि मस्तिष्क और अन्वीक्षण यंत्र की महान् से महान् शक्तियाँ उनमें थोड़ा सा भेद भी नहीं निकाल सकतीं"।

प्रश्न यह है कि इतने समान कोष्ठों से आगे चलकर भिन्नता क्यों कर उत्पन्न हो जाती है। साधारणतया किसी से कहा जाय कि केकड़े के डिम्ब और उस डिम्ब में जिसने हर्बर्ट स्पेंसर या डार्विन को उत्पन्न किया कोई भेद नहीं है तो उसे विश्वास न होगा। क्योंकि प्रथम तो हर्बर्ट स्पेंसर के मस्तिष्क और साधारण मनुष्य के मस्तिष्क में बड़ा अन्तर है। फिर मनुष्य और केकड़े में तो कोई समानता ही नहीं है। परन्तु वस्तुतः उन कोष्ठों में सभी भिन्नतायें उपस्थित थीं। केवल इन्द्रिय-गोचर या यंत्र-गोचर न थीं। यदि भिन्नतायें न होतीं तो पीछे से कैसे उत्पन्न हो जातीं?

गर्भ-कोष्ठों की यह भिन्नतायें आईं कहाँ से? विकास-वाद कहेगा "माता पिता से"। परन्तु इतना पर्याप्त नहीं है। बहुत सी बातें हैं जो माता पिता से नहीं आतीं। माता पिता केवल क्षेत्र का काम करते हैं। किसी खेत में दो आम बो दिये जायँ। एक कुछ खट्टा हो। एक मीठा। तो आप यही कहेंगे कि खेत तो एक ही था। गुठलियों में भेद होगा।

इसी प्रकार जब कभी सन्तान में माता पिता से कुछ भेद हो जाता है, तो विकासवादी सहस्रों पीढ़ियों पहले की कल्पित पाशविक श्रेणियों (Hypothetical animal ancestory) की खोज करने लगते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन प्रवृत्तियाँ कभी कभी जाग्रत हो जाती हैं। परन्तु उनके पास इसका कोई समाधान नहीं है कि यह कैसे होता है। इसका समाधान तो पुनर्जन्मवाद के ही पास है। क्योंकि वह इतनी दूर न जाकर इससे ठीक पहली अवस्था से ही उसका समाधान कर देता है।

इसका एक उदाहरण लीजिये। कुछ ऐसे बच्चे पाये गये हैं जिनके थोड़ी सी पूंछ थी। पहली मार्च १८८९ के ला नैचरलिष्ट (La Naturalist) पत्र में एक १२ वर्ष के लड़के का फोटो दिया था। इसके दस इंच लम्बी पूंछ बताई जाती है। कहते हैं कि आज तक इतनी बड़ी पूंछ का कोई मनुष्य पाया नहीं गया। यह पूंछ कहाँ से आई। उसके पिता माता में या उनकी सैकड़ों पीढ़ियों पहले पूंछ का चिह्न नहीं मिलता। विकासवादियों का कहना है कि मनुष्य की उत्पत्ति बन्दर से है। यह बन्दर की पूंछ है जो अब तक अव्यक्त थी किसी कारण व्यक्त हो गई। यदि सूक्ष्म शरीर का सिद्धान्त न मानें तो प्रश्न होगा कि यह कहाँ अव्यक्त थी। वह कौन सा कोष था जहाँ

यह प्रकृति जमा थी। आवश्यकता और प्राकृतिक निर्वचन (Natural selection) तो काम कर चुके और उन्होंने पूंछ को अनावश्यक समझ कर त्याग दिया। अब यह कहाँ से आगई? पुनर्जन्मवादी इस घटना का इस प्रकार समाधान करेगा कि सम्भव है यह बच्चा पहले जन्म में बन्दर रहा होगा। और उसमें पूंछ का प्रयोग करने की प्रवृत्ति इतनी तीव्र हो कि सूक्ष्म शरीर की वासनाओं ने विकास के समय पूंछ की आकृति का कुछ अंग बना दिया हो। यह बात साधारणतया तो होती नहीं। अरबों मनुष्यों में शायद एक ऐसा उदाहरण मिल जाता है।

यदि वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण बदल जाय तो बहुत से ऐसे अन्वेषण हो सकते हैं जिनसे इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड़ सके।

छब्बीसवाँ अध्याय

एक शरीर में अनेक आत्मा

बहुधा यह प्रश्न किया जाता है कि क्या एक शरीर में कई आत्मा रह सकते है ? आजकल पाश्चात्य देशों में आत्मवाद या स्प्रिीच्यूलिज़्म नामक एक संप्रदाय चल पड़ा है जो भूत, जिन, परी, देवता आदि भिन्न भिन्न प्रकार के आत्माओं के विचित्र कृत्यों का उल्लेख तथा व्याख्यान करता है। इनका वास्तविक स्वरूप क्या है यह कहना कठिन है।

यदि प्रश्न को कुछ बदल दिया जाय और यह पूछा जाय कि एक शरीर में अन्य शरीर रह सकते हैं या नहीं तो प्रश्न बड़ा सुगम और स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि बच्चों के सिर में सैकड़ों जुयें रहते हैं। शरीर के भीतर भी अनेकों कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। फिर कीटाणुओं की तो कथा ही न्यारी है। ज्वर के कीटाणु, हैजे के कीटाणु, प्लेग के कीटाणु, क्षयी रोग के कीटाणु। मनुष्य के एक शरीर में सैकड़ों आत्मा इस प्रकार रहा करते हैं जैसे एक नगर में बहुत से मनुष्य। परन्तु इस उत्तर से प्रश्न हल नहीं होता। आप कहेंगे कि इस प्रकार के आत्माओं से हमारा तात्पर्य नहीं है।

शास्त्रों में दो प्रकार के जीव माने गये हैं एक अभिमानी और दूसरे अनुशयी। अनुशयी वह हैं जो दूसरे शरीर के आश्रित रहते हैं परन्तु वह शरीर उनका शरीर नहीं होता, जैसे जूं। यदि मेरे सिर में जूं रहती है तो वह न मेरे कानों से सुन सकती है, न मेरी आंखों से देख सकती है। अभिमानी जीव वह है जिसमें और शरीर विशेष में शरीरी और शरीर का सम्बन्ध हो (देखो अध्याय १२, पृ० १३०)

प्रश्न यह है कि क्या एक शरीर में कई अभिमानी जीव रह सकते हैं।

एक महाशय कहते हैं कि यदि शरीर और जीव दो अलग अलग पदार्थ हैं तो एक शरीर में कई जीव भी रह सकते हैं जैसे एक मकान में कई मनुष्य। या एक शरीर में दो भिन्न भिन्न समयों में दो जीव रह सकते हैं।

जो लोग जीव को ज्ञान धारा (Stream of Consciousness) मात्र मानते हैं उनके लिये तो इस प्रश्न की मीमांसा की कोई आवश्यकता नहीं। उनके मत में जीव कोई स्थायी पदार्थ तो है नहीं, केवल चेतना के सिलसिले का नाम जीव है। एक चेतना जाती है और दूसरी उसके स्थान पर आ जाती है। जैसे नदी बहती है तो एक जल-विन्दु गया और झट उसके स्थान में दूसरा जल-विन्दु आ गया। यह प्रवाह जारी है

परन्तु वही जल नहीं है जो पहले बह गया। इसी प्रकार चेतना का प्रवाह है, जो निरन्तर जारी है। जब चेतनायें अलग अलग हुईं तो यह कहना कि वे एक हैं या कई कुछ अर्थ नहीं रखता।

यदि कहो कि चेतना के भिन्न भिन्न भागों में ऐक्य होना चाहिये तभी उसका नाम आत्मा होगा तो एक शरीर में अनेक आत्मायें माननी ही पड़ेंगी। जौन लैअर्ड कहते हैं:—

"If we maintain that a Self must contain a very high degree of unity, then we shall be forced to the unpleasant conclusion that multiple personality, instead of being the exception, is the rule. We are different men at different stages of life, and although the contiguous stages may show unity and continuity, the remote stages hardly do so at all."

(Problems of the Self by John Laird p. 302).

अर्थात् यदि आत्मा का यही अर्थ है कि उसमें एक उत्कृष्ट मात्रा में ऐक्य हो तो हमको इस अप्रिय परिणाम पर पहुँचना पड़ेगा कि आत्माओं की अनेकता अपवाद नहीं किन्तु साधारण नियम है। हम अपने जीवन के भिन्न भिन्न भागों में

भिन्न भिन्न होते हैं। एक दूसरे के पश्चात् आने वाली अवस्थाओं में ऐक्य और निरन्तरता होगी परन्तु जो अवस्थायें बहुत समय के पश्चात् आती हैं उनमें कोई ऐक्य नहीं होता।" परन्तु प्रश्नकर्ता इस उत्तर से संतुष्ट नहीं है। वह कहता है कि आत्माओं की इस प्रकार की अनेकता से मेरा तात्पर्य नहीं। मैं पहले बालक था अब वृद्ध हूँ तो इसमें केवल अवस्था भेद है। मैं वही हूँ जो पहले था। मुझे प्रतीत भी ऐसा ही होता है। मैं कहता हूँ कि जब मैं बालक था तब मेरे गुरू जी ने मुझे अमुक बात सिखाई थी। इससे प्रतीत होता है कि मुझे 'मैं' होने का ज्ञान है। मैं बालकपन के लिये भी 'मैं' का प्रयोग करता हूँ। सम्भव है मुझे बालकपन की स्मृति न हो परन्तु स्मृति से कुछ नहीं। मुझे अपनी बहुत सी पिछली अवस्थाओं की स्मृति नहीं परन्तु मैं उनके होने में सन्देह नहीं करता। मैं मानता हूँ कि मैं वही हूँ। यह मेरी ही अवस्था थी। लैअर्ड कहते हैं :—

A self might be a self without any explicit memory.

(p. 280.)

"बिना स्मृति के भी आत्मा हो सकता है"।

परन्तु

Does not logically imply that it is possible for a self to exist in the absence of *any* memory, (p. 280.)

"स्मृति का अभाव आत्मा के अस्तित्व की अच्छी युक्ति नहीं है"।

तात्पर्य यह है कि स्मृति के अभाव से अपने अस्तित्व के भाव और अभाव दोनों का ही प्रमाण मिलता है। इसलिये स्मृति के प्रश्न को उठाना नहीं चाहिये।

साधारणतया तो एक शरीर में एक ही आत्मा होता है। सब यही मानते हैं। जब कचहरी में एक मनुष्य के अंगूठे का निशान उसके अंगूठे से मिल जाता है तो यही निश्चय होता है कि इस काग़ज़ को तुम्हीं ने लिखा है क्योंकि तुम्हारे ही अंगूठे का निशान है। यदि वह कहे कि अंगूठा तो वही है परन्तु जिस समय अंगूठे का निशान बनाया गया था उस समय इस शरीर में मैं नहीं रहता था कोई और आत्मा रहता होगा उसी ने यह रुपया उधार लिया होगा। तो न्यायाधीश कभी इस युक्ति को स्वीकार न करेगा। वृद्धा मा अपने पुत्र के मुख की आकृति को देख कर दीर्घ काल के पश्चात् भी पहचान लेती है कि यह मेरा ही बच्चा है। कभी

कभी कभी मुख की आकृति बदल जाने पर भी कुछ न कुछ समानता देख कर पहचान लेती है। यदि प्रायः ऐसा नियम हो जाय कि एक शरीर में अनेक आत्मायें रहने लगें या वे अपने शरीरों को उसी प्रकार बदला करें जैसे लोग अपने किराये के मकानों को बदला करते हैं तो जगत् के व्यवहार में उथल पुथल हो जाय, और संसार का कोई काम न चले। जब हम किसी को देखें तो पहले उससे पूछें "क्यों जी, क्या प्रमाण है कि तुम वही हो जो पहले थे"? स्कूलों में अध्यापक लोग लड़कों की हाजिरी ले लिया करते हैं। यदि शरीरों में आत्म-परिवर्तन हुआ करें तो केवल हाजिरी लेना पर्य्याप्त न हो। और न जानें क्या करना पड़ जाय।

सौभाग्य की बात है कि ऐसा नहीं होता। सब लोग इसी बात पर विश्वास करते हैं कि एक शरीर में एक ही आत्मा रहता है।

परन्तु कुछ जादूगर, कुछ डाक्टर, कुछ स्प्रीच्युलिष्ट, कुछ दार्शनिक, तथा कुछ वे लोग जो ओझा या स्याने का काम करते हैं यह कहते हैं कि कभी कभी एक शरीर में दूसरे आत्मा भी आ जाते हैं। जैसे कोई मनुष्य मर गया, वह दूसरे मनुष्य के सिर आ जाता है, और कहता है कि मुझे अमुक प्रकार से संतुष्ट कर दो, नहीं तो मैं इस पुरुष को नष्ट कर दूँगा। जब

ओझा कुछ कृत्य कर देता है तो वह दूसरा आत्मा उस शरीर को छोड़ कर भाग जाता है और वह मनुष्य जिसके सिर यह आत्मा आया था चंगा हो जाता है। गांवों में ऐसे दृश्य नित्य ही हुआ करते हैं। किसी को ज्वर आया या आँखों में दर्द हुआ या और कोई रोग हुआ तो झट स्याने लोग कह देते हैं कि इस पर अमुक पुरुष या अमुक देव आगया है और इसका प्रतीकार इस प्रकार होगा। नगरों में जहाँ डाक्टरों का इलाज करने की प्रथा अधिक है इस प्रकार की घटनायें कम होगई हैं। मुझे स्वयं अपने परिवार का अनुभव है। मेरे बाल्यकाल में कोई न कोई घटना मेरे घर में हुआ ही करती थी और गांव का एक काछी जो स्यानं का काम करता था नित्य कुछ न कुछ बताया करता था। परन्तु अब प्राय: तीस वर्ष से अधिक समय हो गया, मेरे परिवार के किसी व्यक्ति के शरीर में किसी अन्य आत्मा ने आने का कष्ट नहीं उठाया। यह क्यों? इसका उत्तर क्या दिया जाय? मुझे ऐसे ही बीसियों अन्य परिवारों का ज्ञान है।

परन्तु कुछ डाक्टरों का स्वयं अनुभव ऐसा है। सम्भव है कि जादूगरों और स्यानों की चालाकी रही हो। परन्तु जब विश्वसनीय डाक्टरों ने भली भांति परीक्षा करके देख लिया कि यह वही आत्मा नहीं है जो पहले था तो एक शरीर में

कई आत्माओं का आना मानना ही पड़ेगा। हम नीचे कुछ उदाहरण देते हैं।

(१) एक लड़की मिस बोचैम्प (Miss Beauchamp) की परिक्षा डाक्टर मौर्टन प्रिंस (Dr. Morton Prince) ने की थी। इस लड़की की दशा कभी कभी विचित्र हो जाती थी। या यों कहना चाहिये कि उस शरीरमें से बोचैम्प चली जाती थी और सैली (Sally) आजाती थी। यह सैली परिवार वालों को बहुत तंग करती थी। और कई ऐसी ही बातें कर बैठती या पत्र लिख देती थी जिनकी आशा मिस बोचैम्प से नहीं की जा सकती थी। जब सैली शरीर छोड़ कर चली जाती और बोचैम्प आजाती तो उसका व्यवहार पूर्ववत् हो जाता। यदि उससे पूछा जाता कि तुमने अमुक कार्य्य किया या अमुक पत्र लिखा तो वह कहती, मैंने नहीं किया।

(२) रेवरेंड एन्सिल बोर्न (Rev. Ansel Bourne) नाम का एक ईसाई प्रचारक था। वह अपने पूर्व अस्तित्व को सर्वथा भूल गया और ए० जे० ब्रौन (A. J. Brown) के नाम से एक हलवाई की दुकान पर नौकरी करने लगा। कुछ दिनों पश्चात् वह फिर रेवरेंड बोर्न बन गया और प्रचारक का काम करने लगा। उस समय उसको हलवाई के दुकान

पर काम करने की कोई घटना याद न रही। इससे प्रतीत होता है कि ब्रौन का दूसरा आत्मा था।

पीरी लैम्बर्ट (Pere Lambert) नामक एक सिपाही आस्टरलिट्ज़ के युद्ध में घायल हो गया। उसका विश्वास हो गया कि मैं मर गया हूँ। जब कोई उससे पूछता कि "तुम कैसे हो ?" तो उत्तर देता "क्या तुम पीरी लैम्बर्ट का हाल पूछते हो ? वह तो मर गया। उसके गोला लगा गया था। वह अब नहीं है। यह उसी के समान एक दूसरी कल है।"

इसके अतिरिक्त कहानियों तथा उपन्यासों में तो अनेक ऐसे उदाहरण आते हैं जिनमें शरीर परिवर्तन या आत्म-परिवर्तन का उल्लेख है।

यहाँ दो प्रश्न हैं। एक तो यह कि जिन्होंने इन घटनाओं का निरीक्षण किया है उनसे कोई भूल तो नहीं हो गई। क्योंकि जिसको एक गाँव का स्याना 'मृत आत्मा का सिर आना' बताता है उसी को डाक्टर या वैद्य रोग बताते हैं। यहाँ लैम्बर्ट का जो उदाहरण दिया गया है उससे तो दूसरे आत्मा का पता नहीं लगता। यदि दूसरा आत्मा होता तो यह क्यों कहता है कि लैम्बर्ट नहीं है। वह तो मर गया। प्रतीत होता है कि घायल होते समय उसके मस्तिष्क में कोई विकार हो गया और इस कारण उसे ऐसा विश्वास हो गया

कि मैं मर गया। लोग स्वप्न में बहुधा अपना सिर कटा देखते हैं। कोई अपने सिर को कटा देख नहीं सकता। परन्तु दूसरों के कटे हुये सिर में अपने सिर की कल्पना हो सकती है।

दूसरी बात यह है कि कभी कभी हमारी अवस्था ऐसी परिवर्तित हो जाती है कि पुरानी बातें बिल्कुल भूल जाते हैं या जो बातें बहुत दिनों से भूले हुये थे वह फिर याद आजाती हैं। इससे आत्म-परिवर्तन तो सिद्ध नहीं होता! प्रश्न यह है कि जिनको दो आत्मायें कहा जाता है उनमें कुछ सादृश्य भी है। या नहीं। जैसे जब मिस बोचैम्प सैली बन गई तो क्या उसके हस्ताक्षर एक से थे, क्या उसकी आवाज़ एक सी थी। क्या उसकी चाल ढाल एक सी थी। रेवरेंड बोर्न और ब्रौन की तो इन सब बातों की परीक्षा की नहीं गई। ईश्वर जाने इस सब में क्या रहस्य हो या मस्तिष्क में ही कोई ऐसा विकार हो गया हो जिससे स्मृतियाँ सर्वथा लुप्त हो गई हों। परन्तु मिस बोचैम्प की परीक्षा करने में भी बहुत सी बातें छूट सकती हैं। यह परीक्षायें अधिकतर परीक्षकों के दृष्टि कोण या उनकी प्रवृत्तियों के आश्रित होती हैं और कई परिस्थितियों में पर्य्याप्त रूप से परीक्षण भी संभव नहीं होता। कहीं कहीं अत्युक्ति भी हो जाती है।

यदि एक व्यक्ति उसी प्रकार चलता है जैसे पहले चलता था। उसी ध्वनि से बोलता है जैसे पहले बोलता था। उसी प्रकार के अक्षर बनाता है जैसे पहले बनाता था तो कैसे माना जा सकता है कि आत्म-परिवर्तन हो गया। यदि आप मेरी क़लम से लिखें तो उसी प्रकार का न लिखेंगे जैसा मैं लिखता हूँ। यदि आप मेरी ज़बान से बोलें तो उसी प्रकार से न बोलेंगे। बोलना या लिखना केवल शारीरिक कार्य्य नहीं है। यह मास्तिष्किक और मानसिक भी है। मैंने इसे अभ्यास करके सीखा है। यह अभ्यास मेरा अभ्यास है दूसरे का अभ्यास नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त किसी आत्मा का इस प्रकार शरीर में आना संभव भी नहीं है। शरीर और शरीरी का वही सम्बन्ध नहीं है जो मकान और मकान वाले का है। हम कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का वर्णन करते हुये बता चुके हैं कि किस प्रकार सूक्ष्म शरीर का विकास होकर स्थूल शरीर बनता है और किस प्रकार स्थूल शरीर छोड़ कर आत्मा सूक्ष्म शरीर द्वारा दूसरे शरीर में चला जाता है। यदि स्थूल शरीर एक सन्दूक़ होता जिसके भीतर बिना विशेष सम्बन्ध के सूक्ष्म शरीर रह सकता तो यह बात ठीक भी थी। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का ऐसा सम्बन्ध है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म के बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता। स्वप्न और सुषुप्ति

में भी जीवन का व्यापार जारी रहता है। फिर कैसे संभव है कि एक आत्मा कहीं चला जाय और दूसरा आजाय? फिर प्रश्न यह है कि जब मिस बोचैम्प के शरीर में सैली आ गई तो बोचैम्प कहाँ चली गई। माना कि उसको इस शरीर के व्यापार की याद नहीं रही। क्या दूसरे स्थान की भी याद नहीं? यह योनि-परिवर्तन तो था ही नहीं। एक सन्दूक़ में दो छोटे सन्दूक़ तो रक्खे जा सकते हैं परन्तु एक स्थूल शरीर में उसी प्रकार दो सूक्ष्म शरीर नहीं रह सकते क्योंकि जिस प्रकार एक ही हृदय का समस्त शरीर के साथ भौतिक सम्बन्ध है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर का भी समस्त तन्तु संस्थान के साथ सूक्ष्म सम्बन्ध है। क्या कोई कह सकता है कि अमुक शरीर में दो हृदय हैं? क्या यह संभव बात है? इसी प्रकार क्या एक शरीर में दो मस्तिष्क भी हो सकते हैं?

रही मृत आत्मा बुलाने की बात! यह भी संभव प्रतीत नहीं होती। क्या मृत आत्मा इधर उधर ख़ाली फिरते रहते हैं कि जब चाहे किसी के शरीर में प्रवेश कर जायँ? और वह शरीर में प्रवेश ही कैसे कर सकते हैं? शरीर में प्रवेश करने का अर्थ ही क्या है? हम फिर उसी बात को दुहराते हैं कि यदि शरीर और शरीरी के वास्तविक सम्बन्ध पर पूर्ण रीति से विचार किया जाय तो इस प्रकार के प्रश्न उठ ही नहीं

सकते। इस सम्बन्ध को यथार्थ न समझकर ही लोगों ने भिन्न भिन्न कल्पनायें की हैं; जैसे:—

(१) कुछ लोगों ने समझा कि मनुष्य जब सो जाता है तो जीवात्मा शरीर को छोड़कर सैर करने चला जाता है। इस आधार पर बीसियों मनोरंजक कहानियाँ गढ़ ली गईं, जो आधुनिक और प्राचीन साहित्य में प्रचलित हो गईं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का पूर्ण विवेचन ऐसी कल्पना के लिये कोई आधार नहीं छोड़ता। क्योंकि यदि मैं सोने के समय कलकत्ते चला जाऊं और मेरा शरीर प्रयाग में पड़ा रहे तो लकलकाने से मैं कैसे जाग पड़ूंगा? क्या कोई ऐसा सूक्ष्म तन्तु है जो मुझे शरीर के साथ बांधे हुए है? फिर प्राण तो चलता ही रहता है। सुषुप्ति में जो आनन्द होता है वह भी तो मुझी को होता है। दूसरी बात यह है कि यदि स्वप्न में शरीर अन्यत्र चला जाता तो वहाँ की वर्त्तमान अज्ञात बातों को भी जान लेता। कल्पना कीजिये कि मैंने २५ वर्ष पूर्व बम्बई देखी थी। उस समय की बम्बई में और आज की बम्बई में बहुत भेद हो गया होगा। अगर मैं आज स्वप्न में बम्बई जाऊँ तो उसी बम्बई में जाऊंगा जो २५ वर्ष पहले थी न कि आज की बम्बई में। इससे स्पष्ट है कि स्वप्न में जीव शरीर से बाहर नहीं जाता किन्तु

वासनाओं के जगत् में विचरता है। इसका अधिक विवरण पिछले अध्यायों में आ चुका है।

(२) कुछ लोग प्लेंचिट में रूह बुलाते हैं और अनेक संकेतों द्वारा प्रश्नों के उत्तर पूछते हैं। यह बात भी हमारी समझ में नहीं आती, क्योंकि मेज़ या अन्य साधन कभी शरीर का काम नहीं कर सकते। यहाँ दूसरे के शरीर में प्रवेश का प्रश्न नहीं किन्तु एक जड़ वस्तु में प्रवेश का प्रश्न है। मेज़, कुर्सी आदि कभी स्थूल शरीर का काम नहीं दे सकते! देंगे भी कैसे? फिर तो सजीव और निर्जीव में कुछ भेद ही न रहेगा। दूसरे, इस बात का भी तो उत्तर होना चाहिये कि हमारा रूहों पर क्या स्वत्व है कि जब कहीं चार यार मेज़ के चारों ओर बैठ गये और रूहें हमारे इशारे पर नाचने लगीं।

(३) कुछ लोग भूत, चुड़ेल आदि को योनि-विशेष मानते हैं। जैसे मनुष्य, गाय, बैल आदि की योनियाँ हैं। परन्तु योनि का क्या अर्थ? सूक्ष्म शरीर, या स्थूल शरीर। यदि कहो सूक्ष्म शरीर तो क्या सूक्ष्म शरीर बिना स्थूल शरीर के रह सकता है? क्या केवल सूक्ष्म शरीर को ही योनि कह सकते हैं? फिर यदि यह सूक्ष्म शरीर है तो स्थूल-शरीरवत् काम कैसे करेगा? और स्थूल शरीर में कैसे प्रकट होगा? साधारण जनता में तो ऐसे भ्रम फैले हुये हैं कि भूतों के

उलटे पैर होते हैं। भूत विशालकाय होते हैं। भूत दूसरों पर आग या पत्थर फेंकते हैं इत्यादि। इन कल्पनाओं ने व्यर्थ ही मनुष्य-जाति में भय उत्पन्न कर रक्खा है। सैकड़ों धोखेबाज लोग दूसरों को लूटते हैं और बहुत से भय के मारे मर भी जाते हैं। कुछ लोगों ने कल्पना कर रक्खी है कि यह योनियां जो शरीर चाहें धारण कर सकती हैं और जहां पत्थर न हों वहाँ पत्थर बना सकती हैं या जहां आग न हों वहां आग उत्पन्न कर सकती हैं। वे कहते हैं कि वहाँ आग या पत्थर न हो परन्तु वह परमाणु तो हैं जिनसे आग या पत्थर बना सकते हैं। उनकी धारणा है कि यह योनियां ऐसी शक्ति रखती हैं जिनसे शीघ्र ही पत्थर आग आदि बन सकें। यह बात भी हमारी समझ में नहीं आती। सृष्टि में परमात्मा परमाणुओं द्वारा पत्थर, आग, सेब, जामन आदि बनाया करता है। उसके लिये नियत काल और नियत विधि की आवश्यकता है। कल्पना कीजिये कि खेत में सेब के परमाणु विद्यमान हैं। परन्तु यदि आप चाहें कि वे सब परमाणु दो मिनिट में इकट्ठे होकर सेब का रूप धारण करलें तो नहीं हो सकता। बीज बोने से लेकर फल लगाने तक विशेष समय और विशेष रीति चाहिये। यह तो हुई दैवी शक्ति की बात! अब आप कहते हैं कि भूत या योनि विशेष जिन, परी आदि उन परमाणुओं से

तुरन्त ही सेव बना सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस कामको परमात्मा चार वर्ष में कर सकता था उसको जिन और परी एक क्षण में ही कर सकते हैं। भला यह कैसे हो सकता है? वस्तुयें अपनी प्रकृति कैसे त्याग सकती हैं? इसी प्रकार विशाल काय शरीर कैसे लुप्त हो सकता है? या सूक्ष्म शरीर शीघ्र ही कैसे विशालकाय बन सकता है?

(४) कुछ लोग सूक्ष्म शरीरों का फ़ोटो भी लेते हैं। अमेरिका आदि में ऐसे खेल बहुत होते हैं। और कुछ लोगों को इनकी वास्तविकता पर भी संदेह हो गया है। कुछ ने इन चालाकियों को पकड़ा भी है। मोटा प्रश्न यह है कि फोटो के लिये तो स्थूल प्रकाश चाहिये। सूक्ष्म शरीर तसवीर का विषय तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार की बहुत सी सन्देहात्मक बातें हैं जिन्होंने लोगों को चक्कर में डाल रक्खा है और चालाक लोगों को धोखा देकर रोटी कमाने का अवसर दे दिया है।

कुछ शिक्षित पुरुष बाल की खाल निकाल कर इनकी वैज्ञानिक रूप से व्याख्या करने लगे हैं। परन्तु वह वास्तविक वैज्ञानिक रूप हैही नहीं। या यों कहना चाहिये कि रूप वैज्ञानिक है परन्तु तत्व वैज्ञानिक नहीं। इस प्रकार की वैज्ञानिक भूल भूलय्याँ हमको किसी तत्व की ओर नहीं ले जा सकतीं।

सत्ताइसवां अध्याय

पुनर्जन्म मुक्ति का साधन है।

जन्मों को बन्धन कहते हैं। इसलिये जन्म मुक्ति का साधन कैसे ? यदि जन्म मुक्ति के साधन नहीं तो इनका प्रयोजन क्या ? जन्म होते ही क्यों हैं ? सृष्टि और जीवन दोनों का एक प्रयोजन है। यह प्रयोजन क्या है ? सब से उत्कृष्ट प्रयोजन यही हो सकता है कि जीव का पूर्ण विकास हो। पूर्ण विकास का ही नाम मुक्ति है। अन्य समस्त व्यापार इसी अन्तिम उद्देश्य के साधन रूप हैं।

हम बता चुके हैं कि मुक्ति रूपी शिखिर पर चढ़ने के लिये कोई सीधा रास्ता नहीं है। यह रास्ता चक्करदार है और यह योनियाँ उसी चक्करदार मार्ग के भिन्न भिन्न भाग हैं। प्रत्येक योनि में जीव का कुछ न कुछ विकास हो जाता है।

कल्पना कीजिये कि मुक्ति एक ऐसा स्थान है जहाँ जाने के लिये कुछ विशेष वस्तुओं की आवश्यकता है। साथ ही यह भी आवश्यकता है कि कुछ वस्तुयें न हों। आप इस स्थान पर पहुँचना चाहते हैं। आप के पास कई ऐसी चीजें हैं जिनको

लेकर आप वहाँ नहीं जा सकते और कई ऐसी चीज़ें जिनका होना ज़रूरी है नहीं हैं। इस प्रकार आपको कुछ खोना है और कुछ लेना है। जो चीज़ें आप के पास हैं वह आप से ऐसी चिपटी हुई हैं कि आप उनको सुगमता से फेंक नहीं सकते। यह भिन्न भिन्न योनियाँ क्या करती हैं? आप चलते हैं और हर एक योनि में कुछ अनिष्ट चीज़ों को फेंक देते हैं और इष्ट को वहाँ से ले लेते हैं। इस प्रकार चढ़ते चढ़ते एक दिन उन सब इष्ट चीज़ों से सम्पन्न हो जाते हैं जिनकी मुक्ति के लिये आवश्यकता थी और उन सब चीज़ों से मुक्त हो जाते हैं जो मुक्ति तक पहुँचने नहीं दे रही थीं।

भौतिक विकास में क्या होता है? चलिये किसी विकास वादी से पूछें।—ड्रमंड महोदय लिखते हैं कि:—

"The degeneration and extinction of the unfit are as infallibey brought about by natural laws as the survival of the fit. Evolution is by no means synonymous with un-interrupted progress, but at every turn means relapse, extinction, and decay."

(The Ascent of Man p. 176).

"प्राकृतिक नियमों के द्वारा अयोग्यों की अवनति तथा विनाश उसी प्रकार होता रहता है जैसे योग्यों का संरक्षण। विकास निरन्तर उन्नति का पर्यायवाची नहीं है। इसकी हर एक मोड़ का अर्थ है पुनरावृत्ति, नाश और क्षय"।

इसका तात्पर्य यह है कि प्राणियों की जीवन-यात्रा में जो मोड़ें आती हैं उनमें कुछ की वृद्धि और कुछ का क्षय हुआ करता है। कुछ का किसका? यहाँ "कुछ" का क्या अर्थ? क्या केवल शरीर के अवयवों का? क्या केवल इतना ही कि गल-फ़ोड़ों का क्षय हो गया और फेंफड़े आ गये, पूंछ का लोप हो गया और ज्ञान तन्तुओं का आगम हो गया? यदि यह क्षय और वृद्धि केवल शारीरिक अवयवों की होती तो किसको योग्य और किसको अयोग्य कहते? योग्यता की भी तो माप होनी चाहिये। परन्तु नहीं। यह क्षय और वृद्धि केवल शारीरिक अवयवों की नहीं है। शारीरिक अवयव तो साधन मात्र हैं। यह और इनकी क्रियायें प्रवृत्तियाँ बनाती हैं। भिन्न भिन्न योनियों में भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों का क्षय और आगम हुआ करता है। यह योनियाँ दो रूप से काम करती हैं एक जातीय रूप से और एक व्यक्ति-गत रूप से। जातीय रूप परिस्थिति बनाता है और व्यक्ति उसका प्रयोग करते हैं। एक जाति के समस्त व्यक्ति एक से नहीं होते। परन्तु उस जाति भर की कुछ प्रवृत्तियाँ

सामान्य होती हैं। उसकी एक नियत परिस्थिति होती है। उस जाति के भिन्न भिन्न व्यक्ति उसी परिस्थिति के भीतर परिश्रम करते हैं। उस परिश्रम का फल यह होता है कि उनकी कुछ अनिष्ट प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और कुछ इष्ट आ जाती हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि इसमें जातित्व और व्यक्तित्व दोनों का नियत मात्रा में भाग है। प्रकृति ने ऐसा नियम किया है कि आपको कार्य्य-क्षेत्र भी मिल जाय और उसके भीतर काम करने की स्वतंत्रता भी रहे। यदि स्वतंत्रता न रहती तो व्यक्तित्व नष्ट होता और विकास में बाधा पड़ती। यदि परिस्थिति नियत न होती तो आप असहाय होते। प्रकृति के नियमों की यह दयालुता है कि आपको दोनों सुविधायें हैं अर्थात् कार्य्य-क्षेत्र भी है और आपको अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये भी अवसर है।

इसका एक दृष्टान्त लीजिये। कल्पना कीजिये कि किसी का पुत्र शराबी हो गया और पढ़ता नहीं। पिता चाहता है कि पढ़ने की आदत आ जाय और शराब की आदत छूट जाय। वह उसको ऐसी परिस्थिति में रख देता है जहाँ शराब मिलती तो है परन्तु बड़ी कठिनाई से और खेल के रूप पठन पाठन के कुछ साधन भी उपस्थित हैं। पुत्र से कुछ न कहा गया। उसको ऐसी परिस्थिति में रख दिया गया। लोग उसे शराब देने को तैय्यार

हैं परन्तु एक गिलास और वह भी तब जब कि वह आठ घण्टा मज़दूरी करे। अब लड़का क्या करेगा? उसके लिये दो मार्ग खुले हैं। एक तो यह कि शराब से घृणा हो जाय और पढ़ने में रुचि हो जाय। एक यह दुराग्रह के कारण न तो परिश्रम करे और न पढ़ने में जी लगावे। यदि पहली अवस्था हुई तो उस पुत्र के बहुत से अवगुणों का क्षय और गुणों की वृद्धि होने लगेगी और पिता को आवश्यक होगा कि वह उसे अब किसी दूसरी परिस्थिति में रख दे जहाँ शराब का नाम न हो और पठन पाठन का अधिक सुभीता हो। इस प्रकार तीन चार परिस्थितियाँ बदल कर अनिष्ट प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाँयगी और इष्ट प्रवृत्तियाँ आजायँगी। यदि दूसरी अवस्था हुई तो सम्भव है कि उसी परिस्थिति को कुछ अधिक कड़ा कर दिया जाय या उससे भी अधिक उपयोगी परिस्थिति बना दी जाय।

हम देखते हैं कि शेर बड़ा हिंसक पशु है। वह पिछले जन्म में हिंसक प्रवृत्तियों को बढ़ाता रहा होगा। उसकी प्रवृत्तियाँ इतनी कठोर हो गई होंगी कि उसके सूक्ष्म शरीर ने इस जन्म में भी हिंसा के उपकरण प्राप्त कर लिये। परन्तु उन उपकरणों का प्रयोग करने के लिये बहुत कम साधन हैं। जिन पशुओं को वह अपना आहार समझता है वह उसके पास नहीं आते।

उसकी गँध पाते ही मीलों दूर भाग जाते हैं। शेर जंगल का राजा कहलाता है परन्तु उसे कई कई दिन बिना भोजन के हो जाते हैं। इधर तो प्रकृति ने उसे ऐसे साधन दिये कि कोई उसके पंजे से बच न सके उधर ऐसी बाधायें डालीं कि कोमलसे कोमल स्वभाव के जन्तु को भोजन मिल जाय और उसे न मिले। इससे अवश्य ही उसको अपने क्रूर साधनों के प्रयोग का कम अवसर मिलता है और अवश्य ही अदृष्ट रूप से उसकी प्रवृत्तियों में कमी होती होगी। यह एक उदाहरण मात्र है। सब योनियों के आन्तरिक जीवन और उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियों को जांचने के लिये हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। इसलिये विस्तार से हर एक बात की मीमांसा नहीं की जा सकती। वैज्ञानिकों ने प्रत्येक योनि की उपयोगिता के विषय में इसी प्रकार की धारणायें प्रकाशित की हैं। और समास रूप से तो वे ठीक ही हैं। प्रवृत्तियों की संख्या इतनी है कि अमुक योनि में क्या होता है यह कहना कठिन है। जब हम अपने ही घर में साथ रहने वाले भाई की आन्तरिक प्रवृत्तियों की विस्तृत-मीमांसा नहीं कर सकते तो असंख्य योनियों के असंख्य व्यक्तियों के विषय में क्या कह सकते हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समस्त सृष्टि-संगठन है इसी प्रकार का और उसका उद्देश्य जीव-सुधार है।

कुछ लोग समझते हैं कि जब भिन्न भिन्न योनियों का उद्देश्य जीव-सुधार है तो जीव सदा उन्नत ही हुआ करेगा। जैसे स्कूल पढ़ाने के लिये हैं। इसलिये यदि एक विद्यार्थी छठे दर्जे से सातवें में चढ़ गया तो फिर नीचे नहीं उतर सकता। संभव है कि आठवें में जाय, संभव है सातवें में ही रह जाय। इनकी धारणा ऐसी है कि जीव ऊपर की योनियों में तो जाता है नीचे की योनि में नहीं। मुक्ति की चोटी पर चढ़ने के लिये जितनी यात्रा हो चुकी वह हो चुकी। नीचे न उतरेगा। परन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं न वैदिक सिद्धान्त ही इसकी पुष्टि करते हैं। हमारा ऐसा अनुमान है कि लोगों की यह धारणा दृष्टांत को सर्वाङ्ग में लेने के कारण हो गई, उन्होंने प्रकृति-दत्त परिस्थिति को ही सब कुछ समझा। उन्नति और विकास में व्यक्ति की व्यक्ति-गत स्वतंत्रता का कितना भाग है इस पर विचार नहीं किया। यह सच है कि स्कूल विद्योन्नति के लिये हैं परन्तु इस उन्नति करने में विद्यार्थी परवश नहीं है, और उसको स्वतंत्रता है। वह ऐसे काम कर सकता है या आलस्य के कारण इतना भूल सकता है कि उसे नीचे की कक्षाओं में उतरना पड़े। हमारे स्कूलों में नीचे उतरने की प्रथा बहुत कम है। इसके दो कारण हैं। एक तो हमारे नियम प्रकृति के नियमों के समान अटूट्य नहीं हैं। उनमें लचलचीलापन बहुत

है। दूसरे भिन्न भिन्न योग्यताओं के अनुसार बहुत सी कक्षायें नहीं हैं। हमारे स्कूल के पांच सौ विद्यार्थियों को पचास वर्गों में बांटा जा सकता है परन्तु हमने मोटे मोटे आठ दस वर्ग बना लिये हैं। इसके अतिरिक्त स्कूल का दृष्टान्त तो दृष्टान्त मात्र है। सर्वांशों में घटाया नहीं जा सकता। हमने पिछले अध्यायों में जो पहाड़ की चोटी का दृष्टान्त दिया था वहां लिख दिया था कि इस दृष्टान्त की विषमता को कम करने के लिये इतना और मान लेना चाहिये कि प्रत्येक प्रमादी यात्री किसी यंत्र द्वारा साँप सीढ़ी के खेल के समान नीचे को भी गिराया जा सकता है।

इसका यह अर्थ निकला कि मनुष्य अपने खोटे कर्मों द्वारा निकृष्ट योनियों को भी प्राप्त हो सकता है। सृष्टि के व्यापार पर दृष्टि डालने से यह बात इतनी अवश्यम्-भावी प्रतीत होती है कि इसके विपरीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमको सभ्य जातियों की सभ्य परिस्थितियों के बीच में रहते हुए ऐसे मनुष्य मिलते हैं जिनमें मनुष्यों के कोई लक्षण नहीं हैं और जिनकी प्रवृत्तियाँ पशुओं की प्रवृत्तियों से भी गिरी हुई हैं। उनके आचार व्यवहारों से यह आशा करना कि उनका सूक्ष्म शरीर उन प्रवृत्तियों से प्रभावित न होता होगा कैसे सम्भव है? और जब वे अपने सूक्ष्म शरीर को इस प्रकार बना चुके तो

उस परिवर्तित सूक्ष्म शरीर से कब सम्भव है कि मनुष्य का शरीर मिल सके। उनके लिये तो यही आवश्यक है कि अपने सूक्ष्म शरीर में छिपाई हुई वासनाओं के द्वारा वह उसी प्रकार की निकृष्ट योनि को प्राप्त करें और जब तक उस योनि रूपी भट्ठी में अपनी बुरी वासनाओं को भस्म न करदें मनुष्य की योनि में न आवें।

मनुष्य की योनि में उन्नति करने के साधन बहुत हैं परन्तु साथ ही साथ स्वतन्त्रता भी बहुत है। जहां स्वतन्त्रता अधिक होगी वहाँ गिरावट की सम्भावना भी अधिक रहेगी। इसी स्वतन्त्रता के कारण मनुष्य योनि को उभय योनि (अर्थात् कर्म योनि और भोग योनि का मिश्रण) बताया गया है और शेष सब योनियों को केवल भोग योनि। भोग योनि कहने से यह तात्पर्य नहीं है कि उन निचली योनियों में व्यक्तित्व को विकसित करने के लिये बिलकुल स्वतन्त्रता है ही नहीं। हम पशुओं को बुद्धि का उपयोग करता हुआ देखते हैं। पूर्णतया परतन्त्र होने से बुद्धि का विकास बन्द होने का भय था। बुद्धि के विकास के लिये स्वतन्त्रता आवश्यक वस्तु है। जहां निर्वचन का अवसर नहीं वहाँ बुद्धि का विकास कैसा? इसलिये यह कहना कि पशु तर्क ही नहीं करते या उनमें करने न करने या उलटा करने की योग्यता ही नहीं होती, ठीक

प्रतीत नहीं होता। कुत्तों के ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें उन्होंने बड़ी बुद्धिमत्ता का प्रयोग करके स्वामी की जान और सम्पत्ति को बचाया है। ऐसी बुद्धिमत्ता साधारण मनुष्य की बुद्धिमत्ता से किसी प्रकार कम नहीं है। बिल्ली, बन्दर आदि घात में रहते हैं और बहुधा ऐसे काम करते हैं जिनसे उनको सर्वथा बुद्धि-शून्य नहीं कह सकते।

हम ऊपर बता चुके हैं कि अनिष्ट प्रवृत्तियों के लोप और इष्ट प्रवृत्तियों के आगम के लिये ही यह भिन्न २ योनियां हैं। यदि यह ठीक है तो प्रवृत्तियों का यह लोप और आगम बिना बुद्धि के व्यापार के कैसे होगा? इसलिये भी पता चलता है कि इन योनियों में भी बुद्धि का विकास होता रहता है।

एक बात और है। यह कहना ठीक नहीं कि पशु योनि से आया हुआ जीव मनुष्य की निकृष्टतम श्रेणी में ही जन्म लेता है। यदि बुद्धि का व्यापार सर्वथा बन्द हो जाय तो जीव मनुष्य योनि के योग्य ही न रहे और कम से कम ऊपरी श्रेणियों के तो कभी योग्य न रहे क्योंकि पिछले जन्म की आन्तरिक अवस्था और अगले जन्म की आन्तरिक अवस्था में निकटतम सादृश्य होना चाहिये।

अब एक प्रश्न उठता है। यदि ऐसी बात है तो पशुओं को भोग योनि और मनुष्य को कर्म योनि क्यों कहा गया और

पशुओं को अपने कर्मों का उत्तरदाता क्यों नहीं ठहराया गया, मनुष्यों को क्यों ठहराया गया।

यह अवश्य ही जटिल प्रश्न है। यदि कहते हैं कि पशु भी मनुष्य के समान कर्म योनि हैं तो उनके लिये भी आचारशास्त्र होना चाहिये। बहुत से लोग इसलिये मांस खाना विहित समझते हैं कि वह पशुओं को मांस खाते देखते हैं। बहुत से विवाह की मर्यादा को इसलिये व्यर्थ समझते हैं कि वह पशुओं में इस प्रकार की कोई मर्यादा नहीं देखते। आचार शास्त्र के जो बन्धन पशुओं के लिये नहीं हैं उनको मनुष्य के लिये क्यों बनाया गया ?

यदि कहा जाय कि मनुष्य ही कर्म योनि है और पशु केवल भोग योनि तो बुद्धि के विकास का अभाव होता है। यदि जीव में भोक्तृत्व, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व स्वाभाविक गुण हैं और यदि यह योनियाँ इन्हीं गुणों के विकास के लिये हैं तो बिना बुद्धि को विकास का अवसर मिले यह पूर्ण विकास होगा कैसे ? बुद्धि का विकास रोकने से तो कर्तृत्व कर्तृत्व ही नहीं रहता, उसमें और घड़ी आदि जड़ वस्तुओं की गति में कोई भेद नहीं रहता।

निःसन्देह यह बड़ी आपत्ति है और इससे बचने का कोई सीधा मार्ग प्रतीत नहीं होता। परन्तु एक बात पर विचार करना है।

प्रश्न यह है कि यदि मनुष्य कर्म योनि है और अपने कामों का उत्तरदाता है तो कब से ? क्या दो मास का बालक कर्म योनि भी है या केवल भोग योनि ? क्या वह अपने कामों के लिये उत्तरदाता है ? क्या वह करने, न करने और उलटा करने का सामर्थ्य रखता है ? वात्स्यायन मुनि न्यायदर्शन के ४ । १ । ६० के भाष्य में लिखते हैं:—

यदा तु मातृतो जायते कुमारः, न तदा कर्मभिरधिक्रियते ।

अर्थात् जब बालक माता की कोख से जन्म लेता है उसी समय कर्म का अधिकारी नहीं होता ।

इससे पता चला कि न केवल पशु किन्तु बालक भी केवल भोग योनि है । परन्तु एक बात मालूम न हुई कि वह कै वर्ष की आयु तक भोग योनि रहते हैं और कब से कर्म योनि की कोटि में आते हैं । यदि राज संस्थाओं के निश्चय को ठीक माना जाय तो बड़ी गड़बड़ है । चार वर्ष का बच्चा चोरी में पकड़ा जाय तो उसे सजा न होगी, तेरह वर्ष का पकड़ा जाय तो जेल न होगा किन्तु रिफोर्मेटी स्कूल में भेज दिया जायगा । इसको भोग योनि कहें या कर्म योनि । उन्नीस वर्ष का पकड़ा जाय तो जेल हो जायगा । परन्तु यदि उन्नीस वर्ष का मनुष्य पैतृक सम्पत्ति को इधर उधर करना चाहे तो नाबालिग़ ही समझा

जायगा। अर्थात् किसी कार्य्य क्षेत्र में तो वही बालक कर्म योनि समझा जाता है और किसी अन्य कार्य्य क्षेत्र में केवल भोग योनि। यह क्षेत्र भेद क्यों?

अच्छा और लीजिये। पागल मनुष्य कर्म योनि समझे ही नहीं जाते। पचासों हत्यारे रोज़ हाईकोर्ट से इसलिये छोड़ दिये जाते हैं कि वह उन्मत्त हैं। उन्मत्तों की भी श्रेणियाँ हैं जिनके जानने में कभी कभी उच्च श्रेणी के डाक्टर भी भूल कर बैठते हैं।

इससे भी आगे चलिये। क्या सब मनुष्य अपने कर्तव्य के लिये एक से ही उत्तरदाता हैं? क्या अफ़रीका के रहने वाले जंगली मनुष्य का उत्तरदातृत्व उतना ही है जितना एक बड़े सभ्य साम्राज्य के अमात्य का? यदि मनुष्य कर्म योनि और भोग योनि दोनों है तो कर्म और भोग का निपात एक ही है या भिन्न भिन्न, क्योंकि दोनों में एक सी बुद्धि नहीं।

समाधान ऐसा होना चाहिये जो इन सब की संगति मिला दे। जो अन्तिम उदाहरण जंगली मनुष्य और साम्राज्य के अमात्य का दिया है उसमें समाधान की कुंजी भी छिपी हुई है। इस उदाहरण को सुनकर विचारशील पुरुष शायद कहने लगें कि कर्म योनि तो दोनों हैं परन्तु कर्तव्य क्षेत्र का भेद है। एक का कर्तव्य क्षेत्र संकुचित है और दूसरे का विस्तृत। यह है भी

ठीक। वस्तुतः इनके सम्बन्ध में भोग योनि और कर्म योनि सापेक्षिक शब्द हैं। अपने घर में अपनी स्त्री या बालकों के साथ व्यवहार करने में दोनों का उत्तरदातृत्व लगभग एक सा है। परन्तु राज्य के मामले में जंगली मनुष्य सर्वथा भोग योनि है और अमात्य कर्म योनि। एक का उत्तारदातृत्व है दूसरे का नहीं। कर्म योनि का अर्थ है करने, न करने, और उलटा करने की स्वतंत्रता। भोग योनि का अर्थ है इस स्वतंत्रता का अभाव। यह स्वतंत्रता और परतंत्रता सापेक्षिक होती है। कहीं मैं स्वतंत्र हूँ, कहीं परतंत्र। मेरा रसोइया तरकारी या दाल के निर्वचन में परतंत्र है। मैं स्वतंत्र। वही रसोइया अपने घर के भोजन के विषय में स्वतंत्र है।

जब यह पता चल गया कि भोग योनि और कर्म योनि शब्द क्षेत्रों की अपेक्षा से हैं तो इसी नियम को सब पर लगाते जाइये। १० वर्ष का बालक सामाजिक मामलों में भोग योनि और अपने सबक़ के याद करने में कर्म योनि है। चोरी करने में उसको जेल न होगा परन्तु अपने साथी की क़लम चुरा लेने में उस पर मार अवश्य पड़ेगी। इसका अर्थ यह है कि बड़ी बड़ी सामाजिक घटनाओं के लिये वह भोग योनि है और छोटी छोटी के लिये कर्म योनि। इसी प्रकार छोटे बच्चे और पशु अपनी बुद्धि के विकास का अवसर तो रखते हैं परन्तु यह अव-

सर ऐसे सूक्ष्म हैं कि उनकी ग़लतियों का समाज पर कोई असर नहीं पड़ता। इसीलिये समाज शास्त्र में उनको कर्तव्य-रहित माना है। धर्मशास्त्र, कर्तव्यशास्त्र, आचार शास्त्र या समाज शास्त्र जिन क्षेत्रों से सम्बन्ध रखता है उनके लिये यह सब भोग योनि और इसलिये परतंत्र हैं क्योंकि उनकी बुद्धि का इतना विकास नहीं हो पाया कि उनके काम इन क्षेत्रों को बना या बिगाड़ सकें।

इसको एक उदाहरण से स्पष्ट कीजिये। यदि कोई आकर आप से पूछे कि "आज आलू खाना" धर्म है या अधर्म? तो आप शायद यही उत्तर देंगे कि न धर्म है, न अधर्म। भला ऐसा कैसे हो सकता है कि एक काम न धर्म हो न अधर्म? यदि धर्म होगा तो अधर्म नहीं और अधर्म होगा तो धर्म नहीं। परन्तु आप ऐसा उत्तर क्यों देते हैं? केवल इसलिये कि जिन शारीरिक और आत्मिक क्षेत्रों के विस्तृत ज्ञान से धर्म और अधर्म अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का निश्चय हो सकता वह ज्ञान आप के पास नहीं है। आप उसके शरीर की तात्कालिक अवस्था को जाँचकर यह नहीं बता सकते कि उसे आलू खाना चाहिये या नहीं। आपने केवल उस क्षेत्र को दृष्टि में रखकर उत्तर दिया है जो समाज शास्त्र या आचार शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम बहुत गहराई तक

नहीं जा सकते। जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है तुम्हारा आलू खाना या न खाना समाज की सामाजिक दशा पर कोई प्रभाव न डाल सकेगा। एक प्रकार से उसका आलू खाना समाज के लिये बड़ी हानि कर सकता है। कल्पना कीजिये कि उसे कोई रोग है। वह रोग आलू खाने से बढ़ गया और उस रोग के कारण वह १०० रु० न कमा सका। यह १०० रु० केवल उसकी हानि तो है नहीं। प्रत्येक व्यक्ति समाज का व्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति की अवनति समाज की अवनति है। इसलिये आलू खाने से वह समाज को हानि पहुँचाने का दोषी हो गया। परन्तु आप इतनी दूर तक नहीं जाना चाहते। इतनी दूर जाना व्यावहारिक सीमा का उल्लङ्घन करना है। समाज शास्त्र या आचार शास्त्र इतनी दूर नहीं जा सकता। इसलिये आप उससे कहते हैं कि तुम्हारा "आज आलू खाना" न धर्म है न अधर्म। तात्पर्य यह है कि आप का उत्तर व्यावहारिक है और कर्म योनि तथा भोग योनि शब्द भी व्यावहारिक ही हैं। उनसे यह समझ लेना कि पशु पक्षियों के कोई कर्म ऐसे नहीं हैं जिनमें वह अपनी बुद्धि का स्वतंत्र प्रयोग कर सकें ठीक प्रतीत नहीं होता। हिंसक पशुओं के जीवन में भी दया का प्रकाश मिलता है। जब भेड़िये ने रोम के निर्माता रैमस और रोम्यूलस को अपनी मांद में पाला और

निरन्तर खाने की इच्छा नहीं की तो अवश्य ही उस भेड़िये की प्रवृत्ति में कुछ तब्दीली हुई होगी। अन्धी और बुद्धि-शून्य आन्तरिक प्रेरणा एक क्षण के लिये काम कर सकती थी निरन्तर वर्षों तक नहीं। परन्तु जब हम पशुओं को भोग योनि कहते हैं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उनकी बुद्धि का विकास उस सीमा तक नहीं हो पाया कि उन पर आचार शास्त्र का बोझ डाला जा सके।

जब जीव की बुद्धि का विकास मनुष्य की सीमा तक पहुँच जाता है तो आचार अनाचार, धर्म अधर्म, कर्तव्य अकर्तव्य का प्रश्न आरम्भ हो जाता है क्योंकि अब उसको पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता से उसे आगे के लिये अधिक विकास करना है। मनुष्य योनि में विकास की गाड़ी को तेज़ी से चलना चाहिये। पहले जीव भैंसे की गाड़ी में बैठा था अब मेल ट्रेन में सवार है। भैंसे की गाड़ी से गिरने में शायद अधिक चोट न लगती, मेल ट्रेन से गिरने में मृत्यु अवश्यंभावी है। भैंसे की गाड़ी में एक घण्टे में एक मील यात्रा करता है, मेल ट्रेन में एक घण्टे में साठ मील जायगा। वर्ण धर्म, आश्रम धर्म जिनसे स्मृतियाँ, दर्शन और उपनिषदें भरी पड़ी हैं इस विकास के साधन हैं। इन धर्मों पर चल कर अनिष्ट प्रवृत्तियों का लोप होगा और इष्ट

प्रवृत्तियों का आगम। ब्रह्मचर्य आश्रम और उसके शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक कर्तव्य, गृहस्थाश्रम और उसके अनेकानेक कृत्य (विवाह, स्त्री पुत्र तथा परिवार का पालन यज्ञ, अध्ययन तथा दान), वानप्रस्थ के शम दम और तप, सन्यास का भोग-विलास-त्याग यह सब बाह्य यज्ञ और संस्कार, तथा आन्तरिक संकल्प विकल्प उसी पूर्ण विकास की सीढ़ियाँ है जिनका नाम मुक्ति है। लोक यात्रा और परलोक यात्रा में भेद नहीं है। लोक यात्रा ही परलोक यात्रा है क्योंकि प्रत्येक तात्कालिक कर्तव्य का पालन हमारे अन्तिम विकास का साधक और प्रत्येक स्खलन विकास के मार्ग में रोड़ा है। चाहे हम निचली से निचली अवस्था में क्यों न हों यदि हम उस अवस्था के तात्कालिक कर्तव्यों का पालन करेंगे तो अवश्य ही मुक्ति के निकट होते जायँगे। और यदि उसमें असावधानी की तो उतना ही दूर हटते जायँगे। यदि आप किसी महल की सीढ़ियों पर से गुज़र रहे हैं तो प्रश्न यह नहीं है कि आप किस सीढ़ी पर हैं। प्रश्न यह है कि आपका मुख किधर है। अगर मुख ऊपर को है तो प्रत्येक पग पर आप ऊँचे चढ़ेंगे। यदि मुख नीचे की ओर है तो प्रत्येक पग आपको छत से दूर ले जायगा।

अठाइसवाँ अध्याय

मुमुक्षुत्व, जीवन-मुक्ति और मुक्ति

कहावत है कि प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से दूर भागता है। यह सुख ग्रहण और दुःख-त्याग की प्रवृत्ति प्राणी को उन साधनों के इकट्ठा करने में सहायता देती है जो उसके विकास के लिये आवश्यक हैं। जैसे यदि मुझे भोजन-विशेष का सुख लेने की आकाङ्क्षा न होती तो क्यों धन कमाता और क्यों उस भोजन को बनाने का कष्ट करता? यदि मुझे सर्दी गर्मी के दुःख से बचना न होता तो क्यों वस्त्र बनाता, क्यों मकान निर्माण करता? संसार की समस्त संस्थायें इसी प्रवृत्ति के कारण हैं। यदि प्राणी सुख की चाह और दुख से द्वेष छोड़दें तो आज समस्त जगत् अस्तव्यस्त हो जाय। और किसी प्रकार की प्रगति दृष्टि-गोचर न हो।

यह तो हुई सुख-ग्रहण और दुःख-त्याग की प्रवृत्ति की उपयोगिता। परन्तु सृष्टि में एक बात और मिलती है। सुख के साधन सुख नहीं और दुःख के कारण दुःख नहीं। साधन बाहरी चीजें हैं और सुख दुःख भीतरी! वही वस्तु एक समय

या एक अवस्था में सुख देती है और दूसरे समय या दूसरी अवस्था में दुःख। जिस हलवे को हमने एक समय मजे मजे से खाया उसी हलवे को देखकर दूसरे समय मतली आती है। इससे ज्ञात होता है कि संसार की चीज़ें साधन हैं उद्देश्य नहीं। उद्देश्य और साधन में यह भेद है कि साधन अपना काम करने के पश्चात् हेय हो जाता है। और जगत् को दर्शन शास्त्रों में हेय इसीलिये कहा है कि काम करके उसको छोड़ देना चाहिये। कोई स्टेशन पर पहुँचकर गाड़ी में बैठा नहीं रहता, न किसी को पेट भरने के पश्चात् खाते रहना चाहिये। जिस वस्तु का काम समाप्त हो चुका उससे चिपटना नहीं चाहिये।

सब बुद्धिमान पुरुष यही करते हैं और सब बुद्धि-हीन इसके विरुद्ध। इसके अतिरिक्त सब में एक सी बुद्धि तो है ही नहीं, जिसमें जितनी बुद्धि है उतना ही इस नियम का पालन अधिक करेगा।

न्याय दर्शन का दूसरा सूत्र है :—

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

(न्याय दर्शन १।१।२)

अर्थात् मिथ्या ज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख के क्रमशः छूटने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

मिथ्या ज्ञान क्या है और वह किस प्रकार छूटता है? मिथ्या ज्ञान की व्याख्या भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न की है और उनकी जटिल व्याख्या को पढ़कर सुगमतया यह समझ में नहीं आता कि उससे कैसे छूट जायँ। मिथ्या ज्ञान कोई लोहे की बेड़ी नहीं है जो काट कर फेंकी जा सके। परन्तु है यह बेड़ी ही। संसार के सभी मनुष्य जानते हैं कि उनको मिथ्या ज्ञान का रोग है परन्तु उस रोग का वास्तविक स्वरूप क्या है यह किसी की समझ में नहीं आता। हम उस रोगी के समान हैं जो शरीर में पीड़ा तो बताता है परन्तु यह नहीं बता सकता कि किस अंग में और कैसी पीड़ा है।

हमारी धारणा तो यह है कि साधन को साध्य समझ लेना ही मिथ्या ज्ञान है। और इसी मिथ्या ज्ञान में फंसे रहने के कारण हम जन्म-मरण रूपी चक्र में पड़े हुये हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि संसार की चीजें सुख का साधन हैं सुख नहीं। पहली भूल हम यह करते हैं कि उन्हीं चीजों को सुख समझ लेते हैं। उन चीजों से सुख मिलता अवश्य है परन्तु विशेष अवस्थाओं में। सुख उनका गुण नहीं है और न सुख उनमें इस प्रकार विद्यमान है जैसे आम में रस। हम जब विशेष

अवस्था में उनका प्रयोग करते हैं तो हमारे सम्बन्ध से सुख उत्पन्न हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि उन वस्तुओं को सुख का साधन बनाने में हमारा अपना भी बहुत कुछ भाग है। सुख एक साझे की दुकान है। और हम तथा संसार की वस्तुयें यह साझी दुकानदार हैं। दुकान में जो लाभ होता है वह साझियों की पूंजी के हिसाब से बांट दिया जाता है। यदि पूंजी दोनों की बराबर है तो दोनों को बराबर लाभ होगा। यदि आप की पूंजी बढ़ जायगी तो आपको तदनुसार लाभ भी अधिक होगा।

एक उदाहरण लीजिये। आप खाना खाते हैं। मजेदार लगता है। आप समझते हैं कि खाने में मज़ा है। वस्तुतः मज़ा एक लाभ है जो आप और खाद्य पदार्थ के मिलकर व्यापार करने से प्राप्त हुआ है। यदि आपका स्वास्थ्य अच्छा है और आप परिश्रम करके खाते हैं तो खाना मज़ेदार लगेगा। यदि आपने समझा कि "मज़ा" केवल खाद्य पदार्थ की पूंजी का ही फल है और आप अपनी पूंजी कुछ नहीं लगाते तो आप उस खाने से मज़ा न ले सकेंगे। आपको मतली क्यों आने लगी? इसलिये कि आपने अपना भाग जो भूख और परिश्रम के रूप में था खींच लिया। यदि आप दुकान से अपनी सब पूंजी निकाल लें तो साझी आपको लाभ का एक पैसा भी न

देगा। यदि आप व्यायाम करने लगे और आपकी भूख बढ़ने लगी तो वही खाना जो एक तोला मज़ा देता था एक पाव मज़ा देने लगा। क्योंकि आपकी पूंजी का प्रतिशतक बढ़ गया।

इसी नियम को आप अपने सब कामों पर घटाते जाइये। मूर्ख आदमी समझता है कि रुपये में सुख है। बुद्धिमान् समझता है कि विशेष अवस्थाओं में रुपया मेरा साझी हो सकता है और मेरी पूंजी के अनुसार मुझे सुख दे सकता है। यही कारण है कि एक धनिक सुखी है और दूसरा धनिक दुःखी। दुःखी धनिक उस दुकानदार के समान है जिसने दुकान से अपनी पूंजी से भी अधिक रुपया निकाल लिया है और उसका साझी बजाय नफ़ा देने के उलटा उस पर ऋण के चुकाने के लिये अभियोग चला रहा है। कितने लोग हैं जो संसार की वस्तुओं को सुख का पर्याय समझकर उन्हीं के उपार्जन में लगे रहते हैं। यही मिथ्याज्ञान है।

मिथ्याज्ञान की निवृत्ति जादू से नहीं होती। इसके लिये आरंभ से अभ्यास करना पड़ता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में यही सिखाया जाता है कि वस्तुओं का सम्पादन तो करो परन्तु यह समझते रहो कि वस्तुयें सौ फ़ी सैकड़ा सुख नहीं दे सकतीं। जितनी तुम्हारी अपनी पूंजी होगी उतना ही तुमको लाभ होगा। ब्रह्मचर्य के नियमों का अभ्यासी जीव ज्यों ज्यों बढ़ता है अपने

में यह शक्ति बढ़ाता जाता है। अन्न-प्राशन संस्कार के पीछे आशीर्वाद देते हैं कि तू 'अन्न-पति' और "अन्नाद" हो। अर्थात् केवल अन्न होना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु तुझको अन्नाद (खाकर अन्न का पचाने वाला) भी होना चाहिये।

आगे चल कर इस साझे की दुकान में वस्तुओं की पूंजी कम होने लगती है और आपकी पूंजी बढ़ने लगती है। इस पर थोड़ा सा विचार कीजिये क्योंकि इसी विचार में तो आपका विकास है। आप क्या हैं? हमने जीवात्मा का लक्षण करते हुये बताया था कि आप ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व वाली अल्प सत्ता हैं। देखिये एक नियमित धार्मिक जीवन में आप इन तीनों शक्तियों का विकास किस प्रकार करते हैं?

प्रथम आपको केवल अपने खाने की ज़रूरत थी। यह ज़रूरत थोड़ी सी क्रिया करके धन कमाने में पूरी हो सकती थी। अल्प क्रिया के लिये ज्ञान की भी थोड़ी सी ज़रूरत होती है। असभ्य जाति के एक मछुये को काम क्या? मछली मारली और खा ली। इसके लिये न विज्ञान की ज़रूरत, न दर्शन की, न चौबीस घण्टे परिश्रम की। अल्प-ज्ञान और अल्प क्रिया के साथ भोग भी अल्प ही हुआ।

परन्तु एक धार्मिक मनुष्य ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उसका कार्यक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र बढ़ा। अब उसे केवल अपने

लिये आवश्यकता नहीं। अब उसे परिवार का पालन भी करना है। स्वभावतः इसको अधिक ज्ञान और अधिक क्रिया चाहिये। परन्तु साथ ही साथ भोक्तृत्व भी कम नहीं हुआ। केवल उसका स्वरूप विशद हो गया। पहले वह भोजन के खाने में स्वाद लेता था अब वह भोजन के "खिलाने" में स्वाद लेने लगा। दिन भर परिश्रम करके भोजन लाया। बच्चों को खिला रहा है और स्वयं आनन्द ले रहा है। खिलाने का मज़ा खाने के मज़े से कई गुना विशद है। उसमें स्थूलता कम है, सूक्ष्मता अधिक है। मेरी माता जी जब कोई अच्छी चीज़ बनातीं और थोड़ी होती तो वह यह चाहती थीं कि सब मुझको दे दें। मैं कभी कहता था कि माता जी थोड़ी सी अपने लिये भी रहने दो तो कहा करती थीं "मुझे अच्छी नहीं लगती"। इस वाक्य में कुछ झूठ अवश्य था। परन्तु इसका तत्व मैं अब समझा हूं। यह बात नहीं थी कि माता जी को वह चीज़ अच्छी न लगती थी, यदि अच्छी न लगती तो अपने प्यारे पुत्र के लिये क्यों बनातीं? बात यह थी कि उनको स्वयं खाने की अपेक्षा पुत्र को खिलाने में ज़्यादा स्वाद आता था। खाना उनको मज़ा दे रहा था परन्तु मेरे द्वारा। ऐसे लाखों दानी संसार में मौजूद हैं जो दूसरों को खिलाने में ही आनन्द लेते हैं। यह बात नहीं कि उनमें

भोक्तृत्व की शक्ति जाती रही। नहीं। यह तो स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण जा कैसे सकता है? बात यह है कि उनकी भोक्तृत्व शक्ति का विकास हो गया है। वह विशद हो गई है। उसको सुख का स्थूल फोक पसन्द नहीं। वह सुख का सूक्ष्म रस ले रही है। भोगक्षेत्र के साथ साथ कार्यक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र भी बढ़ रहा है।

इस विकास में एक और मजे की बात है जिसको समझे बिना मुक्ति का अन्तिम प्रश्न हल न होगा। आप शायद पूछने लगें कि इस व्यापार में मिथ्या ज्ञान कैसे कम हुआ? सोचिये! गृहस्थाश्रम का भार लेने से पूर्व आप चीजों के आदान (लेने) मात्र में सुख समझते थे। मिठाई आई और बच्चा लेकर भाग गया। अपने भाई को भी नहीं देता। यह केवल 'आदान' क्षेत्र था। जो जातियाँ आचार शास्त्र की शैशव अवस्था में हैं वह "लेना" जानती हैं। 'देना' नहीं जानतीं। गृहस्थाश्रम रूपी युवा अवस्था में 'आदान' 'दान' के लिये होने लगता है। माता को भोजन बनाने से तो प्रेम है परन्तु इसलिये कि बच्चे खावें। अर्थात् जब तक जिसने केवल 'लेना' धातु के रूप ही पढ़े थे उसने अब 'देना' धातु का पाठ भी आरम्भ कर दिया। आगे चलिये। एक पुरुष बड़े परिश्रम से धन कमाकर दरिद्रों को खिला रहा है। उसने

दिन भर स्वयं भोजन नहीं किया। परन्तु उसके मुख पर आनन्द की छटा है। क्यों? इसलिये कि चारों ओर से यही ध्वनि आ रही है "वाह रे दानवीर"। इस प्रशंसा को सुन सुनकर वह आनन्दित हो रहा है। जो मजा उसे स्वयं मिठाई खाने में न आता वह दूसरों को मिठाई खिलाने में आ रहा है। यदि वह स्वयं खाता तो मिठाई गले के नीचे उतरते ही मिठास की समाप्ति हो जाती। कितना क्षणिक सुख है। इसके विरुद्ध दूसरों को खिलाने और उनके मुख से प्रशंसा सुनने का आनन्द बहुत काल तक रहेगा। परन्तु यह विकास की इति नहीं है। कल्पना कीजिये कि शनैः शनैः उसका विकास अधिक बढ़ा। जिस प्रकार स्वयं भोजन करना उस को अधिक मज़ेदार नहीं लगता उसी प्रकार अब आगे चलकर प्रशंसा सुनना भी अधिक मजेदार नहीं रहा। यह भी स्थूल सुख है। इसमें भी बाहर वालों का साझा अधिक है, अपनी पूंजी कम। इसलिये उसने सन्यास ले लिया। संसार से वैराग्य हो गया। इसका यह अर्थ नहीं कि भोग को छोड़ दिया या संसार की वस्तुओं को छोड़कर भाग गया। नहीं? नहीं? कदापि नहीं? सच्चा सन्यासी कभी ऐसा नहीं करता। वह सन्यासी इसलिये नहीं हुआ कि भोग को छोड़ दे किन्तु भोग के सूक्ष्मतम रस को अधिक मात्रा में लेसके। इसलिये अब

उसकी प्रवृत्ति ऐसी होगई है कि विना यश की कामना के ऐसे साधनों का अवलम्बन करता है जिससे संसार की वस्तुयें अन्य प्राणियों को अधिक सुख देने लगें। औरों को सुख मिल रहा है वे दुःख की बेड़ियों से छूट रहे हैं और वह विना प्रशंसा की इच्छा के चुप अलग बैठा हुआ आनन्दित हो रहा है। यह सुख उसके आत्मा के भीतर से उठरहा है। कोई नहीं जानता कि इस मनुष्य की प्रशंसा करनी चाहिये। कोई उसके आराम के लिये कष्ट नहीं उठाता। किसी को उससे सम्बन्ध नहीं। परन्तु उसको सब से सम्बन्ध है। यह संसार का सूक्ष्मतम आनन्द है। इसमें ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व का क्षेत्र बहुत विस्तृत होगया। इसीको "मुमुक्षुत्व" अर्थात् "मोक्ष प्राप्त की इच्छा" कहते हैं। यही वैराग्य है। क्यों कि इसमें संसार की चीज़ों से सीधा प्रेम नहीं रहता।

अब यह देखना है कि मुमुक्षुत्व मुक्ति का साधन कैसे होता है। जब जीव को साधन और साध्य का वास्तविक ज्ञान हो गया तो न्याय के कथनानुसार मिथ्याज्ञान के दूर होने से 'दोष' दूर हो जायंगे।

यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र राग द्वेषाविति प्रत्यात्म-वेदनीया हीमे दोषाः।

(वात्स्यायन भाष्य)

जहाँ मिथ्या ज्ञान है वहीं राग और द्वेष रूपी दोष हैं। परोपकार में राग द्वेष नहीं होते। जो सन्यासी संसार भर के उपकार के लिये कार्य्य कर रहा है उसको किसका राग और किससे द्वेष? वह तो दोष रहित हो गया।

जब दोष रहित हो गया तो अब 'प्रवृत्तियों' की बारी है। गोतम जी कहते हैं कि मिथ्या ज्ञान के पश्चात् दोष दूर होंगे। दोष के पश्चात् "प्रवृत्ति", प्रवृत्ति के पश्चात् 'जन्म'। मुमुक्षुत्व प्राप्त होने से पूर्व क्या प्रवृत्ति थी? यही कि अमुक वस्तु मिल जाय! जैसी जैसी प्रवृत्तियाँ अपने जीवन में बनाई थीं वे सब सूक्ष्म शरीर में सुरक्षित थीं। उन्हीं के कारण अन्यान्य जन्म होते थे। (एक बार पिछले तीन अध्याय पढ़िये और 'सूक्ष्म शरीर' के विषय में जो कुछ कहा गया है उसकी संगति इससे मिलाइये)। एक दृष्टान्त से यह भलीभाँति समझ में आ जायगा। आपकी इच्छा नारंगी खाने की है। यह इच्छा इतनी उत्कट है कि बिना इसकी पूर्ति के आपको चैन नहीं है। आप उठे, कुछ मज़दूरी की, दो पैसे मिल गये। बाज़ार में जाकर नारंगी ले आये। बाज़ार में अन्य चीजें भी हैं। परन्तु इनकी ओर आपने ध्यान भी नहीं दिया। जिसकी इच्छा बाइसिकिल लेने की है वह भी इसी प्रकार का अन्य व्यापार करेगा, और साइकिल लायेगा। परन्तु यदि

एक ऐसा मनुष्य है जिसे केवल बाज़ार देखना है चीज़ कोई नहीं लेनी। वह उठेगा और बाज़ार को देख आयेगा, खरीदेगा कुछ नहीं। इसी प्रकार जब तक मनुष्य सकाम कर्म करता रहा और सांसारिक वस्तुओं से उसे राग रहा उस समय तक उसकी प्रवृत्तियाँ सूक्ष्म शरीर में प्रेरणा करतीं रहीं और उसने उसी प्रकार का जन्म पाया। जब निरन्तर जन्म जन्मान्तर के अभ्यास से ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोगतृत्व का विकास अधिक विस्तृत हो गया और वह अपने आध्यात्मिक आनन्द के लिये किसी अन्य साझी की आवश्यकता नहीं समझता तो सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की उसे इच्छा भी नहीं रही। उसकी प्रवृत्तियाँ धीरे धीरे इतनी विशद हो गईं कि उनकी वृत्ति बहिर्मुख न हो कर अन्तर्मुख हो गई। यह प्रवृत्ति पहले स्थूल शरीर में ही हुई थी। इसलिये जब स्थूल शरीर तो रहा किन्तु बहिर्मुख प्रवृत्ति बिल्कुल न रही तो यही अवस्था जीवन-मुक्ति की है। यह मोक्ष से इस ओर की बात है।

ऐसे पुरुष का जब स्थूल शरीर छूट गया और सूक्ष्म शरीर अलग हो गया तो उसके सूक्ष्म शरीर में स्वभावतः किसी सांसारिक वस्तु की वासना न रहेगी और वह फिर "जन्म" से भी छूट जायगा। क्योंकि अब वह दुकान का एकाकी स्वामी है, उसे किसी साझी की आवश्यकता नहीं। वह

आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त हो गया। ऐसे के लिये ही लिखा है कि—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक उ० २।२।८)

अर्थात् मिथ्याज्ञान दूर हुआ। प्रवृत्ति और दोष का नाश हुआ। अध्यात्म जगत् खुल गया। अब कोई संशय शेष नहीं। अब स्थूल शरीर को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। यही मुक्ति है।

आगे मुक्ति में क्या होता है? यह कहना कठिन है। जिस प्रकार अमावस्या की अंधेरी रात में बैठा हुआ मनुष्य दोपहर के सूर्य्य के विषय में कुछ नहीं जान सकता उसी प्रकार बद्ध अवस्था में मुक्ति का विस्तृत ज्ञान नहीं हो सकता। हम नित्य सुषुप्ति का अनुभव करते हैं परन्तु जागृत अवस्था में ठीक ठीक नहीं बता सकते कि सुषुप्ति में क्या क्या होता है। इसी प्रकार मोक्ष में और क्या क्या होता है हम नहीं बता सकते। यह वह पद है जहाँ वाणी बन्द हो जाती है और मन कल्पना करना छोड़ देता है। उपनिषद् कहती है:—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

उनतीसवाँ अध्याय

पुनरावर्त्तन

अर्थात्

मुक्ति से लौटना

गत अध्याय में यह बताया जा चुका है कि जीव के विकास की पराकाष्ठ मुक्ति-अवस्था है। बस जीव यहीं तक उन्नति कर सकता है। प्रत्येक अन्त वाली वस्तु का अन्त होता है। जीव अन्तवाली वस्तु है। इसका अन्त मुक्ति है। विकास की पराकाष्ठा से तात्पर्य यह है कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व, और ज्ञातृत्व की विशद से विशद शक्ति प्राप्त हो जाय।

अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। क्या मुक्ति-अवस्था अचल (Static) है या चल (Dynamic)? अर्थात् क्या इसके आगे भी जीव के लिये कुछ करना रहता है। या यहीं ठहर जाना होगा ?

जीव के जो लक्षण हमने ऊपर किये हैं उनसे तो ऐसा पता चलता है कि चरत्व या चलत्व जीव का स्वाभाविक गुण है (The Soul is dynamic by nature) यह न स्वयं ही चर है

परन्तु जिस प्रकार चुम्बक की शक्ति संसर्ग से लोहे में भी आजाती है इसी प्रकार जीव अपने चरत्व को अचर वस्तुओं को उधार दे देता है। जो चीज़ जीव के संसर्ग में आती है अचर से चर हो जाती है। मेरा हाथ यदि कट जाय तो जड़ है। जब तक मेरा सम्बन्ध है यह चेतन है। तलवार जड़ है परन्तु मेरे हाथ में आकर वह भी चेतन सी होजाती है। इंजन जड़ है परन्तु रेलवे के ड्राइवर के हाथ में वह चेतन की भाँति कार्य्य करता है।

जब जीव स्वभावतः चर है तो मुक्ति-अवस्था में उसमें अचरत्व कैसे आगया? प्रथम तो स्वाभाविक गुण बदलता नहीं। दूसरे यदि मुक्ति-अवस्था को अचल मान लिया जाय तो इसे कभी उन्नति की विकसित या वांछनीय अवस्था नहीं कह सकते और न उसके लिये प्रत्यन करना ही आवश्यक होता है।

हम स्पष्ट कह चुके हैं कि मुक्ति-अवस्था के विषय में मनुष्य को अधिक मालूम नहीं हो सकता। सूर्य का प्रकाश हम तक आता है। हम सूर्य्य की रश्मियों का परीक्षण भी प्रयोगशालाओं में करते हैं, परन्तु उन्हीं रश्मियों का जो करोड़ों मील की यात्रा के पश्चात् थक कर कोमल हो जाती हैं। हमको न तो पता है न पता लगाने के साधन हैं कि उन रश्मियों का सूर्य्य के भीतर क्या हाल है। यही दशा मुक्ति की है। कहावत है

कि सुषुप्ति अवस्था मुक्ति-अवस्था का दृष्टान्त रूप है। सांख्य-दर्शन में भी आया है कि—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता।

(सा० ५।११६)

अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति तीनों अवस्थायें एक सी हैं उनमें जीव को ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है। अर्थात् दुःखों से छूटकर आनन्द मिलने लगता है। परन्तु यह तीनों अवस्थायें एक नहीं, केवल एक सी हैं। जब बाहर सूर्य्य निकलता है तो कमरे के भीतरी कोने का अन्धकार भी कुछ न कुछ दूर होता ही है। परन्तु उस प्रकाश से सूर्य्य के मुख्य प्रकाश का पता तो नहीं चला सकते।

परन्तु मनुष्य का औत्सुक्य वहाँ भी पहुँच जाता है जहाँ मनुष्य स्वयं नहीं पहुँच सकता। इसलिये मुक्ति की बातें चाहे कितनी ही अज्ञेय क्यों न हों, मनुष्यों में उनके विषय में वादानुवाद करना स्वाभाविक ही है।

यह ठीक है कि यह प्रश्न सर्वसाधारण के दैनिक व्यवहार में कुछ अधिक उपयोगी नहीं है। एक बार एक सज्जन ने एक सन्यासी से पूछा कि "महाराज मुक्ति से जीव लौटता है या नहीं"। उन्होंने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, "अरे मूर्ख! पहले

मुक्ति प्राप्त करले। वहाँ जाकर पूछना कि मैं यहीं रहूँगा या मुझे फिर वापिस जाना पड़ेगा"। यह एक व्यावहारिक उत्तर है। जो पुरुष साधारण आचार को भी ठीक करना नहीं चाहते वह इस प्रश्न पर क्या विचार कर सकते हैं? सूत न कपास, कोरिया से लट्ठं लट्ठा। परन्तु दार्शनिक रुचि रखने वालों के लिये यह प्रश्न भी कुछ मनोरञ्जन रखता है।

पहले सभी सम्प्रदाय यही मानते थे कि मुक्ति के पश्चात् जीव शरीर धारण नहीं करता। फिर उसे संसार से कुछ प्रयोजन नहीं रहता। [परन्तु आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में विरोध प्रकट किया। उनका मत है कि जीव मुक्ति से लौटता है। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में क्या है यह कहना कठिन है। स्वामी दयानन्द तो कहते हैं कि वैदिक काल के लोग भी मुक्ति से लौटना या पुनरावर्त्तन सिद्धान्त मानते थे। उनके विरोधी कहते हैं कि यह केवल स्वामी दयानन्द के मस्तिष्क की कल्पना है।] यह विषय भौतिक सायंस से तो सम्बन्ध नहीं रखता कि प्रयोगशालायें कुछ सहायता कर सकें। परन्तु जो लोग इस प्रकार के प्रश्नों में कुछ रस लेते हैं उनके बीच में दिलचस्प बहस आ पड़ी है।

इस प्रश्न पर प्रकाश डालने से पूर्व यह मालूम करना आवश्यक जान पड़ता है कि लोगों के मुक्ति के विषय में क्या विचार हैं। कुछ लोग जीव के अस्तित्व का नाश ही मुक्ति मानते हैं। उनके मत में जैसे दीपक बुझने पर दीपक की लौ का अस्तित्व नष्ट हो जाता है उसी तरह आत्मा भी नष्ट हो जाता है। जब अस्तित्व ही न रहा तो चलत्व अचलत्व का प्रश्न कहाँ रहा? और लौटने का प्रश्न भी दीपक की लौ की भांति ही बुझ गया। यह लौ मरने पर क्यों नहीं बुझती और उसको बुझाने के लिये इतना घोर परिश्रम क्यों करना पड़ता है? यह एक कठिन प्रश्न है। फिर लौ बुझने पर जीव अमर तो नहीं हुआ। मुमुक्षुत्व तो अमर होने के लिये है। जीने का यत्न तो सब करते हैं। मरने का कोई अभागा या उन्मत्त ही करता होगा। यह बात जीव की प्रवृत्ति के भी विरुद्ध है। क्योंकि जीने की इच्छा स्वाभाविक है मरने की अस्वाभाविक। कम से कम जिस जीव का प्रतिपादन हमने इस पुस्तक में किया है वह तो नित्य और अमर ही है। इसलिये उसका सदा के लिये बुझ जाना कैसा?

कुछ लोगों का मत है कि जीव नष्ट तो नहीं होता ब्रह्म में लय हो जाता है। ब्रह्म में लय हो जाने का मुख्य अर्थ

क्या है इस पर शायद किसी ने ही विचार किया हो। इस विचार के लोग मुण्डकोपनिषत् का यह वचन कहा करते हैं :—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय। तथा विद्वान् नाम रूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

(मुण्डक उप० ३।२।८)

अर्थात् जैसे नदियाँ समुद्र में गिर कर अपना नाम और रूप छोड़ देती हैं, उसी प्रकार विद्वान् अपने नाम और रूप को छोड़कर ईश्वर को प्राप्त हो जाता है।

इसमें अस्तित्व के नष्ट होने का तो कथन है नहीं। केवल नाम और रूप से मुक्त होने मात्र का कथन है। उपनिषत् यह तो कहती नहीं कि जीव का मुक्ति में अस्तित्व मिट जाता है। उपनिषद् का तात्पर्य तो यह है कि विद्वान् पुरुष मुक्त होकर नाम और रूप के पचड़े से अलग हो जाता है। उपमा एक देशी होती है। 'लय' से 'भौतिक' लय का अर्थ लेना अनुचित ही होगा। यदि माना जाय कि जीव अपना अस्तित्व खो बैठता है तो ऐसी लय नाश के ही तुल्य होगी। क्योंकि ब्रह्म तो जैसा पहले था वैसा ही अब रहा। केवल

जीव का अस्तित्व मिट *गया। यदि जीव का अस्तित्व रहता है और यदि हमारे कथनानुसार मुक्ति एक अवस्था विशेष का ही नाम है तो यह प्रश्न उठता ही है कि मुक्ति से जीव लौटता है या नहीं।

जो लोग मुक्ति से लौटना नहीं मानते वह यह प्रमाण देते हैं :—

(१) अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।

(वेदान्त ४।४।२२)

---

* श्रीरामानुजाचार्य के वेदान्त २।१।१५ के भाष्य का यह उद्धरण विचारणीय है :—

किं च जीवाश्रयाया अविद्यायास्तत्वज्ञानोदयान् नाशे सति जीवो नश्येद् वा न वा। यदि नश्येत् स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात्। नो चेदविद्या नाशेऽप्यनिर्मोक्षः। ब्रह्म स्वरूप व्यतिरिक्त जीवत्वावस्थानात्॥

जीव की अविद्या के नाश होने पर जीव का भी नाश होता है या नहीं? यदि होता है तो स्वरूप के नाश का नाम मोक्ष हुआ। और यदि नहीं होता तो अविद्या के नाश होने पर भी मुक्ति न होगी। क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप से अलग तो जीव का स्वरूप है ही नहीं।

२८

अर्थात् व्यास जी कहते हैं कि जीव के न लौटने में श्रुति का प्रमाण है।

(२) न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यानावृत्ति श्रुतेः।

(सांख्य० ६ । १७)

अर्थात् श्रुति का प्रमाण है कि मुक्त जीव की फिर आवृत्ति (लौटना) नहीं होती।

(३) क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद्द योजनात् तत्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।

(श्वेताश्वतर उपनिषत्)।

अर्थात् ईश्वर के ध्यान से अन्त में सब मायावी निवृत्ति हो जाती है।

(४) स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद्द भूयो न जायते॥

(कठोपनिषत् १ । ३ । ८)

वह (विज्ञान की प्राप्ति करके) जीव उस पद को पा जाता है जहाँ से फिर जन्म नहीं होता।

(५) स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥

(छान्दोग्य उपनिषद् ८ । १५ । १)

मुक्त आत्मा आयु पर्यन्त ब्रह्मलोक में रहता है। फिर लौटकर नहीं आता।

जो पुनरावर्तन के सिद्धान्त को मानते हैं उनका कहना है कि न लौटने का यह कथन केवल नियत काल से ही सम्बन्ध रखता है। अर्थात् कुछ नियत काल है उस समय तक मुक्ति से जीव नहीं लौटता। पश्चात् लौट आता है। स्वामी दर्शनानन्द ने इस मत की पुष्टि में छान्दोग्य का अन्तिम वाक्य दिया है। वह कहते हैं कि उपनिषद् वाक्य में

"यावत् आयुषं ब्रह्मलोकं"

(छा० १५ । १)

ऐसा पाठ है। इसका अर्थ है कि ब्रह्म लोक अर्थात् मुक्ति की जो अवधि है (यावत् आयुषं) उस समय तक नहीं लौटता! वह ब्रह्मलोक अर्थात् मुक्ति की एक अवधि मानते हैं और

'न च पुनरावर्तते'

(फिर नहीं लौटता है)

इस पद की संगति 'यावत् आयुषं' से मिलाते हैं। उनके विपक्षी कहते हैं कि "यावदायुषं" का अर्थ है "सदा"। स्वामी दर्शनानन्द कहते हैं कि "आयुष" (जीवन) शब्द से अवधि का ही बोध होना चाहिये। 'सदा' के लिये 'आयु' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता।

स्वामी दयानन्द ने पुनरावर्तन की पुष्टि में मुण्डक उपनिषद् (३ । २ । ६) का एक वाक्य दिया है :—

ते ब्रह्म लोके ह परान्तकाले परामृतात् परि मुच्यन्ति सर्वे ॥

अर्थात् वे मुक्त जीव ब्रह्म लोक में परान्त काल तक रह कर फिर 'परिमुच्यन्ति' अर्थात् लौट कर आते हैं।

आज कल जो मुण्डक उपनिषदें मिलती हैं उनमें "परामृतात्" के स्थान में "परामृताः" (प्रथमा विभक्ति) है और इसके आधार पर 'परिमुच्यन्ति' का अर्थ करते हैं "सब प्रकार से छूट जाते हैं"। स्वामी दयानन्द ने किस मुण्डकोपनिषद् में 'परामृतात्' पाठ देखा यह ज्ञात नहीं। परन्तु कैवल्य उपनिषद् में 'परामृतात्' पाठ ही आया है। स्वामी हरि प्रसाद ने वेदान्त भाष्य में यह कहकर टाल दिया है कि कैवल्य उपनिषद् प्रामाणिक उपनिषदों में नहीं है :—

ईशाद्याः श्वेताश्वतरपर्य्यन्ता हि दशोपनिषदो वैदिकैः प्रमाणं मन्यन्ते न कैवल्य जाबालाद्यः ॥

(वेदान्त सूत्र वैदिक वृत्तिः)

किसी किसी कैवल्य-उपनिषद् में 'परान्तात्' के स्थान में 'परामृताः' ही है। इससे हम तो यह नतीजा निकालते हैं कि दोनों उपनिषदों की भिन्न भिन्न प्रतियों में पाठ भेद है। 'परामृताः' और 'परामृतात्' के झगड़े को छोड़ भी दिया जाय तो 'परान्तकाले' शब्द उतना ही युद्ध-स्थल बन सकता हैं क्योंकि सृष्टि की आयु की गणना में 'परान्त काल' पारिभाषिक (Technical) शब्द है। वह नित्य का बोधक नहीं।

वेदान्त दर्शन के अन्तिम पाद में मुक्ति के विषय में जो कुछ मत स्थापित किया गया है उससे भी इस बात का निर्णय सुगमता से नहीं होता कि मुक्ति की अवधि है या नहीं। क्योंकि जहाँ एक बात में मतैक्य हो और दूसरी में मतभेद; वहाँ दोनों पक्षों को कुछ न कुछ कहने की गुञ्जायश रहती है। परन्तु एक और बात विचारणीय है। जो लोग मुक्ति से पुनरावर्त्तन नहीं मानते वह भी स्वर्ग से लौटना अवश्य मानते हैं। यह स्वर्ग क्या है इसका ठीक ठीक पता चलाना कठिन है। क्योंकि स्वर्ग शब्द भिन्न भिन्न युगों के भिन्न भिन्न ग्रन्थों

में भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं सीधे अर्थों में और कहीं आलंकारिक भाषा में। भाषा विज्ञान के पंडित जानते हैं कि आलंकारिक अर्थों का आलंकारिक स्वरूप कभी कभी लुप्त हो जाता है और इस प्रकार अर्थों में अनेक परिवर्त्तन हो जाते हैं। स्वर्ग शब्द का भी यही हाल है।

स्वर्ग किसी स्थान विशेष का नाम है या योनि विशेष का या अवस्था विशेष का ?

यदि स्वर्ग स्थान-विशेष का नाम है तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वहाँ से जीव लौटता है या नहीं। संसार में सभी स्थान स्वर्ग हो सकते हैं। कौन सा स्थान है जहाँ जीव सुखी नहीं होता और कौन सा स्थान है जहाँ जीव को दुःख नहीं हो सकता। यदि किसी सुरम्य स्थान का नाम स्वर्ग हो, जैसे हिमालय पर्वत या राज-प्रासाद आदि, तो यह काल्पनिक नाम हैं इनका मुक्ति या पुनरावर्तन के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं।

यदि स्वर्ग योनि-विशेष का नाम है तो प्रश्न यह है कि यह योनि मनुष्य की योनि से निचली है या ऊंची। या मनुष्य योनि के ही अन्तर्गत राजा आदि की योनि है जिसमें सुख अधिक हो। दूसरी यह बात कि चाहे यह योनि मनुष्य की योनि से ऊंची हो चाहें नीची, इसकी गणना पुनर्जन्म सम्बन्धी योनियों के अन्तर्गत हो जायगी। और जिस प्रकार अन्य

योनियों में सिलसिला है उसी प्रकार स्वर्ग की योनि में भी होगा।

यदि स्वर्ग अवस्था विशेष का नाम है तो यह बताना चाहिये कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मुक्ति से इतर कौन सी अवस्था है क्योंकि जीव इन्हीं अवस्थाओं में रहता है। मुमुक्षुत्व और जीवन मुक्ति भी इन्हीं के अन्तर्गत आ जाती है। हमारी धारणा तो यह है कि जहाँ स्वर्ग लौकिक अर्थों में नहीं आया वहाँ इससे मुक्ति से ही तात्पर्य है। और उससे लौटने का सिद्धान्त प्रचलित रहा होगा, पीछे से बौद्धमत तथा अद्वैतवाद की दार्शनिक उलझनों में पड़ कर मुक्ति और स्वर्ग के भिन्न भिन्न अर्थ हो गये। यह हमारा संकेत मात्र है। इसका अनुसन्धान करना चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद् के पहले खण्ड के आठवें अध्याय की आख्यायिका हमारी धारणा की पुष्टि करती प्रतीत होती हैं। वहाँ स्वर्ग शब्द आया है:—

अमुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेत् इति होवाच चैकितायन दाल्भ्य।

चैकिनायन दाल्भ्य से जब पूछा गया कि उस लोक (परलोक) की क्या गति है अर्थात् परलोक के पीछे क्या है तो उसने उत्तर दिया "न स्वर्गं लोकमतिनयेत्" अर्थात् स्वर्ग से आगे मत पूछो। अर्थात् यहाँ जीव की अवस्था के दो भाग

किये गये, एक यह लोक अर्थात् आवागमन का चक्र और दूसरा परलोक अर्थात् मोक्ष। इससे आगे और कोई अवस्था ही नहीं।

शिलक शालावत्य इस उत्तर से संतुष्ट नहीं होता। वह अपने साथी को आगे ले जाना चाहता है। वह चैकितायन दाल्भ्य से कहता है कि यदि इतना ही उत्तर दोगे तो तुम्हारा सिर नीचा हो जायगा। इस पर चैकितायन दाल्भ्य शिलक शालावत्य से पूछता है कि तुम्हीं बताओ कि :—

अमुष्य लोकस्य का गतिः।

उस लोक की क्या गति है?

इस पर शिलक शालावत्य उत्तर देता है—

अयं लोक इति

अर्थात् यह लोक।

तात्पर्य यह है कि मोक्ष अवस्था या परलोक या परमपद जीव की वह अवस्था नहीं है जहाँ पर जीव ठहरा रहे और आगे के लिये निश्चल हो जाय। इस लोक के पीछे परलोक और परलोक के पीछे यह लोक आते रहते हैं।

यजुर्वेद के तीसरे अध्याय का ६० वां मंत्र भी इसी सम्बन्ध में पेश किया जाता है:—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥
(यजु० ३ । ६०)

अर्थात् मैं तीनों लोकों के पिता * से प्रार्थना करता हूँ जो आनन्द प्रद और बल का दाता है। वह मुझे मृत्यु के बन्धन से इस प्रकार छुड़ा दे जैसे पका फल अपने डंठल से छूट कर (बिना कष्ट के) गिर पड़ता है। परन्तु मुझे अमृत पद से दूर न करे।' पुनरावर्त्तन सिद्धान्त के मानने वालों का कहना है कि इस मंत्र में 'अमृतात्' पद 'मुक्ति' का बोधक है। यदि मुक्ति से लौटना संभव न होता तो ऐसी प्रार्थना क्यों की जाती।

हम यहाँ शब्द प्रमाण को विश्राम देते हैं और अपने आरंभिक प्रश्न पर आते हैं। अर्थात् यदि मुक्ति अनन्त विश्राम की अवस्था है तो उसमें मनुष्य का स्वाभाविक गुण 'चरत्व' छूट जाना चाहिये। जो जीव सब जड़ पदार्थों को चरत्व दे, उसका चरत्व परम पद पर पहुँच कर क्यों नष्ट हो जाय? जो कहते हैं कि "मुक्ति में जीव आनन्द मनाता है वह वहाँ से लौट कर क्यों आवे" वह जीव को केवल भोक्ता मान बैठते हैं।

---

* त्रयाणां लोकानामम्बः पिता स्वार्थेकन् ।
(वेदान्त सूत्र वैदिकवृत्तिः स्वामि हरिप्रसाद कृत)

उसके 'कर्तृत्व' गुण को वह सर्वथा भुला देते हैं। परब्रह्म के संपर्क से कर्तृत्व गुण का भी विकास होना चाहिये था। पहले वह स्वार्थ वश कर्म करता था। जब स्वार्थ कम हुआ तो मुक्ति हुई। अब उसे पूर्ण निःस्वार्थ भाव से कर्म करना चाहिये जैसे ब्रह्म करता है। केवल भोग ही शेष रह जाना जीव की उन्नति नहीं किन्तु अवनति है।

शायद कुछ लोग कहें कि भोग नाम इन्द्रिय-जन्य सुख के भोग का है परम आनन्द के भोग को भोग नहीं कहते। परन्तु स्मरण रहे कि भोग के उपकरण और भोग में भेद है। जो पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य हैं और जो इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं उनमें भले ही भेद रहे परन्तु भोक्ता तो दोनों अवस्थाओं में जीव ही रहेगा। एक सुख क्षणिक है और दूसरा अधिक स्थायी। एक सूक्ष्म है और दूसरा स्थूल। परन्तु जीव के भोक्तृत्व में क्या भेद पड़ा?

दूसरी बात यह है कि यदि मुक्ति एक अवस्था का नाम है तो जिस अवस्था का आरम्भ हुआ उसका अन्त भी होना चाहिये। सुषुप्ति का आरम्भ और अन्त दोनों है। सुषुप्ति में भी आनन्द की छाया रहती है। परन्तु कोई पुरुष मात्रा से अधिक सो नहीं सकता। उसका कर्तृत्व गुण जो अब तक तिरोभूत सा हो गया था फिर आविर्भूत होता है और जीव को

जागृत अवस्था में आने के लिये बाधित करता है। कौन चाहता है कि उसका गुण तिरोभूत हो जाय? सुषुप्ति विश्राम के लिये है। सुषुप्ति में वह सब शक्तियां जो जागृत अवस्था में काम करते करते थक गई थीं फिर ताजा हो जाती हैं। सुषुप्ति जागृत के लिये है, जागृत सुषुप्ति के लिये नहीं। इसी प्रकार मुक्ति अवस्था में जीव की शक्तियाँ और ताजा हो जाती हैं जिनका सर्वथा निस्वार्थ भाव से अन्य जीवों के लिये प्रयोग करना चाहिये। सुषुप्ति एक अवस्था है, उसका अन्त है। मोक्ष भी एक अवस्था है उसका भी अन्त है। अवधि का प्रश्न भिन्न भिन्न है।

अब एक प्रश्न रहता है कि जीव मुक्ति से क्यों लौटे? हमारा उत्तर यह है कि अपने स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु दूसरों के उपकार के लिये। जिस प्रकार ईश्वर सृष्टि अपने लिये नहीं बनाता किन्तु उन जीवों के लिये बनाता है जिनके विकास के लिये सृष्टि की आवश्यकता है उसी प्रकार मुक्त जीव भी अपनी मुक्त अवस्था को छोड़कर अन्य जीवों के विकास में सहायता करने के लिये आते हैं। वह गुरु बनकर आते हैं शिष्य बनकर नहीं। वह अपना विकास करने नहीं आते किन्तु दूसरों के विकास में सहायता देने के लिये आते हैं। वैदिक साहित्य में योनियाँ तीन प्रकार की मानी गई हैं:—

(१) भोगयोनि जैसे पशुपक्षी।

(२) उभय योनि अर्थात् भोगयोनि और कर्मयोनि का मिश्रण जैसे मनुष्य।

(३) कर्मयोनि।

यह तीसरी कर्मयोनि उन मुक्त पुरुषों की है जो मुक्ति से लौटते हैं। उनका भोग तो परमानन्द मात्र है। उनको सांसारिक भोग की आवश्यकता नहीं। परन्तु उनको कर्म करना उन जीवों के लिये हैं जो जगत में जन्म मरण के बन्धन में पड़े हुये हैं। यह जीव वैदिक शास्त्र के अनुसार कल्प के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि में जन्म लेते हैं और अन्य जीवों को कुमार्ग से बचाकर सुमार्ग पर चलाना इनका कर्त्तव्य होता है। यह इस काम को बड़ी योग्यता से करते हैं क्योंकि उनके समस्त स्वार्थ-भाव मुक्ति से पूर्व ही भस्म हो जाते हैं और मुक्ति की अवस्था में रहके उनका आत्मा दूसरों के उपकार के लिये और सुदृढ़ हो जाता है। जगद्-गुरु होने के ऐसे ही जीव अधिकारी हैं। मुक्ति से पूर्व और मुक्ति से पीछे की अवस्था में कुछ भेद है। निज रूप से तो दोनों अवस्थायें एक सी हैं। परन्तु मुक्ति से पूर्व बन्धन की अवस्था निकट थी। अब वन्धन की अवस्था से बहुत दूर हो गये। यही विशेषता आ गई।

अब एक प्रश्न रह गया। यदि जन्म लिया तो मृत्यु अवश्य होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि मुक्त जीवों को बिना अपराध के फिर जन्म मरण का दुःख भोगना पड़ा। परन्तु नहीं। इस प्रश्न को असारता तो स्पष्ट ही है। देह-ग्रहण और देह-त्याग मात्र का नाम जन्म-मरण का दुःख नहीं है। जब जीवन-मुक्ति के पश्चात् और मुक्ति से ठीक पूर्व देह-त्याग करना होता है तो उसमें मृत्यु का दुःख नहीं होता है। देह त्याग बुरा नहीं है परन्तु मुक्ति का दुःख बुरा है। ज्ञानी पुरुष उसी प्रकार मरते हैं जैसे वेदमन्त्र के कथनानुसार पका फल वृक्ष से टूट पड़ता है। कच्चा फल तोड़ने में कुछ रस-स्राव अवश्य होता है। परन्तु पका फल वृक्ष पर रह ही नहीं सकता। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मरते समय दुःख नहीं अनुभव करते। जब जीवन मुक्त पुरुषों को देहत्याग का दुःख नहीं होता तो उन मुक्त पुरुषों को क्यों होना चाहिये जो सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुये हैं।

हाँ एक बात अवश्य है। यह है इनकी कर्म-योनि। कर्मयोनि के दो परिणाम हो सकते हैं। यदि कर्म करने में एक भी त्रुटि न हुई तो वह जीवन जीव-मुक्ति का ही काम देगा और देह-त्याग के पश्चात् फिर मुक्त-अवस्था का आरम्भ हो जायगा। यदि त्रुटि हो गई तो कर्म का बन्धन फिर आरम्भ हो

जायगा, और आगे चल कर अन्य जीवों के समान उनका भी हाल रहेगा। वह विकास की जिस सीढ़ी पर होंगे उसी के अनुसार कार्य्य होगा।

कुछ लोग कहेंगे कि यह सब कल्पना-मात्र है। इसका हमारे पास कोई उत्तर नहीं। हम आरम्भ में ही कह चुके हैं कि परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में अधिक कहना असम्भव है। हमारे विचार में शास्त्र के वाक्यों की जिस प्रकार संगति लग सकती थी वह हमने लगा दी। पाठक अपने लिये स्वयं निर्णय करलें।

तीसवाँ अध्याय

जीव-ब्रह्म सम्बन्ध

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में बहुत से मत हैं। सर्व साधारण की तो ऐसी धारणा है कि जिस प्रकार ब्रह्म समस्त सृष्टि को बनाता है उसी प्रकार जीव को भी बनाता है। ईश्वर हमारा बाप है हम उसके पुत्र हैं। यह एक सर्व-प्रचलित वाक्य है। जो लोग ईश्वर को नहीं मानते उनके लिये तो यह प्रश्न कुछ महत्व नहीं रखता। परन्तु जो जीव और ब्रह्म दोनों के अस्तित्व को मानते हैं उनके लिये इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ विचार आवश्यक है।

"ईश्वर हमारा बाप है" यह एक लौकिक उपमा है। क्या लौकिक बाप हमको बनाता है? कदापि नहीं। कोई बाप यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने अपने पुत्र पुत्रियों को बनाया है। वह तो उनके जीव और शरीर के सम्बन्ध में साधन मात्र होता है। यह तो एक मोटी सी बात है कि यदि बाप अपने बेटे का बनाने वाला होता तो उसे उसके शरीर या मस्तिष्क के भीतर का हाल भी ज्ञात होता। परन्तु

कोई बाप नहीं जानता कि उसके पुत्र के शरीर के किस किस भाग में कितनी हड्डियाँ हैं। इसके अतिरिक्त यदि लौकिक बाप को अपने पुत्र का बनाने वाला मान लें, तो ईश्वर को बाप मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि हमारे लौकिक पिता ने ही हमको बनाया है तो ईश्वर को पिता कहना निरर्थक हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि 'पिता' की उपमा से यह सिद्ध नहीं होता कि जीव का अस्तित्व पहले न था ईश्वर ने उसे उत्पन्न कर दिया।

जो लोग ब्रह्म को जीव का बनाने वाला मानते हैं वह इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे सकते कि ब्रह्म ने जीव को क्यों और किसके लिये बनाया। ब्रह्म को पूर्ण निर्दोष और आवश्यकता-शून्य बताया जाता है। यदि वस्तुतः ब्रह्म ऐसा ही है तो उसको जीव के बनाने की क्या आवश्यकता थी? यदि उसने जीव न बनाये होते तो दुःख और पाप दोनों का संसार में नाम न होता क्योंकि दुःख जीव ही भोगते हैं और पाप जीव ही करते हैं। इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर दिये जाते हैं। कोई कहता है कि ईश्वर ने अपनी प्रार्थना के लिये जीव बनाया, कोई कहता है अपनी शक्ति (कुदरत) दिखाने के लिये। कोई कहता है कि अन्य जीवों पर दया करने के लिये, कोई कहता है कि मोक्ष का सुख भोगने के

लिये। परन्तु यह संतोष-जनक उत्तर नहीं है। यदि ईश्वर अपनी प्रार्थना के लिये जीव को बनाता है तो उसका स्वार्थ पाया जाता है। यदि अपनी शक्ति दिखाने के लिये, तो भी प्रश्न होता है कि किसको दिखाने के लिये? अपने से छोटों को अपनी शक्ति दिखाना कौन बड़ी बात है? ईश्वर के बराबर या उससे बड़ा कोई है नहीं। यदि अन्य जीवों पर दया करने के लिये, तो भी वही प्रश्न है। यह कौन बुद्धिमत्ता है कि पहले पीड़ित जीवों को बनाया जाय फिर उनसे सहानुभूति करने के लिये दूसरे जीवों को। पहले रोग उत्पन्न कर दो फिर दवा करते फिरो। यदि कहो कि मोक्ष का सुख भोगने के लिये, तो भी यह कोई अच्छी बात नहीं क्योंकि मोक्ष का सुख तो विरले ही भोगते हैं, अन्य को तो दु:ख ही उठाना पड़ता है। इसलिये यह मानना कि ईश्वर ने जीव को बनाया, सुसंगत नहीं प्रतीत होता।

ईसाई और मुसलमान मानते हैं कि उनकी धर्म पुस्तकों में ईश्वर को जीव का बनाने वाला बताया है। यदि वह ऐसा मानते हैं तो मानें। उनको अधिकार है। उन्हीं के ऊपर इन प्रश्नों का उत्तरदातृत्व भी है। परन्तु हमारी धारणा यह है कि इन धर्मग्रन्थों में ईश्वर को जीव का बनाने वाला नहीं बताया गया। जहाँ कहा है कि हमने तुमको बनाया वहाँ

मनुष्य से तात्पर्य है। मनुष्य जीव नहीं किन्तु जीव और देह का संयोग है। क़ुरान शरीफ़ और होली बाइबिल में जहां आदम की उत्पत्ति का वर्णन है, वहाँ आदम के शरीर के बनाने का तो उल्लेख है परन्तु आदम के जीव के बनाने का उल्लेख नहीं। वहाँ तो केवल इतना है कि शरीर बन चुका तो ईश्वर ने अपने प्राण (Breath) या रूह को उसके भीतर फूंक दिया और आदम जीती जान हो गया। यह प्राण या रूह फूंके जाने से पहले था या नहीं यह एक सुसंगत प्रश्न है और इसका उत्तर मिलना चाहिये। यदि प्राण का अर्थ केवल वायु है तो इसके सम्बन्ध में प्याज़ के छिलकों के समान बहुत से प्रश्न उठ सकते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि चाहे ब्रह्म ने जीव को बनाया या नहीं, अब उसका उसके साथ क्या सम्बन्ध है? क्या जीव को कर्म की स्वतन्त्रता है? क्या ब्रह्म उसके कामों में हस्ताक्षेप करता है? यदि करता है तो कितना? जितने दुःख सुख संसार में जीव को भोगने पड़ते हैं उनमें कितना हाथ ईश्वर का है और कितना जीव का?

इन प्रश्नों को सुलझाने के लिये संसार के सभी दार्शनिकों ने कुछ न कुछ विधि निकाली है। कौन विधि कितनी उपयोगी है इसका निर्णय पाठक स्वयं करें।

श्रीशङ्कराचार्य जी का उत्तर यह है कि ब्रह्म और जीव में 'तादात्म्य' सम्बन्ध है। अर्थात् जीव ब्रह्म है और ब्रह्म-जीव है। इनमें कोई भेद नहीं। संसार में जो भेद भाव दीखता है वह मिथ्या है, भ्रम है। अविद्या या माया के कारण है। जीव स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव; सत्य, ज्ञान और अनन्त है। वह मायावश अपने को अशुद्ध, अबुद्ध, बद्ध अज्ञ और सान्त मान लेता है। जब इसको ज्ञान हो जाता है तो फिर यह अपने को ब्रह्म समझने लगता है। न कुछ बनता है न कोई बनाता है। यह सब समझ का फेर है।

पाश्चात्य देशों में भी इस प्रकार का विचार लोगों में प्रचलित था। अरस्तू की साक्षी है कि पाश्चात्य देशों का सबसे पहला अद्वैतवादी जेनोफ़िन (Xenophanes) था। इसका सिद्धान्त था कि "सब एक है और एक ईश्वर है"। इसके पश्चात् इलियाटिक दार्शनिकों ने भी इसी मत की पुष्टि की। पार्मेनीडीज़ (Parmenides) कहता है कि असत् से सत् उत्पन्न हो ही नहीं सकता और न सत् का असत् हो सकता है? इसलिये न कुछ बनता है न बिगड़ता है। या जो कुछ बनता बिगड़ता दिखाई देता है यह सब भ्रम है। दृश्य है तत्व नहीं। इसीका अनुयायी ज़ेनो (Zeno) हुआ है जिसका कथन था कि गति कोई तात्विक चीज़ नहीं, यह केवल भ्रम है!

इतना कहना तो सरल है परन्तु इतने मात्र से उलझन सुलझती नहीं। यदि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य है और इनसे भिन्न कोई वस्तु है नहीं तो भ्रम, अविद्या या माया कैसे उत्पन्न हो गई और वह कौन से कारण थे जिन्होंने ब्रह्म को भ्रमयुक्त होकर जीव बन जाने के लिये बाधित किया। शङ्कराचार्य जी का कहना है कि माया न सत् है न असत्। यह अनिर्वचनीय है। इसलिये इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि माया कैसे और कब उत्पन्न हुई? जो चीज़ सत् नहीं है उसके सम्बन्ध में कैसे पूछ सकते हैं कि वह कब पैदा हुई और कहाँ? परन्तु यह उलझन को सुलझाना नहीं किन्तु और अधिक बढ़ा देना है। यदि माया है ही नहीं तो उसने ब्रह्म को जीव कैसे बना दिया। यह भ्रम उत्पन्न क्यों हो गया कि मैं जीव हूँ। इस बात से तो कोई इनकार नहीं कर सकता कि लोगों को अपने जीव होने का विश्वास है। मैं स्वयं अपने को ईश्वर नहीं समझता। आप कह सकते हैं कि यह तुम्हारा भ्रम है। हो! इससे क्या? पूछना तो यह है कि मुझे यह भ्रम हुआ कैसे? मायावाद इस उलझन को सुलझा नहीं सका। इस सम्बन्ध में श्री रामानुजाचार्य का नीचे का उद्धरण पढ़ने योग्य है :—

किं चाविद्या कल्प्यस्य जीवस्य कल्पकः क इति निरूपणीयम्। न तावदविद्या। अचेतनत्वात्। नापि जीवः। आत्माश्रयदोष प्रसङ्गात्। शुक्तिकारजतादि वदविद्याकल्प्यत्वाच्च जीव भावस्य। ब्रह्मैव कल्पकमिति चेद् ब्रह्माज्ञानमेवापातम्। किं च ब्रह्माज्ञानानभ्युपगमे किं ब्रह्म जीवान पश्यति न वा। न पश्यति चेदीक्षापूर्विका विचित्र सृष्टिर्नामरूपव्याकरणमित्यादि ब्रह्मणो न स्यात्। अथ पश्यति। अखण्डैकरसं ब्रह्मानाद्यविद्यामन्तरेण जीवान पश्यतीतिब्रह्माज्ञानप्रसङ्गः॥

(श्रीभाष्य वेदान्तदर्शन २।१।१५)

अर्थात् यदि अविद्या के कारण जीवभाव की कल्पना मात्र हो जाती है तो प्रश्न यह होता है कि कल्पना करने वाला कौन है ?

अविद्या तो कल्पना कर नहीं सकती क्योंकि जड़ है।

जीव भी कल्पना नहीं कर सकता। क्योंकि आत्माश्रय दोष आवेगा। कल्पना करे तब तो जीव बने। जब जीव बना ही नहीं तो कल्पना किसने की। जैसे सीपी में चांदी की कल्पना कर ली जाती है उसी प्रकार कल्पना करने के पश्चात् तो जीव भाव उत्पन्न होता है।

यदि कहो कि कल्पना करने वाला ब्रह्म ही है तो ब्रह्म में अज्ञान आवेगा।

यदि मानो कि ब्रह्म में अज्ञान नहीं है तो प्रश्न होता है कि ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं। अगर कहो कि नहीं देखता तो शास्त्र का यह वचन कैसे बनेगा कि यह विचित्र सृष्टि ईक्षण-पूर्वक है। क्यों कहा है कि मैं नाम और रूप को बनाऊँ।

अगर कहो कि देखता है तो अखण्ड एक रस ब्रह्म अनादि अविद्या के बिना जीवों को देखता है। इससे ब्रह्म अज्ञानी हो जायगा।

फिर यदि ब्रह्म और जीव का तादात्म्य माना जाय तो ईश्वर उपासना के लिये तो कोई स्थान ही शेष नहीं रहता। बहुत से विद्वानों की राय है कि शंकर के मत में यह बहुत बड़ी त्रुटि है कि उपास्य उपासक भेद नहीं। फिर उपासना का क्या प्रश्न। मैं अपना ही उपासक नहीं बन सकता। यदि जीव वस्तुतः ब्रह्म है ही तो वह किसकी उपासना करे और किस लिये करे? अगर मुझे रस्सी में साँप की भाँति भ्रम हो गया है तो मैं किसकी उपासना करूँ कि वह मुझे इस भ्रम से छुटकारा दे। क्योंकि मैं ही तो हूँ अन्य कौन है?

श्रीशंकराचार्य जी ने इसका इलाज निकाला है। उपासना की आवश्यकता का वह भी अनुभव करते हैं। वह भी ईशोपनिषत् की इस प्रार्थना को निरर्थक नहीं समझते :—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥

अर्थात् चमकीले पात्र से सचाई का मुंह ढका हुआ है। हे ईश्वर! मुझ सत्य धर्म वाले के लिये सत्य धर्म के देखने के प्रयोजन से इस पात्र को हटा दे।

श्रीशंकराचार्य जी 'सत्य धर्माय' का अर्थ करते हैं :—

सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्। अथवा यथा भूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये।

(ईश उप० का शांकर भाष्य)

यहाँ 'सत्य धर्माय' के दो अर्थ किये। तुझ (ब्रह्म) सत्य की उपासना से जिस मेरा धर्म सत्य हो गया है उसके लिये।

या तू जो सत्य है उसकी प्राप्ति के लिये।

दोनों दशाओं में उपासना आवश्यक है। परन्तु जब जीव स्वयं ब्रह्म है तो यह उपासना का भाव कैसा? इसके

लिये शंकर का मत यह है कि उपासना व्यवहार दशा में की जाती है। परमार्थ दशा में नहीं।

श्रीशंकराचार्य जी के पास यह एक ऐसी 'रामबाण' औषधि है जिससे वह सभी रोगों की चिकित्सा करना चाहते हैं। जिस वेद मंत्र को या वेदान्त के जिस सूत्र को चाहा व्यावहारिक दशा का बता दिया।

परन्तु बहुत से विद्वान् शंकर स्वामी से सहमत नहीं होते। वह कहते हैं कि प्रथम तो कोई प्रमाण नहीं कि अमुक श्रुति व्यवहार दशा की है और अमुक परमार्थ की। दूसरे जब ब्रह्म ही माया के कारण जीव बन गया है तो यह दो दशायें ही क्यों हैं? यदि व्यवहार दशा मिथ्या है तो उसके लिये उपदेश ही क्यों? यदि सीप में चाँदी की प्रतीत मात्र होती है तो ऐसे भ्रम देखने वाले को क्यों कहो कि सुनार को बुला लाओ, इस चांदी का आभूषण बनेगा। मौलिक उलझन का कुछ भी समाधान नहीं होता।

श्रीरामानुजाचार्य्य जीव-ब्रह्म का अन्य ही सम्बन्ध बताते हैं। वह न तो जीव को ब्रह्म ही कहते हैं न ब्रह्म से पृथक् ही। उनके मत में जीव ब्रह्म का प्रकार (Mode) मात्र है। इस मत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। न्याय सिद्धांजन में विशिष्टाद्वैत की व्याख्या इस प्रकार की गई है:—

विशिष्टस्य विशिष्ट रूपेण अद्वैतम्

अर्थात् जो विशिष्ट पदार्थ है उसका विशेष रूप से अद्वैतभाव।

शायद पाठक वर्ग 'प्रकार' शब्द का अर्थ न समझे हों। प्रकार (Mode) वह है जो अपने अस्तित्व के लिये दूसरे के अस्तित्व के आश्रय हो। श्रीरामानुज ने ब्रह्म का जीव को प्रकार बताया है। प्रकार-प्रकारी भाव के तीन अर्थ हैं :—

(१) विशेषण-विशेष्य भाव (२) शरीर-शरीरी भाव (३) शेष-शेषी भाव।

विशेषण-विशेषीभाव का तात्पर्य है कि जैसे मेज़ में लम्बाई और चौड़ाई है। यह लम्बाई चौड़ाई मेज़ से अलग पदार्थ नहीं और न इनका मेज़ से तादात्म्य है। परन्तु लम्बाई और चौड़ाई मेज़ का प्रकार हैं। इसी प्रकार चित् और अचित् अर्थात् चेतन और जड़ न तो ब्रह्म हैं न ब्रह्म से अलग किन्तु ब्रह्म के प्रकार हैं। जिस प्रकार शरीरी शरीर में व्यापक है इसी प्रकार जीव में ईश्वर व्यापक है। और जिस प्रकार कारण कार्य में रहता है उसी प्रकार ब्रह्म जीव में रहता है।

स्वस्माद्‌ विभागव्यपदेशानर्हतया परमात्मन्येकीभूतात्यन्तसूक्ष्म चिदचिद्‌ वस्तु शरीरादेकस्या देवा द्वितीयान्निरतिशयानन्दात्‌ सर्वज्ञात्‌ सर्वशक्तेः सत्य संकल्पाद्‌ ब्रह्मणो नामरूपविभागार्हस्थूल-चिदचिद्‌ वस्तुशरीरतया बहुभवनसंकल्पपूर्वको जगदाकारेण परिणामः श्रूयते ॥

(श्री—भाष्य वेदान्त दर्शन १ । ४ । २७)

अर्थात्‌ उस एक आनन्द स्वरूप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्‌, सत्य संकल्प ब्रह्म से जिसका अत्यन्त सूक्ष्म चित्‌ और अचित्‌ शरीर है स्थूल चित्‌ और अचित्‌ शरीर वाला संसार बनता है। सत्‌ ब्रह्म से सत्‌ जगत्‌ उत्पन्न होता है। कारण सत्‌ अर्थात्‌ कारण ब्रह्म में चित्‌ और अचित्‌ रहते हैं परन्तु उनमें विभाग व्यपदेशानर्हता रहती है अर्थात्‌ वे इस योग्य नहीं होते कि उसमें व्यक्तीकरण हो सके। वह व्यक्त नहीं है अव्यक्त है। परन्तु कार्य्य ब्रह्म या कार्य्य सत्‌ में चित्‌ और अचित्‌ व्यक्त होकर उनका नाम और रूप हो जाता है।

स्वयमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दैकस्वभावोऽत्यन्तसूक्ष्मतयासत्कल्पः स्वलीलोपकरण चिदचिद्वस्तु शरीरतयाः तन्मय परमात्मा विचित्रानन्तक्रीडनकोपादित्सया स्वशरीरभूत

प्रकृति पुरुष समष्टि परम्परया महाभूत पर्यन्तमात्मानं तत् तच्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनः सत् त्यच्छब्दवाच्य विचित्र चिदचिन् मिश्र देवादिस्थावरान्तजगद्रूपो भवत् ॥

(वेदान्त श्री भाष्य १।४।२७)

अर्थात् ब्रह्म अपरिच्छन्न है, आनन्द स्वभाव है। चित् और अचित् उसका शरीर है। जब वह लीला करता है तो परिणाम रूप से सब जड़ और चेतन जगत् बन जाता है।

इस प्रकार रामानुज स्वामी ब्रह्म और जीव में एकता न मानते हुये भी अद्वैत की सिद्धि करते हैं। चित्-अचित् और ब्रह्म तीनों किस प्रकार सम्बद्ध हैं यह बात अगले उद्धरण से स्पष्ट हो जायगी :—

(१) स्थूल सूक्ष्म चिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत् ।

(२) सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्मैव कारणमिति ब्रह्मोपादानत्वेपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितो-र्ब्रह्मणश्च स्वभावासंकरोप्युपपन्नतरः ।

(३) यथा शुक्ल रक्तकृष्ण तन्तुसंघातोपादानत्वेपि चित्रपटस्य तत् तत् तन्तु प्रदेशे एव शौक्ल्यादि-

सम्बन्धः इति कार्य्यावस्थायामपि न सर्वत्र वर्ण संकरः ।

(४) तथा चिदचिदीश्वर संघातोपादानत्वेपि जगतः कार्य्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्व नियन्तृत्वाद्यसंकरः ।

(५) तन्तूनां पृथक् स्थिति योग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित् संहतानां कारणत्वं कार्य्यत्वं च ।

(६) इह तु सर्वावस्थावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन चिदचितोस्तत् प्रकारतयैव पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परम पुरुषः सर्वदा सर्व शब्द वाच्य इति विशेषः । स्वभाव भेदस्तदसंकरश्च तत्र चात्र च तुल्यः ।

(श्री भाष्य १ । १ । १)

(१) जगत् का उपादान ब्रह्म है। कौन सा ब्रह्म ? वह ब्रह्म जिसका सूक्ष्म चित् और अचित् प्रकार कारण है और स्थूल चित् और अचित् प्रकार कार्य्य है।

(२) चित् और अचित् (चेतन और जड़) ब्रह्म का शरीर है। यह मिलकर जगत् का कारण है। यह तीनों का संघात ही जगत् का उपादान है (केवल ब्रह्म नहीं)।

ऐसा होने पर भी जड़ और चेतन का स्वभाव ब्रह्म के स्वभाव से नहीं मिलता (असंकर)।

(३) इसके लिये दृष्टान्त देते हैं। सफेद, लाल और काले धागों से मिलकर चित्रपट बनाया। तो जहाँ जहाँ वह धागे हैं वहीं वहीं सफ़ेदी, लाली और कालापन भी है। समस्त पट को सफेद, लाल या काला नहीं कह सकते।

(४) उसी प्रकार जड़ और चेतन और ईश्वर का संघात जगत् का उपादान है इसलिये जब जगत् बन जाता है तब भी भोक्ता और भोग्य और नियन्ता के स्वभावों में मेल नहीं होता।

(५) धागे अलग अलग थे। उनमें स्वयं न कारणत्व था न कार्यत्व। पट बनाने वाले पुरुष की इच्छा ने उनको मिला दिया इसलिये उनसे कार्य्य रूपी पट बन गया और वे कारण कहलाये। इसलिये उन धागों में कारणत्व और कार्य्यत्व की योग्यता पुरुष ने दी।

(६) इसी प्रकार जड़ और जीव परम पुरुष के प्रकार हैं। और जड़ और जीव प्रकार वाले परम पुरुष के लिये ही 'सर्व' शब्द का प्रयोग होता है। यह विशेष है।

(७) धागों के दृष्टान्त और जड़ तथा चेतन के दार्ष्टान्त दोनों में ही स्वभाव भेद बना रहता है। उनमें संकरता या मेल नहीं होता।

जो बात साधारणतया समझ में न आ सकती थी उसे धागों के दृष्टान्त ने स्पष्ट कर दिया। रामानुज स्वामी का तात्पर्य है कि कारण अवस्था में भी चित् और अचित् ब्रह्म का शरीर है और कार्य्य अवस्था में भी। जगत् का कारण केवल परम पुरुष नहीं किन्तु चित् और अचित् और परम पुरुष मिलकर हैं। इसी को "सर्व" या सब कहते हैं। जिस प्रकार काले पीले और लाल धागे अपना स्वभाव कपड़े के केवल उन्हीं भागों को देते हैं जहाँ वे हैं, कुल कपड़ा काला पीला या लाल नहीं होता इसी प्रकार चित् और अचित् और ब्रह्म के संघात से बनी हुई सृष्टि में जड़ता चेतनता आदि अलग अलग पाये जाते हैं।

परन्तु इस दृष्टान्त ने जहाँ रामानुज स्वामी के मंतव्य को स्पष्ट किया वहाँ उलझन को और उलझा दिया। वस्तुत: प्रकार शब्द का अर्थ हमारी समझ में नहीं आया। जीव को ब्रह्म का शरीर कहने से क्या तात्पर्य? क्या यह आलंकारिक भाषा है या तात्विक? क्या जिस प्रकार मेरा अपना शरीर है जिसके लिये गोतम ने न्याय दर्शन में कहा है कि :—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयशरीरम् ।

उसी अर्थ में 'मैं' भी ईश्वर का शरीर हूँ। या केवल व्याप्य व्यापक अर्थ में।

यदि वास्तविक अर्थ में 'जीव' ब्रह्म का शरीर है तो उसमें दोष आवेगा। और जीव का कर्तृत्व और चेतनत्व भी नष्ट हो जावेगा। क्योंकि स्वतंत्र क्रिया तथा निर्वचन अधिकार होने के कारण ही शरीर में जीव मानने की आवश्यकता पड़ी। यदि व्याप्य व्यापक अर्थ मात्र में 'शरीर और शरीरी' का प्रयोग हुआ है तो ठीक है। परन्तु 'प्रकार' (Mode) शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता।

अब जरा संकर भाव पर विचार कीजिये। श्रीरामानुज स्वामी कहते हैं कि जड़ और जीव ब्रह्म के प्रकार तो हैं, परन्तु स्वभावों में संकरता नहीं होती। क्यों? 'गाय' पशु का प्रकार मात्र है। क्योंकि गोत्व में पशुत्व पाया जाता है। गोत्व और पशुत्व में संकरता नहीं है। यदि स्वभाव भिन्न भिन्न थे और भिन्न भिन्न रहेंगे तो जीव को ब्रह्म का प्रकार मात्र मानना कभी ठीक नहीं। श्रीरामानुजाचार्य जी ने द्वैतवाद का खण्डन किया है परन्तु बिना द्वैतवाद के यह उलझन सुलझती नहीं। केवल शब्दों से काम नहीं चलता।

इसी के सम्बन्ध में एक और बात पर कुछ प्रकाश पड़ना चाहिये। सर्वसाधारण में यह बात प्रचलित है कि जीव ईश्वर का अंश है। वेदान्तदर्शन में भी इसका उल्लेख आया है:—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकित-वादित्वमधीयत एके।

(वेदन्त २।३।४२)

इस 'अंश' के अर्थ पर विचार करना है।

श्रीशंकराचार्य जी कहते हैं:—

अंश इवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशःसंभवति।

अर्थात् यहाँ "अंश" का तात्पर्य है "अंश के समान"। क्योंकि जो चीज़ अवयव रहित है उसके अंश नहीं हो सकते।

श्री रामानुज स्वामी लिखते हैं।

नानात्वव्यपदेशात्। अन्यथा च। एकत्वेन व्यपदेशात्।

अर्थात् ब्रह्म और जीव में समानता भी है और भेद भी है।

अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके। ब्रह्मदाशा, ब्रह्म दासा ब्रह्मेमेवितवः। (आथ० ब्र० सूक्त) इत्याथर्वणिका

ब्रह्मणो दाश कितवादित्वमप्यधीयते। ततश्च सर्वजीव व्यापित्वेनाभेदो व्यपदिश्यत इत्यर्थ।

अर्थात् दाश (कहार) और कितव (जुआरियों) को भी 'ब्रह्म' कहकर पुकारा है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म जीवों में व्यापक है इसीलिये जीव को ब्रह्म का अंश कहा है।

तात्पर्य यह है कि जीव ब्रह्म का उस अर्थ में अंश नहीं है जिस अर्थ में लोग लिया करते हैं। प्राय: 'अंश' शब्द के इस प्रयोग में बहुत कुछ भ्रम फैला हुआ है इसी लिये व्यास जी को इस सम्बन्ध में एक सूत्र बनाना पड़ा।

कुछ लोग समझते हैं कि जो सम्बन्ध समुद्र का विन्दु से है वही ब्रह्म का जीव से है। परन्तु समुद्र का जल विन्दुओं का समूह मात्र है। जीवों के समूह को ब्रह्म नहीं कहते। इस लिये यह उपमा भी पूरी नहीं घटती केवल महत्व और लघुत्व दर्शाने के लिये तो कहा जा सकता है। अर्थात् ब्रह्म समुद्र के समान महान् है और जीव विन्दु के समान छोटा है।

एक बात तो स्पष्ट है। वह यह कि जीव बहुत से हैं और अल्प हैं। और असंख्य होने से भिन्न भिन्न भी हैं। इस भिन्नता को दूर करने के लिये शंकर स्वामी ने माया का सिद्धान्त निकाला। इसी के लिये रामानुज स्वामी ने 'प्रकार' शब्द का आविष्कार किया। परन्तु भिन्नता की व्याख्या उन दोनों प्रकार

से नहीं होती। इसलिये मानना पड़ता है कि जहाँ ब्रह्म की व्यापक सत्ता है वहाँ जीवों की व्याप्य सत्ता भी है। जीव की अलग सत्ता मानना से यह तात्पर्य नहीं कि जीव किसी अन्य स्थान में है और ब्रह्म अन्य स्थान में। या इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है, या इन दोनों में कोई सादृश्य नहीं है। ब्रह्म और जीव में भेद भी है और अभेद भी। इतना सभी को मानना पड़ता है। परन्तु प्रश्न यह है कि भेद किस अपेक्षा से और अभेद किस अपेक्षा से। सर्वथा भेद मानना या सर्वथा अभेद मानना नहीं बन सकता। यदि मायोपहित ब्रह्म का नाम जीव माना जाय तो भी कुछ न कुछ भेद हो गया। यदि जीव को ब्रह्म का 'प्रकार' माना गया तो भी भेद हो गया क्योंकि प्रकार और प्रकारी एक नहीं। इसलिये 'भेद' और 'अभेद' शब्दों को लेकर जो सम्प्रदाय स्थापित हुए हैं उनसे कुछ सत्यता का पता नहीं चलता। श्रीनिम्बार्क स्वामी ने "भेदाभेद" या 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त स्थापित किया है। महन्त श्री स्वामी सन्तदास जी ब्रजविदेही ने अभी उनके वेदान्त भाष्य का अनुवाद निकाला है वह भूमिका में कहते हैं:—

"भेदाभेद सिद्धान्त यह है कि, दृश्यमान जगत् और जीव दोनों ही मूलतः 'ब्रह्म' हैं; किन्तु जगत् और जीव ही तक उसकी सत्ता पर्याप्त नहीं है; अपितु इन दोनों को अतिक्रमण

करके भी उसकी सत्ता है। यह अतीत स्वरूप ही जगत् का मूल है उपादान कारण है। जगत् और जीव ब्रह्म के अंश मात्र हैं"।

यदि इस उद्धरण के वाक्यों को अलग अलग करके इसके भावों का विश्लेषण किया जाय तो अर्थ स्पष्ट नहीं होता। क्योंकि प्रथम तो जीव को "मूलतः ब्रह्म" कहने का क्या अर्थ ? क्या ब्रह्म से जीव बनता है जैसे मूल से वृक्ष निकलता है ? क्या जीव पहले न था और फिर बन गया ? फिर इस वाक्य का क्या अर्थ कि 'उसकी सत्ता' जीव तक ही "पर्य्याप्त नहीं है" ? जब हम कहते हैं कि ब्रह्म की सत्ता जीव तक भी है और उससे परे भी है तो इसका तात्पर्य क्या है ? यही न कि ब्रह्म जीव भी है और उससे अधिक भी कुछ। ऐसी दशा में जीव के दोषों से ब्रह्म कैसे बच सकेगा ?

यह झमेले क्यों हैं ? केवल इसलिये कि स्पष्ट सिद्ध द्वैत को किसी प्रकार अद्वैत सिद्ध कर दिया जाय। यह अद्वैत सिद्ध तो होता नहीं। हाँ विचित्र २ शब्द योजना द्वारा इसको आरोपित करने की चेष्टा की जाती है। हमको अद्वैत से घृणा नहीं। परन्तु दो अलग अलग सत्ताओं को एक मानने मात्र से क्या लाभ ? एक अर्थ में अद्वैतवाद ठीक ही है अर्थात् ब्रह्म एक ही है दो नहीं। यदि इसी को 'द्वैताद्वैत'

सिद्धान्त कहो तो कुछ हानि नहीं। परन्तु ऐसा द्वैताद्वैत तो सब चीज़ों पर लागू हो सकता है। इससे लाभ ही क्या ?

श्री रामानुजाचार्य ने जीवों के बहुत्व का खण्डन इन शब्दों में किया है—

(१) द्वैतवादिनापि बद्धमुक्तव्यवस्था दुरुपपादा ।

(२) अतीतानां कल्पानामानन्त्यात् । एकैकस्मिन् कल्प एकैकमुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसम्भवादमुक्तानुपपत्तेः ।

(३) अनन्तत्वादात्मनाममुक्ताश्च सन्तीति चेत् । किमिदमनन्तत्वम् ।

(४) असंख्येयत्वमिति चेन्न । भूयस्त्वादल्पज्ञैरसंख्येयत्वेपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य संख्येया एव ।

(५) तस्याप्यशक्यत्वे सर्वज्ञत्वं न स्यात् ।

(६) आत्मनां निःसंख्येयत्वादीश्वरस्याविद्यमानसंख्यावेदनाभावो नासार्वज्ञ्य मावहतीति चेन्न । भिन्नत्वे संख्याविधुरत्वं नोपपद्यते ।

(७) आत्मानः संख्यावन्तो भिन्नत्वान् माष सर्षप घट पटादिवत् ।

(८) भिन्नत्वे चात्मनां घटादिवज्जडत्वमनात्मत्वं क्षयित्वं च प्रसज्यते ।

(९) ब्रह्मणश्चानन्तत्वं न स्न्यात् । अनन्तत्वं नाम परिच्छेद रहितत्वम् ।

(१०) भेद्वादे च वस्त्वन्तराद्ध विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः परिच्छेदरहितत्वं न शक्यते वक्तुम् ।

(११) वस्त्वन्तर भाव एव हि वस्तुतः परिच्छेदः ।

(१२) वस्तुतः परिच्छिन्नस्य देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नत्वं न युज्यते ।

(१३) वस्त्वन्तराद्ध विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव हि घटादयो देशतः कालतश्च परिच्छन्ना दृष्टाः ।

(१४) तथा सर्वे चेतना ब्रह्म च वस्तुतः परिच्छिन्ना देशकालाभ्यामपि परिच्छद्यन्ते ।

(श्री भाष्य २ । १ । १५)

(१) द्वैतवाद में बद्ध मुक्त अवस्था नहीं बनती ।

(२) क्योंकि बीते हुये कल्प तो अनन्त हैं। एक एक कल्प में एक एक की मुक्ति भी होगी तो कोई अमुक्त बचेगा ही नहीं। क्योंकि मुक्ति तो सब की हो सकती है।

(३) अगर कहो कि आत्मा अनन्त हैं इसलिये अमुक्त रहेंगे ही तो प्रश्न होता है कि अनन्तत्व का अर्थ क्या ?

(४) अगर कहो कि अनन्त का अर्थ है असंख्येत्व, अर्थात् गिनती में नहीं आते। तो चाहे अल्पज्ञ लोग गिन न सकें सर्वज्ञ ईश्वर अवश्य ही गिन लेगा।

(५) यदि ईश्वर भी नहीं गिन सकता तो सर्वज्ञ कैसा ?

(६) अगर कहो कि आत्मा असंख्य हैं। ईश्वर उनको असंख्य ही जानता है। जो चीज़ जैसी हो उसको वैसा ही जानना सर्वज्ञ होने में कुछ विघ्न नहीं डालता तो भी नहीं बनता। क्योंकि जो चीजें भिन्न भिन्न हैं वह असंख्य नहीं हो सकतीं।

(७) यदि असंख्य आत्मा उसी प्रकार हों जैसे उर्द, सरसों या घड़ा या कपड़े होते हैं।

(८) तो आत्माओं के भिन्न होने के कारण घड़े आदि के समान आत्मा भी जड़ और क्षय को प्राप्त हो जावेगा।

(९) ब्रह्म भी अनन्त न रहेगा। क्योंकि अनन्तत्व का अर्थ है कि परिच्छेद न हो।

(१०) भेदवाद में ब्रह्म दूसरी वस्तुओं से विलक्षण हुआ तो उसमें परिच्छेद अवश्य होगा।

(११) परिच्छेद का अर्थ ही यह है कि दूसरी वस्तु भी हो।

(१२) जो वस्तुतः परिच्छिन्न है वह देश और काल की अपेक्षा से भी परिच्छिन्न ही रहेगा।

(१३) घड़े आदि वस्तुतः परिच्छिन्न होने से ही देश और काल से भी परिच्छिन्न होते हैं।

(१४) इसी प्रकार सब चेतन और ब्रह्म भी वस्तुतः परिच्छिन्न होने से देश और काल की अपेक्षा से भी परिच्छिन्न होंगे।

रामानुज स्वामी ने यहाँ कई बातें पहले कल्पित करके ही खण्डन किया है। जैसे सब मुक्त हो जायं तो अमुक्त कौन रहे? हम 'पुनरावर्तन' नामक अध्याय में दिखा चुके हैं कि मुक्ति की अवधि होती है और उसके पश्चात् मुक्त जीव भी लौटते हैं।

दूसरी बात यह कि जो चीजें भिन्न हैं वह असंख्य नहीं हो सकतीं। यह भी कल्पना मात्र है। इसके लिये कोई प्रमाण नहीं। यहाँ 'असंख्य' और 'अनन्त' शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थों को मिलाकर गड़बड़ कर दी है। अनन्त शब्द कई अर्थों में आता है। कहीं कहीं 'असंख्य' को भी 'अनन्त'

कहते हैं। परन्तु देश की अपेक्षा से जिसका अन्त न हो वह भी अनन्त कहलाता है। ऐसे को असंख्य नहीं कह सकते। 'असंख्यत्व' और 'भिन्नत्व' में परस्पर विरोध नहीं।

यह कहना भी ठीक नहीं कि जो चीज़ घड़े आदि के समान भिन्न भिन्न है वह नाशवान भी है। एक बात में समानता होने से सब में समानता कैसे हो सकती है?

न यह कहना ठीक है कि दूसरी चीज़ों की सत्ता मात्र से ब्रह्म परिच्छिन्न हो जायगा, क्योंकि ब्रह्म व्यापक है। वेद में ब्रह्म की आकाश से उपमा दी गई है। आकाश दूसरी चीज़ों में व्यापक है। वे परिच्छिन्न हैं। परन्तु उनके परिच्छिन्न होने से आकाश परिच्छिन्न नहीं हो जाता। यदि वे परिच्छिन्न न होतीं तो आकाश व्यापक कैसे होता? श्रीरामानुजाचार्य जीव और ब्रह्म में संकरता नहीं मानते। इसलिये यदि यह आक्षेप द्वैतवादियों पर लागू होता है तो उन पर भी उतना ही लागू होता है।

अब एक प्रश्न रहता है। यदि जीवों की ब्रह्म से अलग सत्ता है तो इनमें सम्बन्ध क्या है?

हम ऊपर कह चुके हैं कि देश और काल की अपेक्षा ब्रह्म और जीव में भेद नहीं। परन्तु जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ। जीव भोक्ता है और ब्रह्म भोक्ता नहीं। जीव

और ब्रह्म में एक विचित्र आकर्षण शक्ति है। ब्रह्म जीव पर दया करता है और जीव बिना ब्रह्म के आनन्दित नहीं हो सकता। इसीलिये जीव में एक आन्तरिक प्रवृत्ति होती है कि वह ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उत्सुक हो। यह प्रवृत्ति उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति है। इसकी प्रेरणा से सान्त जीव अनन्त ब्रह्म की ओर दौड़ता है और इसी दौड़ में उसे आनन्द मिलता है। छान्दोग्य उपनिषत् में कहा है :—

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति

(छान्दोग्य ७।२३।१)

अर्थात् अनन्त में सुख है अल्प में सुख नहीं।

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को वेदों में अनेक उपमाओं से दिखाया गया है। जैसे :—

(१) स नः पितेव सूनवे।

(ऋ० १।१।९)

वह हमारे लिये उसी प्रकार दयालु है जैसे पुत्र के लिये पिता।

(२) तमित् सखित्व ईमहे।

(ऋ० १।१०।६)

हम सत्यापन के लिये ईश्वर से प्रार्थी हैं।

(३) त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता।

(ऋ० ८। ९८। ११)

हे प्रभो! तुम हमारे पिता भी हो और माता भी।

(४) इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षाणो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

(ऋ० ७। ३२। २६)

हे ईश्वर हमारे कामों को भरपूर कर जैसे पिता पुत्रों को करता है। हे उपास्य देव! हमारे इस मार्ग में हमको शिक्षा दे कि हम प्रकाश को प्राप्त हों।

(५) स नो बन्धुः।

(यजुर्वेद ३२। १०)

वह हमारा सम्बन्धी है।

(६) एक इत् राजा।

(यजुर्वेद २३। ३)

वही हमारा राजा है।

त्वमस्माकं तव स्मसि ।

(ऋ० ८ । ९२ । ३२)

तू हमारा है और हम तेरे हैं ।

य [illegible]म्बन्ध की पराकाष्ठा है । यहाँ सब उपमायें समाप्त हो [illegible]ती हैं । इससे अधिक क्या कहना चाहिये समझ में नहीं आता ।